PS-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

राजनीति विज्ञान के आधार

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

राजनीति विज्ञान के आधार

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय ,
कोटा (राजस्थान)

संयोजक /सदस्य

संयोजक

डॉ. अशोक शर्मा
सह-आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

सदस्य

1. **प्रोफेसर एम. पी. दुबे**
   अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
   इलाहबाद विश्वविद्यालय, इलाहबाद
2. **प्रोफेसर अरुण चतुर्वेदी**
   सेवानिवृत आचार्य
   मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर
3. **प्रोफेसर अनाम जैतली**
   आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
4. **डॉ. एस. एन. जैन**
   सह-आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
5. **डॉ. लीला राम गुर्जर**
   सह- आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
6. **डॉ. मंजू सिंह**
   सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
7. **डॉ. फूल सिंह गुर्जर**
   व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़
8. **डॉ. उमेश शर्मा**
   व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग
   राजकीय एम. एस.जे. महाविद्यालय, भरतपुर

सम्पादक तथा पाठ लेखन

संपादक

प्रोफेसर एम. पी. दुबे
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहबाद विश्वविद्यालय, इलाहबाद

पाठ लेखक		इकाई संख्या
• **डॉ. उमेश शर्मा** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर**	-	1
• **डॉ. निर्भय सिंह** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर**	-	2
• **डॉ. मनोज कुमार सिंह** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर**	-	3
• **डॉ. राजदुलारी माथुर** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर**	-	4
• **डॉ. गीता चतुर्वेदी** सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग **राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**	-	5
• **डॉ. अनूप श्रीवास्तव** व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग **राजकीय महाविद्यालय, अजमेर**	-	6

- **डॉ. मंजू सिंह**
  सहायक आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग - 7,8
  राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
- **डॉ. बी. एल. सैनी**
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग - 9
  राजकीय महाविद्यालय, बूंदी
- **प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच**
  कुलपति - 10
  वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
- **डॉ. पी. डी. जांगिड़**
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग - 11
  राजकीय महाविद्यालय, सांभर
- **डॉ. रूपा मंगलानी**
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग - 12,15
  राजकीय महाविद्यालय, कोटपुतली
- **डॉ. सरोज देवी**
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग - 13
  राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर
- **डॉ. राधा किशन**
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग - 14
  राजकीय महाविद्यालय, सांभर
- **डॉ. हरवीर सिंह**
  व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग - 16
  राजकीय एम. एस. जे. महाविद्यालय, भरतपुर

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो. (डॉ.) एम. के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक (अकादमिक)	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	संकाय विभाग	पाठ्यक्रम सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन -पुनः मुद्रण: अगस्त, 2012 **ISBN: 13/978-81-8496-088-4**

इस सामग्री के किसी भी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा (राजस्थान)

अनुक्रमणिका

इकाई-1:	राजनीति विज्ञान- परंपरागत और आधुनिक दृष्टिकोण	8–25
इकाई-2:	राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से संबंध	26–42
इकाई-3:	व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद	43–61
इकाई-4:	राजनीतिक दल एवं दवाब समूह	62–80
इकाई-5:	शासन के अंग व उनके कार्य	81–100
इकाई-6:	राजनीतिक व्यवस्था	101–112
इकाई-7:	राजनीतिक विकास	113–128
इकाई-8:	राजनीतिक आधुनिकीकरण	129–142
इकाई-9:	लोकतन्त्र व अधिनायक तंत्र	143–161
इकाई-10:	न्याय का सिद्धान्त (जान राल्स)	162–178
इकाई-11:	विधि का शासन व संविधानवाद	179–192
इकाई-12:	प्रतिनिधित्व के सिद्धांत	193–204
इकाई-13:	प्रत्यायवाद व अराजकतावाद	205–222
इकाई-14:	उदारवाद, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण	223–251
इकाई-15:	मार्क्सवाद	252–265
इकाई-16:	लोकतन्त्र समाजवाद	266–280

प्रस्तावना

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा द्वारा कला संकाय में स्नातक स्तर पर प्रथम वर्ष के विद्यार्थियों के लिये राजनीति विज्ञान विषय के प्रथम प्रश्न- पत्र के अंतर्गत "राजनीति विज्ञान के आधार" पुस्तक, राजस्थान के अन्य विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के समकक्ष विशेषत दूरस्थ शिक्षा माध्यम में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिये वैज्ञानिक विधि से, स्वमूल्यांकन पद्धति को आधार बनाकर तैयार की गयी है।

जहाँ, समसामयिक वैश्वीकरण के इस युग में शिक्षा के स्तर में उतरोत्तर वृद्धि हो रही है , वही राजनीति विज्ञान का एक अध्ययन विषय के रूप में तीव्र गति से विकास हो रहा है, राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियाँ समाविष्ट हो रही हैं। इसलिये, राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों को प्रारम्भिक जानकारी के तौर पर इन नवीन प्रवृत्तियों से सामान्य रूप से परिचित होना आवश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में राजनीति विज्ञान विषय को अध्ययनतन बनाये रखने को प्रमुखता प्रदान करते वर्तमान परिदृश्य में उभरती हुयी नवीन प्रवृत्तियों यथा लोकतन्त्र, राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, न्याय के सिद्धांत, संविधानवाद, उदारवाद, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण, का समावेश किया गया है। प्रत्येक इकाई की संरचना और उद्देश्यों को इकाई के प्रारम्भ में स्थान दिया गया है, पुस्तक लेखन में भारत सरकार द्वारा प्रकाशित वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली का उपयोग किया गया है।

पुस्तक के आगामी संस्करण हेतु सुझाव स्वागत योग्य है। इन सुझावों से पुस्तक के उन्नयन में सहयोग प्राप्त होगा।

इकाई - 1

राजनीति विज्ञान - परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 राजनीति विज्ञान : परम्परागत दृष्टिकोण

1.2.1 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

1.2.2 राजनीति विज्ञान : क्षेत्र

1.2.3 राजनीति विज्ञान : विशेषताऐं

1.3 राजनीति विज्ञान : आधुनिक दृष्टिकोण

1.3.1 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवम् परिभाषा

1.3.2 राजनीति विज्ञान : क्षेत्र

1.3.3 राजनीति विज्ञान : विशेषताऐं

1.4 तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

1.5 सारांश

1.6 अभ्यास प्रश्न

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे:

- राजनीति विज्ञान के अर्थ व क्षेत्र।
- राजनीति विज्ञान का परम्परागत दृष्टिकोण एवं इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वैज्ञानिकता पर बल देने वाला आधुनिक परिप्रेक्ष्य; तथा
- उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों में अंतर एवम् इनकी विशेषताएं।

1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान का उद्भव अत्यन्त प्राचीन है। यूनानी विचारक अरस्तू को राजनीति विज्ञान का पितामह कहा जाता है। यूनानी चिन्तन में प्लेटों का आदर्शवाद एवम् अरस्तू का बुद्धिवाद समाहित है। अरस्तू मानव को स्वभावत: सामाजिक प्राणी मानता है। उसकी व्यक्तिगत उन्नति सामाजिक जीवन पर ही आश्रित होती है। समाज के बिना मनुष्य का वह महत्व नहीं होता जो उसका समाज के एक अंग के रूप में होता है। मनुष्य के पारस्परिक संबंध विभिन्न प्रकार के होते है। उन्हीं के आधार पर अनेक सामाजिक शास्त्रों का विकास हुआ हैं उदाहरणार्थ मनुष्य के सामाजिक संबंधों पर समाज शास्त्र, नैतिक संबंधों को लेकर नीतिशास्त्र और आर्थिक

संबंधों को लेकर अर्थशास्त्र का विकास हुआ है उसी प्रकार समाज में रहते हुये मानव के राजनीतिक संबंधों के अध्ययन हेतु राजनीति शास्त्र का उदय हुआ है।

राजनीतिशास्त्र या राजनीति विज्ञान अत्यन्त प्राचीन विषय है। प्रारंभ में इसे स्वतंत्र विषय के रूप में नहीं स्वीकारा गया। राजनीति विज्ञान का अध्ययन नीतिशास्त्र, दर्शन शास्त्र, इतिहास, एवं विधि शास्त्र आदि की अवधारणाओं के आधार पर ही करने की परम्परा थी। आधुनिक समय में इसे न केवल स्वतंत्र विषय के रुप में स्वीकारा गया अपितु सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भो में इसका पर्याप्त विकास भी हुआ। राजनीति विज्ञान का अध्ययन आज के सन्दर्भ में पहले की अपेक्षा एक ओर जहां अत्यधिक महत्वपूर्ण है वहीं दूसरी ओर वह अत्यन्त जटिल भी है। राजनीति विज्ञान का महत्व इस तथ्य से प्रकट होता है कि आज राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन राष्ट्रीय एवम् अन्तर्राष्ट्रीय-दोनों प्रकार की राजनीति को समझने के लिये आवश्यक है। प्रक्रिया के अध्ययन से ही वास्तविक राजनीति एवं उनके भीतर अवस्थित तथ्यों का ज्ञान संभव है। स्पष्ट है, राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन व विश्लेषण राजनीति विज्ञान द्वारा ही हो सकता है और राजनीतिक घटनाओं को उसी के द्वारा व्यापक सन्दर्भ प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से आज राजनीति विज्ञान, राजनीति व राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति समझ उत्पन्न करने में अधिक सक्षम है।

राजनीति विज्ञान की जटिलता उनके अतिव्यापी रूप व उनसे उत्पन्न स्वरूप एवं प्रकृति से जुड़ी हुई है। आज राजनीति विज्ञान 'राजनीतिक' व गैर राजनीतिक दोनों प्रकार के तत्वों से सम्बंधित है। राजनीतिक तत्व प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक प्रक्रिया को संचालित करते है और इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य सरकार, सरकारी संस्थाओं, चुनाव प्रणाली व राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। गैर राजनीतिक तत्व अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक प्रक्रिया को चलाने में योगदान देते हैं और इस कारण राजनीति की सही समझ इनको समन्वित करके ही प्राप्त की जा सकती है। इसी उद्धेश्य से राजनीतिक अध्ययन में समाज, अर्थव्यवस्था, धर्म, संस्कृति, भूगोल, विज्ञान व तकनीकी, मनोविज्ञान व इतिहास जैसे सहयोगी तत्वों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है।

यूनानी विचारकों के समय से लेकर आधुनिक काल तक के विभिन्न चिन्तकों, सिद्धान्तवेत्ताओ और विश्लेषकों के योगदानों से राजनीति विज्ञान के रूप, अध्ययन सामग्री एवं उसकी परम्पराएँ समय-समय पर परिवर्तित होती रही हैं तदनुरूप इस विषय का निरन्तर विकास होता रहा हैं। इस विकास क्रम में राजनीति विज्ञान के अध्ययन के सम्बन्ध में दो प्रमुख दृष्टिकोणों का उदय हुआ है प्रथम परम्परागत दृष्टिकोण एवं द्वितीय-आधुनिक दृष्टिकोण। राजनीति विज्ञान की समग्र समझ हेतु दोनों दृष्टिकोणों का अध्ययन आवश्यक है। इसकी परिभाषा एवं विषय वस्तु को व्यापक सन्दर्भों में देखा व परखा जा सकता है-पारम्परिक या परम्परागत एवम् आधुनिक काल क्रम की जटिलताओं में न जाते हुये यहां केवल यह स्पष्ट करना पर्याप्त होगा कि पारम्परिक या परम्परागत दृष्टिकोण राज्य-प्रधानता का परिचय देता है जबकि आधुनिक दृष्टिकोण प्रक्रिया प्रधानता का राजनीति विज्ञान के अर्थ एवं क्षेत्र को स्पष्ट करने दोनों हेतु दृष्टिकोणों का पृथक- पृथक विवेचन किया जा रहा है।

1.2 राजनीति विज्ञान : परम्परागत दृष्टिकोण

ईसा पूर्व छठी सदी से 20 वीं सदी में लगभग द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक जिस राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रचलन रहा है, उसे अध्ययन सुविधा की दृष्टि से परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण कहा जाता है। इसे आदर्शवादी या शास्त्रीय दृष्टिकोण भी कहा जाता है।

परम्परागत राजनीतिक सिद्धांत के निर्माण व विकास में अनेक राजनीतिक विचारकों का योगदान रहा है यथा- प्लेटो, अरस्तू सिसरो, सन्त अगस्तीन, एक्विनास, लाक, रूसो, मॉन्टेस्क्यू कान्ट, हीगल, ग्रीन आदि। आधुनिक युग में भी अनेक विद्वान परम्परागत दृष्किगेण के समर्थक माने जाते है जैसे- लियो स्ट्रॉस, ऐरिक वोगोलिन, ऑकसॉट, हन्ना आरेण्ट आदि।

प्राचीन यूनान व रोम में राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिये दर्शनशास्त्र, नीति शास्त्र, तर्क शास्त्र, इतिहास व विधि की अवधारणाओं को आधार बनाया गया था किन्तु मध्यकाल में मुख्यत: ईसाई धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण को राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण का आधार बनाया गया। 16 वीं सदी में पुनर्जागरण आन्दोलन ने बौद्धिक राजनीतिक चेतना को जन्म दिया साथ ही राष्ट्र-राज्य अवधारणा को जन्म दिया। 18 वीं सदी की औद्योगिक कांति ने राजनीतिक सिद्धान्त के विकास को नई गति प्रदान की। इग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रांति, फांस व अमेरिका की लोकतांत्रिक क्रांतियों ने परम्परागत राजनीतिक सिद्धान्त का विकास 'उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीतिक सिद्धांत' के रूप में किया।

परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण ने राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिये मुख्यत: दार्शनिक, तार्किक नैतिक, ऐतिहासिक व विधिक पद्धतियों को अपनाया है। 19 वीं सदी से इसने विधिक, संवैधानिक, संस्थागत, विवरणात्मक एवम् तुलनात्मक पद्धतियों पर विशेष बल दिया है। 20 वीं सदी के प्रारंभ से ही परम्परागत दृष्टिकोण ने राजनीतिक सिद्धान्त के निर्माण के लिये एक नई दृष्टि अपनाई जो अतीत की तुलना में अधिक यथार्थवादी थी। परम्परागत राजनीतिक विज्ञान में सरकार एवं उसके वैधानिक अंगों के बाहर व्यवहार में सरकार की नीतियों एवम् निर्णयों को प्रभावित करने वाले सामाजिक राजनीतिक तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया। राजनीतिक दल एवम् दबाबसमूहों के साथ-साथ औपचारिक संगठनों के अध्ययन पर बल दिया। इसने उन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों एवं आन्दोलनों के अध्ययन पर भी बल दिया जो स्पष्टत: सरकार के औपचारिक संगठन से बाहर तो होते हैं किन्तु उसकी नीतियों एवम् कार्यक्रमों को प्रभावित करते हैं।

1.2.1 राजनीति विज्ञान : अर्थ एवं परिभाषा

'राजनीति' का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द पॉलिटिक्स(Politics) यूनानी भाषा के पॉलिस (Polis) शब्द से बना है जिसका अर्थ नगर' अथवा 'राज्य' है। प्राचीन यूनान में प्रत्येक नगर एक स्वतंत्र राज्य के रूप में संगठित होता था और पॉलिटिक्स शब्द से उन नगर राज्यों से सम्बंधित शासन की विद्या का बोध होता था। धीरे-धीरे नगर राज्यों(City State) का स्थान राष्ट्रीय राज्यों (Nation–State) ने ले लिया अत: राजनीति भी राज्य के विस्तृत रूप से

सम्बंधित विद्या हो गई। आधुनिक युग में जब संसार प्रत्येक विषय के वैज्ञानिक व व्यवस्थित अध्ययन की ओर झुक रहा है, राज्य से सम्बंधित विषयों का अध्ययन राजनीति शास्त्र अथवा राजनीति विज्ञान कहा जाता है।

परम्परागत राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने राजनीति विज्ञान की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं इन परिभाषाओं की निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत व्याख्या की जा सकती है:-

राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन है- अनेक राजनीति शास्त्रियों की मान्यता है कि प्राचीन काल से ही राजनीति विज्ञान राज्य नामक संस्था के अध्ययन का विषय है। विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक राजनीति विज्ञान का 'केन्द्रीय तत्व' राज्य ही रहा है। अत: राजनीति विज्ञान में राज्य का ही अध्ययन किया जाना चाहिये। प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री ब्लुशंली के अनुसार राजनीति शास्त्र वह विज्ञान है जिसका संबंध राज्य से है और जो यह समझने का प्रयत्न करता है कि राज्य के आधारभूत तत्व क्या है, उसका आवश्यक स्वरूप क्या है, उसकी किन- किन विविध रूपों में अभिव्यक्ति होती है तथा उसका विकास कैसे हुआ' जर्मन लेखक गैरिस का कथन है कि राजनीति शास्त्र में, शक्ति की संस्था के रूप में, राज्य के समस्त संबंधों, उसकी उत्पत्ति, उसके मूर्त रूप (भूमि एवं निवासी), उसके प्रयोजन, उसके नैतिक महत्व, उसकी आर्थिक समस्याओं, उसके अस्तित्व की अवस्थाओं उसके वित्तीय पहलू, उद्देश्य आदि पर विचार किया जाता है। डाक्टर गार्नर के अनुसार "राजनीति शास्त्र का प्रारंभ तथा अन्त राज्य के साथ होता है।" डाक्टर जकारिया का कथन है कि "राजनीति शास्त्र व्यवस्थित रूप में उन आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण करता है जिनके अनुसार समष्टि रूप में राज्य का संगठन होता है और प्रभुसत्ता का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का केन्द्रीय विषय राज्य है। इसका कारण प्लेटो व अरस्तु के समय से चली आ रही यह मान्यता है कि राज्य का अस्तित्व कुछ पवित्र लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये है।

राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन है- कुछ राजनीति शास्त्रियों की राय में राजनीति विज्ञान में राज्य का नहीं अपितु सरकार का अध्ययन किया जाना चाहिये। उनका मत है कि राज्य मनुष्यों का ही संगठन विशेष है तथा उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति सरकार के माध्यम से होती है। उनका तर्क है कि राज्य एक अमूर्त संरचना है जबकि सरकार एक मूर्त एवम् प्रत्यक्ष संस्था है और सरकार ही सम्प्रभुता का प्रयोग करती है। सरकार ही राज्य का वह यन्त्र होता है जिसके द्वारा उसके उद्देश्य तथा प्रयोजन कार्यरूप में परिणित होते हैं। अत: राजनीति विज्ञान में सरकार का ही अध्ययन होना चाहिये। सीले के अनुसार "राजनीति विज्ञान शासन के तत्वों का अनुसंधान उसी प्रकार करता है जैसे सम्पत्ति शास्त्र सम्पत्ति का, जीवविज्ञान जीवन का, बीज गणित अंकों का तथा रेखा गणित स्थान एवं लम्बाई-चौड़ाई का करता है।" लीकॉक ने इस सन्दर्भ में संक्षिप्त एवं सारगर्भित परिभाषा दी है- राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बंधित शास्त्र है।"

राजनीति विज्ञान राज्य एवम् सरकार दोनों का अध्ययन है- परम्परागत राजनीति विज्ञान के कुछ विद्वानों की मान्यता है कि केवल राज्य या केवल सरकार की दृष्टि से दी गई

परिभाषाएँ अपूर्ण हैं। वस्तुत: राज्य एवम् सरकार का परस्पर घनिष्ठ संबंध है और इनमें से किसी एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन ही नहीं किया जा सकता है। यदि राज्य अमूर्त संरचना है तो सरकार इसे मूर्त व भौतिक रूप प्रदान करती है तथा इसी प्रकार यदि राज्य प्रभुसत्ता को धारण करने वाला है तो सरकार उस प्रभुसत्ता का उपभोग करती है। अत: राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत इन दोनों का ही अध्ययन किया जाना चाहिये। पॉल जैनेट के अनुसार " राजनीति विज्ञान सामाजिक विज्ञानों का वह अंग है जिसमें राज्य के आधार तथा सरकार के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। "डिमॉक के अनुसार राजनीति विज्ञान का संबंध राज्य तथा उसके साधन सरकार से है।" गिलक्राइस्ट ने संक्षिप्त परिभाषा देते हुये कहा है कि " राजनीति विज्ञान राज्य व सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है।"

राजनीति विज्ञान मानव तत्व के सन्दर्भ में अध्ययन है- कुछ राजनीति शास्त्री उपरोक्त परिभाषाओं को पूर्ण नहीं मानते क्योंकि इन परिभाषाओं में मानव तत्व की उपेक्षा की गई है। इनकी मान्यता है कि राज्य या सरकार का अध्ययन बिना मानव के उद्देश्यहीन एवं महत्वहीन है क्योंकि इनका निर्माण मानव के हित के लिये ही हुआ है अत: मानव- तत्व का अध्ययन अनिवार्य हे

प्रोफेसर लास्की की अनुसार " राजनीति शास्त्र के अध्ययन का संबंध संगठित राज्यों से सम्बंधित मनुष्यों के जीवन से है।" राजनीति शास्त्र के प्रसंग में मानव तत्व का महत्व व्यक्त करते हुये एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज में हरमन हेलर ने तो यहाँ तक कहा है कि " राजनीति शास्त्र के सर्वागीण स्वरूप का निर्धारण उसकी मनुष्य विषयक मौलिक मान्यताओ द्वारा होता है।" वस्तुत: इसका अर्थ यह है कि राजनीति विज्ञान एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत इस तथ्य का भी अध्ययन किया जाता है कि किसी संगठित राजनीतिक समाज में स्वयं मनुष्य की स्थिति क्या है। राजनीति विज्ञान व्यक्ति के अधिकार व स्वतन्त्रताओं के अध्ययन के साथ समाज के विभिन्न समुदायों व वर्गो के प्रति सरकार की नीतियों का भी अध्ययन करता है।

अत: राजनीति विज्ञान की परिभाषा हम ऐसे शास्त्र के रूप में कर सकते है जिसका संबंध उसके राज्य नामक संगठन से होता है और जिसके अन्तर्गत स्वभावत: का भी विस्तृत अध्ययन सम्मिलित होता हैं संक्षेप में राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य, सरकार तथा अन्य सम्बंधित संगठनों व संस्थाओं का, मानव के राजनीतिक जीवन के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है।

राजनीति विज्ञान से सम्बंधित परम्परागत परिभाषायें निम्न प्रवृतियां इंगित करती है-

(i) अपने पारम्परिक सन्दर्भ में राजनीति विज्ञान राज्य व सरकार दोनों का अध्ययन करता है।

(ii) राजनीति विज्ञान का राज्य विषयक अध्ययन मूलत: संस्थात्मक है क्योंकि उसमें केन्द्रीय महत्व राज्य अथवा सरकार का है, अन्य तत्व मात्र सांयोगिक है।

(iii) राजनीति विज्ञान औपचारिक रूप से राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते हुये राज्य के संविधान में निहित कानूनी वास्तविकता को अध्ययन का आधार बनाता है।

(iv) परम्परागत राजनीति विज्ञान राजनीतिक प्रक्रियाओं के अध्ययन की अपेक्षा राज्य की नीतियों के अध्ययन पर बल देता है।

1.2.2 राजनीति विज्ञान : क्षेत्र

जिस प्रकार राजनीति विज्ञान की परिभाषा विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार से की है, उसी प्रकार उसके क्षेत्र को भिन्न-भिन्न लेखकों ने विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ फ्रांसीसी विचारक ब्लुंशली के अनुसार " राजनीति विज्ञान का संबंध राज्य के आधारों से है वह उसकी आवश्यक प्रकृति, उसके विविध रूपों, उसकी अभिव्यक्ति तथा उसके विकास का अध्ययन करता है।" डॉ गार्नर के अनुसार " इसकी मौलिक समस्याओं में साधारणत: प्रथम राज्य की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति का अनुसंधान, द्वितीय राजनीतिक संस्थाओं की प्रगति, उसके इतिहास तथा उनके स्वरूपों का अध्ययन, तथा तृतीय, जहां तक संभव हो, इसके आधार पर राजनैतिक और विकास के नियमों का निर्धारण करना सम्मिलित है। गैटेल ने राजनीति शास्त्र के क्षेत्र का विस्तृत वर्णन करते हुये लिखा है कि " ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीति शास्त्र राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक संस्थाओं के विकास तथा अतीत के सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।... वर्तमान का अध्ययन करने में यह विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं तथा विचारधाराओं का वर्णन, उनकी तुलना तथा वर्गीकरण करने का प्रयत्न करता है। परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा नैतिक मापदण्डों के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं तथा क्रियाकलापों को अधिक उन्नत बनाने के उद्धेश्य से राजनीति शास्त्र भविष्य की ओर भी देखता हुआ यह भी विचार करता है कि राज्य कैसा होना चाहिये।"

राजनीति शास्त्र के क्षेत्र के विषय में उपरोक्त परिभाषाओं से तीन विचारधाराएँ सामने आती है प्रथम राज्य को राजनीति विज्ञान का प्रतिपाद्य विषय मानती है, द्वितीय विचारधारा सरकार पर ही ध्यान केन्द्रित करती है तृतीय विचारधारा राज्य व सरकार दोनों को राजनीति विज्ञान का प्रतिपाद्य विषय मानती है। तृतीय विचारधारा सत्य के ज्यादा निकट है, यद्यपि हमें मानव तत्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

परम्परागत राजनीति विज्ञान का क्षेत्र निर्धारण करने हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की यूनेस्को नामक संस्था के द्वारा सितम्बर 1948 में विश्व के प्रमुख राजनीति राजनीति शास्त्रियों का सम्मेलन अयोजित किया गया जिसमें परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित अध्ययन विषय शामिल किये जाने का निर्णय किया गया-

(i) राजनीति के सिद्धान्त- अतीत और वर्तमान के राजनीतिक सिद्धान्तों एवम् विचारों का अध्ययन।

(ii) राजनीतिक संस्थाएँ- संविधान, राष्ट्रीय सरकार, प्रादेशिक व स्थानीय शासन का सरल व तुलनात्मक अध्ययन।

(iii) राजनीतिक दल, समूह एवं लोकमत- राजनीतिक दल एवं दबाव समूहों का राजनीतिक व्यवहार, लोकमत तथा शासन में नागरिकों के भाग लेने की प्रक्रिया का अध्ययन।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि, अंतर्राष्ट्रीय संगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासन का अध्ययन।

परम्परागत राजनीति शास्त्रियों एवम् यूनेस्को के दृष्टिकोण के आधार पर परम्परागत राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत विश्लेषित किया जा सकता है-

1. मानव के राजनीतिक जीवन का अध्ययन - जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक सामाजिक शास्त्र मानव के कार्यकलापों के किसी पहलू विशेष को लेकर विकसित हुआ है। राजनीति विज्ञान मनुष्य के कार्यकलापों के उस पहलू का अध्ययन है जिसका संबंध राज्य से है। राज्य नागरिकों से बनता है या यह कहें कि मनुष्य के हित के लिये ही साध्य अस्तित्व में आता हैं। राज्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करता है और इस प्रकार मानव जीवन। को सार्थक बनाता है। प्रत्येक राज्य के नागरिक कुछ अधिकारों का उपभोग करते है और राज्य उन्हें संरक्षण प्रदान करता है तथा राज्य के प्रति नागरिक के कुछ कर्तव्य भी होते हैं जिनका पालन व्यक्ति को करना आवश्यक है। अत: राजनीति विज्ञान में मनुष्य के अधिकारों कर्तव्यों तथा राज्य व मनुष्य के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन होता है।

2. राज्य का अध्ययन- राजनीति विज्ञान में राज्य का सम्पूर्ण एवं सर्वकालीन अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत राज्य के अतीत, वर्तमान एवम् भविष्य तीनों का अध्ययन किया जाता है-

(i) राज्य के अतीत का अध्ययन- राजनीति विज्ञान इस तथ्य का अध्ययन करता है कि प्राचीन काल में राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई, एवम् वर्तमान काल तक उसका विकास कैसे हुआ है। यह यूनान के 'नगर-राज्य' से आधुनिक राष्ट्र-राज्य तक के विकास का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान इस तथ्य का भी अध्ययन करता है कि प्रारंभ में राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यंत सीमित था और किस प्रकार वर्तमान काल तक उसके कार्यक्षेत्र में निरन्तर वृद्धि हुई है। राजनीति विज्ञान अतीत में राज्य के सन्दर्भ में उत्पन्न विभिन्न राजनीतिक विचारों व धारणाओं का भी अध्ययन करता है। मनुष्य के राजनीतिक विचारों के राज्य के स्वरूप पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अध्ययन राजनीति विज्ञान करता है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान में हम सर्वप्रथम राज्य तथा राजनीतिक विचारधारा के विकास का ऐतिहासिक विवेचन करते है।

(ii) राज्य के वर्तमान का अध्ययन- आधुनिक राष्ट्र-राज्य अतीत के राज्य से भिन्न है। राज्य के इस वर्तमान स्वरूप एवं विशेषताओं का अध्ययन राजनीति विज्ञान में किया जाता हैं। अरस्तू ने लिखा है- " राज्य की उत्पत्ति जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के कारण हुई और अच्छे जीवन के लिये ही उसका अस्तित्व चलता आ रहा है। आधुनिक युग में राज्य सर्वोपरि एवं सर्वोत्कृष्ट मानव संगठन है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य मूलत: सविधानवादी राज्य है, वह लोककल्याण के दायित्व को स्वीकारता है। इस राज्य के आन्तरिक एवं बाह्य दो प्रकार के कार्यक्षेत्र है। आन्तरिक कार्यक्षेत्र के प्रमुख कार्य है- राष्ट्रीय संविधान के अनुसार शासन करना, शांति व व्यवस्था बनाये रखना, न्याय करना तथा जनता के कल्याण के लिए विभिन्न सामाजिक व आर्थिक कार्य करना।

राष्ट्र के बाह्य कार्य क्षेत्र में विदेश नीति का संचालन, अन्य राज्यों से संबंध तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का पालन आते हैं। राजनीति विज्ञान आधुनिक राष्ट्र-राज्य से संबन्धित विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन करता है।

(iii) **राज्य के भविष्य का अध्ययन-** परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इतिहास बताता है कि राज्य प्रारंभ से ही एक विकासशील संस्था है अत: राज्य के वर्तमान स्वरूप को भी अंतिम नहीं माना जा सकता। अतीत की भांति वर्तमान समय में भी ऐसे अनेक सिद्धांतों का विकास हो रहा है, जो राज्य के स्वरूप, उद्देश्य एवम् कार्यक्षेत्र के संबंध में अनेक नवीन विचार हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। राजनीति विज्ञान राज्य के वर्तमान स्वरूप, संगठन एवं कार्यो में परिवर्तन चाहने वाली विचारधाराओं का भी अध्ययन करता है। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान नवीन उदारवाद, बहुलवाद,समाजवाद ,साम्यवाद तथा अराजकतावाद आदि विचारधाराओं का अध्ययन करता है।

3. सरकार का अध्ययन- राज्य के संबंध में कोई अध्ययन तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक हम उसके उस यन्त्र का अध्ययन न करें जिसके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है और जिसे हम सरकार कहते हैं। राजनीति विज्ञान वर्तमान काल में विभिन्न देशों में विद्यमान शासन-प्रणालियों का सरल व तुलनात्मक अध्ययन करता हैं। यह किसी शासन के अन्तर्गत मौजूद शासन के तीनों अंगों-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका का अध्ययन करता है और इन अंगों के आपसी संबंधों की व्याख्या करता हैं। इसके साथ ही वर्तमान काम की लोकतांत्रिक प्रणाली के अन्तर्गत चुनाव प्रणाली, प्रतिनिधित्व की समस्या व लोक प्रशासन का भी अध्ययन किया जाता है।

4. स्थानीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन- राजनीति विज्ञान स्थानीय एवम् राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करते हुये इन समस्याओं के समाधान भी सुझाता है। इस सन्दर्भ में स्थानीय संस्थाओं के संगठन, कार्यप्रणाली तथा कार्यक्षेत्र का अध्ययन भी किया जाता है। उदाहरणार्थ भारत में स्थानीय स्वशासन एवं पंचायती राज्य व्यवस्था का अध्ययन राजनीति विज्ञान में होता है। राजनीति विज्ञान राष्ट्रीय एकता, अखण्डता तथा विकास के मार्ग में बाधक समस्याओं तथा इन समस्याओं के समाधान के लिये भावनात्मक एकता पंथ निरपेक्षता, सामाजिक न्याय, योजनाबद्ध विकास, भाषा नीति आदि साधनों का अध्ययन करता है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों एवं संबंधों का अध्ययन- राजनीति विज्ञान में वर्तमान की औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विकास के परिणामस्वरूप विश्व समुदाय की सामूहिक गतिविधियों एवं उनके संबंधों का अध्ययन करता है। देशों के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों-संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रमण्डल, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन आसियान एवम् अन्य का अध्ययन करता हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं आधुनिक विश्व के समक्ष अनेक चुनौतियों-जैसे आतंकवाद, मादक द्रव्यों की तस्करी का भी राजनीति विज्ञान अध्ययन करता है।

6. राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन- प्राचीन काल से वर्तमान काल तक अनेक विचारधाराए अस्तित्व में आई है। इन विचारधाराओं ने राजनीति के आदर्शवादी एवम् यथार्थवादी मूल्यों पर विचार किया है। इन विचारधाराओं के द्वारा राज्य की उत्पत्ति. प्रकृति,

उद्देश्य साधन, व कार्यो के अतिरिक्त व्यक्ति- राज्य के पारस्परिक संबंधों पर भी विचार किया है। कानून स्वतंत्रता एवम् समानता की अवधारणा भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन का विषय है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान प्रत्ययवाद, व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, फासीवाद, समाजवाद, साम्यवाद व बहुलवाद आदि विचारधाराओं का सरल व तुलनात्मक अध्ययन करता है।

7. राजनीतिक दलों एवम् दबाव समूहों का अध्ययन- वर्तमान शासन व्यवस्थाओं के संचालन में राजनीतिक दलों एवम् दबाव समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका है। राजनीतिक दल चुनाव में भाग लेकर सरकार का निर्माण एवं संचालन करते है। दबाव समूह अप्रत्यक्ष रूप से सरकार की नीतियों को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल एवम् दबाब समूह लोकमत निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं राजनीति विज्ञान इन दोनों की भूमिका एवं कार्यो का अध्ययन करता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसका क्षेत्र भी विस्तृत होता जा रहा है आज विज्ञान में ऐसे अराजनीतिक प्रकृति के संगठन व समुदायों का भी अध्ययन होने लगा है राज्य की नीतियों व निर्णयों को प्रभावित करते है।

1.2.3 परम्परागत राजनीति विज्ञान: विशेषताऐ

परम्परागत राजनीति विज्ञान दर्शन एवं कल्पना पर आधारित है। परम्परावादी विचारक अधिकांशत: दर्शन से प्रभावित रहे है। इन विचारकों ने मानवीय जीवन के मूल्यों पर ध्यान दिया हैं। इनके चिन्तन की प्रणाली निगमनात्मक है। परम्परागत राजनीति विज्ञान प्लेटो का विशेष महत्व है। सिवली के अनुसार परम्परागत राजनीति विज्ञान का विशेष रूप हमें की रचनाओं में देखने को मिलता है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'आदर्श राज्य' की अवधारणा परम्परागत राजनीति विज्ञान का श्रेष्ठतम नमूना है।,

प्लेटो के अतिरिक्त रोमन विचारक सिसरो और मध्ययुग में संत ऑगस्टाइन चिन्तन में परम्परागत राजनीति विज्ञान की स्पष्ट झलक मिलती हैं। आधुनिक युग में परम्परागत राजनीति विज्ञान के प्रबल समर्थकों की काफी संख्या है। रूसो, काण्ट, हीगल, ग्रीन, बोसांके लास्की, ओकशॉट एवं लियोस्ट्रास की रचनाओं में प्लेटो के विचारों की स्पष्ट झलक दिखाई. है।

परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पना और दर्शन पर आधारित है। यह अपने प्रतिपादक राजनीतिक दार्शनिकों एवं चिन्तकों के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोणो से रहा है। अधिकांश दार्शनिक विचारक आचारशास्त्र या दर्शन शास्त्र से प्रभावित रहें है। उन्होने मानवीय जीवन तथा सामाजिक लक्ष्यों तथा मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन की उपलब्धिका विचार मध्ययुग के ईसाई संत दार्शनिकों का राज्य स्थापित करने का विचार तथा आदर्शवादियों के विवेक से साक्षात्कार के विचार को ले सकते हैं। इन विद्वानों के विचारों को परानुभववादी कहा गया है। उनके विचार व्यक्तिपरक और' उनकी चिन्तनप्रणाली निगमनात्मक हैं। परम्परागत राजनीति विज्ञान की विशेषताओं का अध्ययन हम निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से कर सकते हैं-

(i) **राज्य को नैतिक संस्था मानता है:-** परम्परागत राजनीति वैज्ञानिक राज्य को एक नैतिक संस्था मानते हैं। अरस्तु के अनुसार "राज्य का अस्तित्व सद्जीवन के लिए है, मात्र जीवन के लिए नहीं। "रूसी के अनुसार नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्य हित है, और सामान्य इच्छा ही राज्य है"

(ii) **कल्पनात्मक पद्धति:-** परम्परागत राजनीतिक विचारक पहले किसीं राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना करते हैं, तत्पश्चात् उसे क्रियात्मक रूप देने का प्रयास' करते हैं। जैसे प्लेटों ने आदर्श राज्य की कल्पना की और फिर उस आदर्श राज्य की स्थापना का प्रयास किया। इस प्रकार की चिन्तन शैली आदर्शवादी सिद्धान्त के निर्माण में सहायक होती है।

(iii) **अपरिष्कृत अध्ययन पद्धतियाँ :-** परम्परागत राजनीति विज्ञान अध्ययन पद्धति की दृष्टि से ऐतिहासिक, दर्शन प्रधान और वर्णनात्मक रहा है। डा० एस० पी० वर्मा के अनुसार परम्परागत राजनीति विज्ञान के विकास की चार अवस्थाएँ हैं, विश्लेषणात्मक आदर्शात्मक, उपदेशात्मक तथा वर्णनात्मक-परिभाषात्मक। राजनीति विज्ञान लम्बे समय तक इतिहास की चार दीवारी में ही फला-फूला और ऐतिहासिक संकल्पनाओं के इर्द-गिर्द ही अपनी अध्ययन सामग्री को संजोता रहा। राजनीतिक चिन्तकों ने राज्य कानून प्रभुसत्ता, अधिकार, न्याय आदि संकल्पनाओं के विवेचन में ही। राजनीति विज्ञान को परिसीमित कर दिया।

(iv) **कानूनी औपचारिक संस्थागत अध्ययन पर बल:-** परम्परागत राजनीति विज्ञान के अध्ययन का बिम्ब राजनीतिक एवं सरकारी संस्थाओं का ही रहा तथा इनका अध्ययन भी कानूनी औपचारिक और संस्थागत था। जहाँ लिखित संविधान थे वही संविधान में तथा जहाँ लिखित संविधान नहीं थे वही कानून के द्वारा व्यवस्था का क्या रूप रखा गया है, केवल उक्त बात को विस्तृत रूप में दर्शाना, इस परिप्रेक्ष्य के अध्ययनों का उद्देश्य रहा है। डायसी, मुनरो, ऑग तथा जिंक ने अपने अध्ययन को औपचारिक संस्थागत अध्ययन तक ही सीमित रखा है।

(v) **मुख्यत: संकुचित अध्ययन है:-** यह अध्ययन पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक ही सीमित रहा है। इन्होंने साम्यवादी जगत और तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। पाश्यात्य राज्यों की परिधि में रहते हुए इन लेखकों ने केवल लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्थाओं को ही अध्ययन का बिन्दु बनाया। एक्सटिन तथा ऐप्टर के शब्दों में "परम्परागत दृष्टिकोण पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्थाओं तक सीमित रहा और प्रमुख तथा एक संस्कृति संरूपण या समूह का ही इसमें अध्ययन किया गया।"

संक्षेप में, परम्परागत राजनीति विज्ञान कल्पना और दर्शन पर आधारित है। पुरातन राजनीतिशास्त्रियों के अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक रही। इनका साहित्य पुस्तकालयों में बैठ कर लिखा गया। उनके निष्कर्ष तर्क पर आधारित हैं। वे शासन प्रणालियों के औपचारिक, कानूनी तथा संस्थात्मक अध्ययन पर बल देते हैं।

बोध प्रश्न - 1

प्रश्न1. POLITICS (पॉलिटिक्स) शब्द की उत्पत्ति किस भाषा से हुई है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. राजनीति शास्त्र का प्रारम्भ व अन्त राज्य के साथ होता है। यह परिभाषा किस विद्वान की है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न3. परम्परागत राजनीति विज्ञान का प्रमुख लक्षण क्या है?

उत्तर: .....

.....

1.3 राजनीति विज्ञान : आधुनिक दृष्टिकोण

आधुनिक काल में परम्परागत राजनीति विज्ञान की अध्ययन सामग्री एवं राज्य संबंधी धारणाओं की कटु आलोचना हुई है। आलोचकों के अनुसार राज्य व राजनीतिक संस्थाओं की परिधि से परे भी कुछ प्रक्रियाएँ एवम् एक परिवेश देखने को मिलता है जिसके अध्ययन की उपेक्षा राजनीति विज्ञान की गरिमा व उपयोगिता के लिये अनर्थकारी है। इस मत के प्रतिवादक यह मानते है कि सभी समाज विज्ञानों की प्रेरणा स्रोत व अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मानव-व्यवहार है और राजनीति विज्ञान सामान्यत: मानव व्यवहार के राजनीतिक पहलू का अध्ययन है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्ण कतिपय राजनीतिक विचारक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मनुष्य की राजनीतिक प्रक्रियाओं एवम् गतिविधियों को प्रमुख स्थान दिये जाने के प्रति आग्रहशील रहे। बाल्टर वैजहॉट, वुडरो विल्सन, लार्ड ब्राइस आदि ने राजनीति के यथार्थवादी अध्ययन पर बल दिया। ग्राहम वालास आर्थर बैन्टले, कैटलिन और लासवैल ने मानव एवं उसके व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया। चार्ल्स मेरियम ने 1925 की अमरीकी राजनीति विज्ञान एशोसियेशन के सम्मेलन में राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिये. वैज्ञानिक तकनीकों एवम् प्रविधियों के विकास एवम् प्रयोग पर बल दिया। 1930 में लासवैल ने अपनी पुस्तक साइको-पैथौलॉजी एण्ड पॉलिटिक्स' में राजनीतिक घटनाओं एवम् क्रियाओं की व्याख्या के लिये फाइड के मनोविज्ञान को आधार बनाया।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अमेरिका का शिकागो विश्वविद्यालय व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान का कार्यक्षेत्र बन चुका था। परम्परागत राजनीति विज्ञान से आधुनिक राजनीति विज्ञान तक की विकास प्रक्रिया में द्वितीय महायुद्ध की घटना का विशेष महत्व है जिसके बाद की दुनिया पूर्व की दुनिया से राजनीतिक संरचना, औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों तथा सैन्य क्षमता की दृष्टि से अत्यधिक भिन्न थी। विश्वस्तर पर हुये इस गंभीर परिवर्तन ने मानव समाज व संस्कृति की परम्परागत अवधारणाओं के स्थान पर नई

अवधारणाओं को जन्म दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस वातावरण में चार्ला मैरियन के अपनी रचना 'न्यू आरपेक्ट ऑफ पॉलिटिक्स में राजनीति विज्ञान के अध्ययन हेतु नवीन एवम् वैज्ञानिक तकनीकों के प्रयोग का पूर्ण समर्थन किया।

इस संबंध में यह स्मरणीय है कि द्वितीय महायुद्ध ही राजनीति विज्ञान में आई व्यवहारवादी क्रांति का एक मात्र कारण नहीं है। विश्वयुद्ध ने वस्तुत: राजनीति विज्ञान की पहले की कमियों को उजागर किया। इन कमियों को पूरा करने की दिशा अन्य स्रोतों से भी प्रभात हुई, और इन स्रोतों में सहयोगी समाज विज्ञानों में यह हुआ परिवर्तन मुख्य है कि प्राकृतिक विज्ञान की तरह समाजशास्त्रों को भी अधिकाधिक व्यवस्थित व वैज्ञानिक रूप प्रदान किया जाये।

उपरोक्त पृष्ठभूमी में 1960 के दशक में अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान को दार्शनिक पद्धति से मुक्त करने एवम् उसके अध्ययन को अधिक से अधिक वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया। राजनीति विज्ञान को सामाजिक विज्ञान मानते हुये इसके अध्ययन को पूर्ण बनाने हेतु समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र से समाज विज्ञानों की वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाना उचित समझा। इन वैज्ञानिकों में डेविड ईस्टन कैटलिन लासवैल आदि प्रमुख है।

1.3.1 राजनीति विज्ञान अर्थ एवम् परिभाषा

राजनीति विज्ञान की आधुनिक अवधारणाओं की दृष्टि से जार्ज कैटलिन डेविड ईस्टन, हेराल्ड लासवैल व काप्लान विशेष उल्लेखनीय है। इन विद्वानों ने राजनीति विज्ञान संबंधी अपने तथ्यों में राजनीति के वास्तविक एवम् व्यावहारिक सन्दर्भों पर बल देते हुये उसे शक्ति, प्रभाव, राजनीतिक औचित्य एवम् सत्ता का अध्ययन माना है।

आधुनिक दृष्टिकोण के समर्थक राजनीति शास्त्रियों द्वारा राजनीति विज्ञान के बारे में जो विचार प्रस्तुत किये हैं उनको निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट -या जा सकता है-

(i) राजनीति विज्ञान मानव क्रियाओं का अध्ययन है- राजनीति - के आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान मानव के राजनीतिक व्यवहार एवम् क्रियाओं का अध्ययन करता है। मानव व्यवहार को गैर राजनीतिक-कारक भी उत्ते करते है। इन सभी कारकों का राजनीति विज्ञान में अध्ययन किया जाता है। ए. हर्ड एवम् एस. हंटिग्टन का कथन है "राजनीतिक व्यवहारवाद शासन को मानव और उसके समुदायों के कार्यो की एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकारता है। हस्जार व स्टीवेन्सन का यह विचार है कि "राजनीति विज्ञान अपने अध्ययन क्षेत्र में प्राथमिक रूप में व्यक्तियों के पारस्परिक व सामूहिक तथा राज्य एवं राज्यों के मध्य प्रकट शक्ति संबंधों से सम्बंधित है।

(ii) राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन है- कैटलिन व लासवैल इस विचार के समर्थक है। दोनों के विवेचन का मुख्य आधार मनोविज्ञान है। कैटलिन ने 1927-28 में राज्य के स्थान पर मनुष्य के राजनीतिक क्रिया कलाप के अध्ययन पर बल देते हुये राजनीति को प्रभुत्व एवम् नियंत्रण के लिये किये जाने वाला संघर्ष बताया है। उसके मतानुसार संघर्ष का मूल स्रोत मानव की यह इच्छा रही है कि दूसरे लोग उसका अस्तित्व मानें। 1962 में अपनी पुस्तक सिस्टेमैटिक पॉलिटिक्स में कैटलिन ने लिखा है- नियंत्रण

भावना के कारण जो कार्य किये जाते है तथा नियंत्रण की भावना पर आधारित संबंधों की इच्छाओं के कारण जिस ढाँचे व इच्छाओं का निर्माण होता है, राजनीति शास्त्र का संबंध उन सबसे है। अन्य शक्तिवादी विचारक लासवैल की मान्यता है कि समाज में कतिपय मूल्यों व मूल्यवान व्यक्तियों की प्राप्ति के लिये हर व्यक्ति अपना प्रभाव डालने की चेष्टा करता हैं तथा प्रभाव चेष्टा में शक्ति भाव निहित रहता है। अत: लासवैल के अनुसार 'राजनीति शास्त्र का अभीष्ट वह राजनीति है जो बतलाये कि कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है। उसके अनुसार राजनीतिक क्रियाकलाप का प्रारंभ उस परिस्थिति से होता है जिसमें कर्ता विभिन्न मूल्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है तथा शक्ति जिसकी आवश्यक शर्त होती है।

(iii) राजनीति विज्ञान राज-व्यवस्थाओं का अध्ययन है- इस दृष्टिकोण के समर्थक डेविड ईस्टन, आमण्ड, आर. केगन आदि है। यह दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में परिभाषित करता हैं। इनकी मान्यता है कि सम्पूर्ण समाज स्वयं में एक व्यवस्था है और राज व्यवस्था इस सम्पूर्ण समाज व्यवस्था की एक उपव्यवस्था है तथा वह उसके एक अभिन्न भाग के रूप में होती है। राज्य व्यवस्था में अनेक क्रियाशील संरचनाएँ होती हैं जैसे संविधान सरकार के अंग, राजनीतिक दल, दबाव समूह, लोकमत एवम् निर्वाचन एवं मानव-व्यवहार इस व्यवस्था का अभिन्न भाग है। संक्षेप में इन विद्वानों की मान्यता है कि राजनीति विज्ञान सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के अंग के रूप में राज-व्यवस्था की इन संरचनाओं की पारस्परिक क्रियाओं एवम् संबंधों तथा मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान राजव्यवस्था के अध्ययन के अन्तर्गत निम्न तथ्यों पर अधिक बल देता है -संपूर्ण समाज व्यवस्था के अंग के रूप में राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन, व्यवस्था की संरचना एवम् समूहों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन।

(iv) राजनीति विज्ञान निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन है- इस दृष्टिकोण के समर्थक राजनीतिशास्त्री यह मानते है कि राजनीति विज्ञान सरकार का अध्ययन करते हुये समाज या राज्य में विद्यमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में सरकार या शास्त्र के नीति संबंधी निर्णय लेने की प्रक्रिया का भी अध्ययन करता है। इस कारण राजनीति विज्ञान ऐसा विज्ञान है जो किसी शासन की नीति-प्रक्रिया एवम् उसके द्वारा नीति निर्माण का अध्ययन करता है विशेषकर इन दोनों को प्रभावित करने वाले कारकों के संदर्भ में, इस दृष्टिकोण की मान्यता है कि मानव प्रकृति के सन्दर्भ में सरकार द्वारा नीति निर्माण-प्रक्रिया का अध्ययन किया जाना चाहिए। वास्तविक राजनीतिक जीवन में शासन के नाम पर निर्णय लेने का कार्य स्वयं व्यक्ति करते हैं और इसलिये निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर निर्णयकर्ताओ के व्यक्तित्व, अभिरूचि संस्कृति, धर्म, राजनीतिक विचारधारा, मानसिक स्तर निर्णय लेने की शक्ति आदि तत्वों का व्यापक प्रभाव पड़ता है।

अत: यह कहा जा सकता है कि आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार के विज्ञान मनुष्य के सामाजिक राजनीतिक जीवन का अध्ययन करता है। इसके अन्तर्गत राजनीतिक प्रक्रियाओं के

साथ साथ राजनीतिक संगठनों का भी अध्ययन किया जाता है। पिनॉक एवं स्मिथ के अनुसार क्या है (यथार्थ) तथा क्या होना चाहिये (आदर्श) और इन दोनों के बीच यथासंभव समन्वय कैसे प्राप्त किया जाये, इस दृष्टि से हम सरकार तथा राजनीतिक प्रक्रिया के व्यापक अध्ययन को राजनीति विज्ञान कहते है।

1.3.2 राजनीति विज्ञान : क्षेत्र

आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक विकसित है। शक्ति व प्रभाव के सन्दर्भ में राजनीति की सर्वव्यापकता ने उसे हर तरफ पहुंचा दिया है और न सामाजिक बल्कि व्यक्तिगत जीवन के भी लगभग सभी पक्ष राजनीतिक व्यवस्था के अंग है। राजनीति की सर्वव्यापकता ने जहाँ एक तरफ राजनीतिक व्याख्याओं की लोकधर्मिता सिद्ध की है वहीं उसने राजनीतिक क्या है, इस संबंध में अस्पष्टता व भ्रम भी पैदा किया हैं। बावजूद राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र को राज्यप्रधान व राज्येतर सन्दर्भो में भलीभांति समझा जा है। राज्यप्रधान संदर्भ में राज्य की अवधारणाओं-समाजवाद, लोकतंत्र इत्यादि, सरकार या संगठन संविधान वर्णित व वास्तविक व्यवहार संबंधी, सरकारी पद व संस्थाओं के पारस्परिक संबंध, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका के संगठनात्मक व प्रयोगात्मक पक्ष तथा राज्य की व्याख्या से सम्बंधित राजनीतिक विचारधारा व अवधारणाएँ, उत्पत्ति के, राज्य क्रियाशीलता के सिद्धान्त, राज्य-परक विचारधाराएँ स्वतंत्रता, समानता, अधिकार इत्यादि। राज्येत्तर सन्दर्भ में राजनीति की प्राकियात्मक वास्तविकता राजनीति व्यवस्था के विभिन्न दृष्टिकोण, राज्येत्तर संस्थाएँ जैसे राजनीतिक दबाव व हित समूह गैर राज्य-प्रक्रियाएँ व उनका विस्तार, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वास्तविकताएँ तथा जटिलताएँ इत्यादि आती हैं। प्रतिनिधित्व के सिद्वान्तों व विधियों को भी इसी सन्दर्भ में समझा सकता है।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र के बारे में आधुनिक दृष्टिकोण की कुछ आधारभूत मान्यताऐं हैं जैसे- अध्ययन क्षेत्र के निर्धारण में यथार्थपरक दृष्टिकोण अपनाना राजनीतिक विज्ञान की विषय वस्तु को अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण के अन्तर्गत समझा जा, राजनीति विज्ञान के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति व उपागमों को प्रयोग में लाया जाये।

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को निम्न बिंदुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है-

(i) **मानव के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन-** आधुनिक दृष्टिकोण मानव के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर बल देता है। यद्यपि पर मानव व्यवहार को प्रभावित करने बल्कि गैर-राजनीतिक तत्वों का भी अध्ययन करता है उसकी मान्यता है कि मानव व्यवहार को यथार्थ रूप में समझने के लिये उन सभी गैर राजनीतिक भावनाओं, मान्यताओं एवम् शक्तियों के अध्ययन को सम्मिलित किया जाये जो मानव के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करते है।

(ii) **विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन-** आधुनिक राजनीति विज्ञान मुख्यतः शक्ति, प्रभाव सत्ता, नियंत्रण, निर्णय प्रक्रिया आदि का वैज्ञानिक अध्ययन करता हो। इस दृष्टिकोण

के अनुसार ये ऐसी अवधारणाऐ है जिनकी पृष्ठभूमि में ही राजनीतिक संस्थाएं कार्य करती है। राजनीतिशास्त्री इन्हीं अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक संस्थाओ का अध्ययन करते है। इसी कारण इस प्रकार के अध्ययन को सत्ताओं का अनौपचारिक अध्ययन कहा गया है।

(iii) राजनीति विज्ञान समस्याओं एवं संघर्षो का अध्ययन- आधुनिक राजनीति शास्त्री यथा प्रोफेसर डायक एवम् पीटर ओडगार्ड राजनीति शास्त्र को सार्वजनिक समस्याओं व संघर्षो का अध्ययन क्षेत्र में शामिल करते है। उनके मत में मूल्यों एवम् साधनों की सीमितता के कारण उनके वितरण की समस्या पैदा होने से तनाव व राजनीति का प्रारंभ हो जाता है। वह राजनीतिक दलों के अतिरिक्त विभिन्न व्यक्तियों व समूहों में तक में फैल जाती हैं। प्रोफेसर डायक ने राजनीति को सार्वजनिक समस्याओं पर परस्पर विरोधी इच्छाओं वाले पात्रों के संघर्ष की राजनीति कहा है। पीटर ओडीगार्ड की मान्यता है कि इस संघर्ष में राजनीति के अलावा अन्य बाह्यतत्वों का नियंत्रण नहीं होना चाहिये।

(iv) सार्वजनिक सहमति व सामान्य अभिमत का अध्ययन- कुछ विद्वानों के मत में राजनीति विज्ञान सार्वजनिक समस्याओं पर सहमति व सामान्य अभिमत का अध्ययन है। उनके विचार में संघर्ष संघर्ष के लिए ही नहीं वरन सामान्य सहमति व सामान्य अभिमत को प्रभावित करने के लिये होता है। इसीलिये एडवर्ड वेनफील्ड ने कहा है कि 'किसी मसले को संघर्षमय बनाने अथवा सुलझाने वाली गतिविधियों (समझौता वार्ता, तर्क- वितर्क, विचार विमर्श शक्ति प्रयोग आदि) सभी राजनीति का अंग है।''

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि आधुनिक दृष्टिकोण के विद्वानों में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के संबंध में कुछ मतभेद होने के बावजूद कुछ आधारभूत बातों पर सहमति है, जैसे सभी की मान्यता है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र यथार्थवादी हो, इसके अध्ययन में अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण व वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होना चाहिए। हालांकि यह सत्य है कि आधुनिक राजनीतिशास्त्रियो का राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक प्रामाणिकता व सुनिश्चितता का दावा अभी पूर्ण नहीं हुआ है। इसी कारण पिनॉक एवं स्मिथ ने आधुनिक दृष्टिकोण में कुछ संशोधन को स्वीकार करते हुए राजनीति विज्ञान के अध्ययन में व्यावहारिक राजनीति के अध्ययन के साथ ही राजनीतिक संस्थाओं के संगठनात्मक एवं मूल्यात्मक अध्ययन को उचित स्थान देने की बात कही है।

बोध प्रश्न- 2

प्रश्न1. चार्ल्स मैरियम की पुस्तक का क्या नाम है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. "राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन है" यह कथन किसका है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न3. आधुनिक दृष्टिकोण का उद्भव कब हुआ?

उत्तर: .....

.....

1.3.3 राजनीति विज्ञान विशेषताऐं

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान की प्रमुख विशेषताऐं निम्नलिखित हैं-

(i) **यथार्थवादी अध्ययन पर बल-** आधुनिक राजनीति विज्ञान यथार्थवादी और तथ्यपरक अध्ययन पर बल देते है। आज व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार विशेष बल दिया जाता है। लार्ड बाईस ने 1924 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'मार्डन डेमोकेरसीज' में इस सन्दर्भ में लिखा है कि "सबसे अधिक आवश्यक है "तथ्य-तथ्य"। अब राजनीतिक विज्ञान के विद्वानों ने इस बात की खोज प्रारम्भ कर दी कि संविधान का स्वरूप चाहे जो भी हो समाज में शक्ति के वास्तविक स्रोत और केन्द्र कहीं स्थित हैं शासक वर्ग अपनी शक्तियों का प्रयोग किस रूप में कर रहा है और शासित वर्ग का राजनीतिक व्यवहार कैसा है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक दल, दबाब समूह एवं मतदान व्यवहार आदि का अध्ययन व्यापक रूप से किया जाता है।

(ii) **मूल्य मुक्त अध्ययन-** आधुनिक राजनीति विज्ञान मूल्य मुक्ता अध्ययन पर जोर देता है। राजनीति विश्लेषण में यह मानवीय मूल्यों - जैसे नैतिकता, न्याय, स्वतंत्रता आदि को कोई स्थान नहीं देता। यह उन्हीं घटनाओं और तथ्यों को अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाता है जिन्हें या तो देखा गया है या भविष्य में देखा जा सकता है।

(iii) **वैज्ञानिकता-** राजनीतिक वैज्ञानिक आज इस अध्ययन को अधिकाधिक वैज्ञानिक बनाना चाहते है। वे इस अध्ययन में नवीन तकनीकों का प्रयोग चाहते हैं। इस प्रकार राजनीति शास्त्र राजनीतिक धटनाओ तथा तथ्यों को वैज्ञानिकता कसौटी पर परखते हुये विश्लेषण करता हैं।

(iv) **अन्तः-अनुशासनात्मक अध्ययनों पर बल-** आधुनिक राजनीति विज्ञान की प्रवृति अन्तः-अनुशासनात्मक अध्ययनों पर जोर देने की है। आधुनिक ने समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, आदि विषयों से बहुत कुछ लिया है। परिणाम यह हुआ है कि राजनीति विज्ञान में ऐसा बहुत कुछ आ चुका है जिससे यह राजनीति समाजशास्त्र और राजनीतिक मनोविज्ञान जैसा प्रतीत होता है।

(v) **नवीन राजनीतिक शब्दावली का प्रयोग-** आधुनिक राजनीति वैज्ञानिक नयी शब्दावली तथा नयी अवधारणओ का प्रयोग करने लगे हैं। अब राजनीति विज्ञान का अध्ययन राजनीतिक विकास, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक समाजीकरण जैसी नयी अवधारणओं के परिप्रेक्ष्य में किया जाने लगा है। इन अवधारणाओं के स्पष्ट और निश्चित अर्थ होते है।

(vi) **शोध तथा सिद्धान्त का सम्बन्ध-** आधुनिक राजनीति ने इस सिद्धान्त की प्रक्रियाओं को शोधोन्मुखि माना है। इनके अनुसार शोध तथा में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ये निरन्तर

सिद्धान्त निर्माण के कार्य में व्यस्त रहते हैं। राजनीतिक तथ्यों तथा विभिन्न घटनाओं के सम्बन्ध में शोध कार्य करते रहते हैं।

संक्षेप में आधुनिक राजनीति विज्ञान ने राजनीति विज्ञान को संस्थाओं के अध्ययन से बाहर निकाल कर व्यक्ति और उसके व्यवहार के अध्ययन तक पहुंचाया है और साथ ही उन तकनीकों का प्रयोग भी किया है जिनका प्रयोग अब तक राजनीति विज्ञान में किया जाना संभव नहीं माना जाता था।

1.4 तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों का विवेचन करने के बाद दोनों दृष्टिकोणों मध्य अंतर को निम्न बिंदुओं के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है-

(i) परम्परागत दृष्टिकोण का काल मुख्यत: द्वितीय महायुद्ध तक माना जाता है, वहीं आधुनिक दृष्टिकोण का उद्भव द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ।

(ii) परम्परागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत राज्य, सरकार एवम् राजनीतिक संस्थाओं के संगठन व कार्यो का व्यक्ति व राज्य के मध्य संबंधों का अध्ययन वैधानिक विधि से किया जाता था, वहीं आधुनिक दृष्टिकोण व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन पर बल देता है। वह राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन को भी व्यवहारवादी दृष्टि से करने पर बल देता है।

(iii) परम्परागत दृष्टिकोण राजनीति विज्ञान की विषय वस्तु का राजनीतिक दृष्टि से अध्ययन करता है, वहीं आधुनिक दृष्टिकोण अन्य सामाजिक विषयों से मदद का पक्षधर है। वह अन्तर-विषयक दृष्टिकोण का समर्थक है।

(iv) परम्परागत राजनीति विज्ञान राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन मुख्यत: वैधानिक दृष्टि से करता हे इसे औपचारिक अध्ययन भी कहते है। वहीं आधुनिक दृष्टिकोण राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन उन प्रक्रियाओं एवं प्रभावों के संदर्भ में करता है जो इन संस्थाओं को प्रभावित करती है

(v) परम्परागत दृष्टिकोण के अंतर्गत ऐतिहासिक दार्शनिक व तुलनात्मक पद्धतियों का प्रयोग किया जाता था। वहीं आधुनिक दृष्टिकोण के अंतर्गत वैज्ञानिक प्रविधि-सांख्यिकीय, गणितीय, सर्वेक्षणात्मक आदि पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है।

(vi) परम्परागत दृष्टिकोण मूल्य, आदर्श, कल्पना पर आधारित था वहीं आधुनिक दृष्टिकोण मूल्य निरपेक्ष यथार्थवादी अध्ययन पर बल देता है।

(vii) परम्परागत दृष्टिकोण में प्रामाणिकता एव निश्चयात्मकता का अभाव है, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण में प्रामाणिकता एवं निश्चयात्मकता अधिक पायी जाती है।

1.5 सारांश

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जिस व्यवहारवादी आंदोलन का उदय हुआ उसने परम्परागत राजनीति विज्ञान की कमियों को उजागर किया और राजनीति विज्ञान को नवीन तथ्य, नवीन अध्ययन सामग्री और पद्धतियाँ प्रदान की। आधुनिक दृष्टिकोण ने राजनीति विज्ञान को नया

अर्थ और नयी परिभाषा दी एवं नवीन तकनीकों का प्रयोग भी आरम्भ किया किन्तु उससे अन्य कई समस्यायें उत्पन्न हो गयी। परिणामस्वरूप एक बार पुन: परम्परावाद की तरफ देखा जाने लगा। वर्तमान में लियो स्ट्रॉस, माइकेल ऑकशॉट, अल्फ्रेड कोबेन और हाना आरेण्ट ऐसे विद्वान है जिन्होंने परम्परावादी राजनीति विज्ञान के प्रमुख आयामों (नैतिकता, न्याय, और मूल्य) का समर्थन करते हुए आधुनिक सन्दर्भो में उसके विकास का प्रयत्न किया है।

वस्तुत: वर्तमान में इस बात पर जोर दिया जाने लगा है कि परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोणों के बीच उचित समन्वय स्थापित किया जाये। जैसा कि पिनॉक एवं स्मिथ ने लिखा है कि 'क्या है (यथार्थ) तथा क्या होना चाहिए (आदर्श) और इन दोनों के बीच यथासंभव समन्वय कैसे प्राप्त किया जाये, इस से हम सरकार तथा राजनीतिक प्रक्रिया के व्यवस्थित अध्ययन को राजनीति विज्ञान कह सकते है।

1.6 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. परम्परावादी दृष्टिकोण के अनुसार. राजनीति विज्ञान के अर्थ एवं क्षेत्र को स्पष्ट करें।

प्रश्न 2. आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अर्थ एवं क्षेत्र की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3. "जहाँ परम्परावादी विद्वान राजनीति विज्ञान को मुख्य तौर से राज्य तथा सरकार का अध्ययन करने वाला विषय मानते हैं वहीं आधुनिक लेखक शक्ति एवं मूल्यों का अधिकृत वितरण करने वाला विषय मानते हैं।" विवेचना कीजिए।

1.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. आशिर्वादम् पॉलिटिकल थ्योरी, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, - दिल्ली, 1988।
2. ए. अप्पादोराई द सबस्टेनश ऑफ पॉलिटिक्स, ऑक्सफोर्ड, यूनिवसीआरटी प्रेस, नई दिल्ली।
3. एब्रेक्ट पोलिटिकल थ्योरी दि फाउन्डेशन ऑफ ट्वेनिटएथ सेडरी पोलिटिकल थॉट, दि टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रेस, बम्बई, 1965
4. रॉबर्ट मॉडर्न पोलिटिकल एनालिसिस, प्रेन्टिस, हॉल न्यूजर्सी, 1984।

इकाई-2

राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध सामान्य परिचय

- 2.2.1 राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र
- 2.2.2 राजनीति विज्ञान तथा नीतिशास्त्र
- 2.2.3 राजनीति विज्ञान तथा इतिहास
- 2.2.4 राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र
- 2.2.5 राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान
- 2.2.6 राजनीति विज्ञान तथा सांख्यिकी
- 2.2.7 राजनीति विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र
- 2.2.8 राजनीति विज्ञान तथा भूगोल

2.3 सारांश

2.4 अभ्यास प्रश्न

2.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- राजनीति विज्ञान के साथ अन्य समाज विज्ञानों के सम्बन्धों का ऐतिहासिक व तात्कालिक संदर्भ
- राजनीति विज्ञान तथा अन्य समाज विज्ञानों की पारस्परिक प्रभावशीलता व अर्न्तसम्बन्ध
- राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों के साथ सम्बन्धों के फलस्वरूप उदीयमान विकास व परिणाम; तथा
- राजनीति विज्ञान की व्यवहारवादी एवं उत्तर व्यवहारवादी मान्यताओं से विकसित अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण का औचित्य व प्रासंगिकता।

2.1 प्रस्तावना

अरस्तु के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन के समस्त आयाम (सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, राजनीतिक) उसकी जीवन शैली को सम्पन्न करते हैं। मानक जीवन की धुरी पर इन आयामों के सभी नियामक विषय परस्पर जुडकर सतत् परिचालित है। राजनीति इन सभी आयामों को समन्वित करने का महत्वपूर्ण कार्य

करती है। अत राजनीतिक अध्ययन की विषय-वस्तु इन समस्त विषयों से यथेष्ट समृद्ध होती है।

राजनीति विज्ञान एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों की घनिष्ठता के कारण ही राजनीति विज्ञान के अध्ययन में प्राचीन काल से अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन की परम्परा रही है। प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो, अरसा की रचनाओं में दर्शन व आचारशास्त्र से राजनीति की घनिष्ठता स्पष्ट होती है। मध्ययुगीन विचारक सेण्ट आगस्टाइन व टॉमस एक्वीनास की रचनाओं में धर्मशासत्र व नीतिशास्त्र के साथ राजनीति की घनिष्ठता प्रकट होती है। 16वीं सदी अर्थात् आधुनिक युग प्रारम्भ के विद्वान मैकियावली ने इतिहास का अपने वैचारिक आधार में प्रयोग किया। उसके बाद हाब्स ने ज्यामिति यांत्रिकी तथा चिकित्सा शास्त्र के तथ्यों व सिद्धान्तों का उपयोग किया। व मॉन्टेरक्यू ने राजनीति व भूगोल की घनिष्ठता को स्पष्ट किया। 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध व 19वीं सदी के प्रारम्भिक काल में राजनीति विज्ञान व अन्य समाज विज्ञानों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकारने में बाधा आयी क्योंकि इस काल में विभिन्न विज्ञानों द्वारा अपने को पूर्ण एवं स्वतंत्र विज्ञान '। पर बल दिया गया। किन्तु 19वीं सदी के मध्यकाल से पुन: इस तथ्य को स्वीकारा जाने, कि सभी समाज विज्ञानों में घनिष्ठ संबन्ध होते है। कार्ल मार्क्स एवं काम्टे ने सामाजिक विज्ञान की घनिष्ठता पर बल दिया। प्रमुख समाज विज्ञानों से राजनीति विज्ञान की घनिष्ठता की विवेचना. 2.2 क्रमांक में व्यक्त की गई है।

2.2 राजनीति विज्ञान का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध : सामान्य परिचय

20 वीं सदी के प्रारम्भ के साथ ही राजनीति विज्ञान की अन्य विज्ञानों से घनिष्ठता प्राय: नेर्विवाद रूप से स्वीकारी जाने लगी। व्यवहारवाद एवं उत्तर-व्यवहारवाद ने अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन की अनिवार्यता को स्थापित किया। इस विकास में अमेरिकी राजनीति वैज्ञानिकों विशेषकर शिकागो स्कूल के राजनीति वैज्ञानिकों का प्रमुख योगदान रहा है। केटलिन रड्p० मेरियम, गॉस्वेल लासवेल, डेविड ईस्टन, स्टुअर्ट राइस, वीओ. की. (जूनियर) आदि ने अनुभव' प्रमाणों के आधार नर अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययनों को पुख्ता किया। पॉल जेनेट ने लिखा है कि "राजनीति शास्त्र का राजनीतिक अर्थव्यवस्था या अर्थशा२त्र से गहरा सम्बन्ध है' इसका कानून से सम्बन्ध है चाहे वह प्राकृतिक हो या मानवीय जो कि नागरिकों के आपसी संबन्धों को नियमित है, वह इतिहास से सम्बन्धित है जो कि इसको आवश्यकता के अनुसार 'तथ्य' देता है, इसका 'तत्व ज्ञान' या दर्शनशारत्र और विशेषकर नैतिकता या आचार से सम्बन्ध है जो कि इसको सिद्धान्त देता है। अत: राजनीति विज्ञान के आठ अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्धों की विस्तार से विवेचना क्रमांक- 2.2.1 से लेकर 2.2.8 तक की गई है। हम राजनीति विज्ञान के साथ अन्य समाजविज्ञान से सम्बन्ध को तदनुसार व्यक्त करेंगे।

2.2.1 राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का सम्बन्ध समाज तथा व्यक्ति के आर्थिक क्रियाकलापों से है। इसे 'धन' का विज्ञान भी कहा जाता है। राजनीति विज्ञान का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सब्ज' हैं प्राचीन यूनानी विचारक अर्थशास्त्र को एक स्वतंत्र विषय नहीं मानते थे, उसका अध्ययन राजनीति विज्ञान के अंग के रूप में करते थे। इसलिए वे अर्थशास्त्र को 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' कहते,। उदाहरण के लिए अरस्तु की 'राजनीति' नामक पुरतक का उल्लेख किया जा सकता है। प्राचीन भारतीय विचारक भी इसी मान्यता के थे, मनु द्वारा रचित' मनुस्मृति' में राजनीतिक विचारों के सा आर्थिक विचार भी मिलते हैं, कौटिल्य ने तो अपनी राजनीति सस्कधी पुस्तक का नाम ही अर्थशास्त्र रखा।

श्री गुरूमुख निहालसिंह के अनुसार, प्रारम्भिक दिनों में अर्थशास्त्र को राजनीति विज्ञान की एक शाखा माना जाता था। उसका विषय राज्य के लिए राजस्व प्राप्त करना था। इसी कारण इसे 'घरेलू अर्थशास्त्र' की अपेक्षा "राजनीतिक अर्थशास्त्र" कहा जाता था।" अर्थशास्त्र शब्द यह प्रकट करता था कि अर्थशास्त्र राजनीति विज्ञान के अधीन है।" आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता 'एडम स्मिथ' ने अपनी पुस्तक का नाम 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' रखा तथा अर्थशास्त्र को जनता एवं राज्य को समृद्ध करने वाला शास्त्र बताया। मैकियावेली, लॉक, मेडीसन, जेस्समिल, बैंथम, जे० एस० मिल, आदि विद्वानों ने आर्थिक एवं राजनैतिक विषयों की एक् साथ व्याख्या की है। आधुनिक राज्य लोक कल्याणकारी राज्य है, जिसके मुख्य कार्य आर्थिक हैं।

19 वीं सदी के महान् दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने अर्थशास्त्र को राजनीति का अंग मानने के बजाय राजनीति को अर्थशास्त्र का एक पहलू मात्र माना। आज बहुत से देशों में अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान के अध्ययन की एक ही संस्था है, जैसे- लन्दन स्कूल ऑफ इक्मॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल-साइन्स', केनेडइयन स्कूल ऑफ इक्मामिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंस आदि। अत: हम राजनीति विज्ञान एवं अर्थशास्त्र की परस्पर अन्तर-प्रभावशीलता को पृथक-पृथक उल्लेख करते हुए दोनों विषयों में अन्तर स्पष्ट करेंगे।

राजनीति विज्ञान पर अर्थशास्त्र के मुख्य प्रभाव निम्नलिखित हैं:-

1. आर्थिक लोकतंत्र के अभाव में राजनैतिक लोकतंत्र व्यर्थ है।
2. हर राजनैतिक क्रांति के पीछे आर्थिक कारण रहते हैं।
3. हर राजनैतिक विचारधारा जैसे उदारवाद, समाजवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद, फासीवाद, आदि का आर्थिक आधार है।
4. मानव तथा समुदायों का राजनैतिक व्यवहार, आर्थिक कारणों पर आधारित रहता है।
5. राजनैतिक ढाँचा आर्थिक सम्बन्धों की छाया के रूप में होता है।
6. राजनैतिक कानूनों तथा नीतियों के पीछे आर्थिक उद्देश्य रहते हैं।
7. स्वतंत्रता, समानता, अधिकार, सामाजिक न्याय, एवं प्रजातंत्र जैसे राजनैतिक आदर्शो का मूल्यांकन आर्थिक आधार पर ही किया जा सकता है।

8. दोनों की अध्ययन वस्तु सामाजिक मानव है तथा उद्धेश्य मानव तथा समाज का कल्याण है।

अर्थशास्त्र पर राजनीति विज्ञान का प्रभाव

केवल राजनीति पर ही अर्थशास्त्र का प्रभाव नहीं पडता बल्कि अर्थव्यवस्था पर भी राजनीति का गहरा प्रभाव पडता है। प्रमुख प्रभाव निम्न हैं-

1. सरकारों में परिवर्तन, राजनैतिक अस्थिरता, युद्ध आदि अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते है।
2. राज्य अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण करता है। आर्थिक योजना (Economic Planning) राज्य के महत्वपूर्ण कार्यो में से एक है।
3. राज्य उत्पादन-वितरण, मूल्य-नियंत्रण मुद्रा, व्यापार, श्रमिक पूँजीपति संबन्ध, बजट, बैंकिंग, आयात-निर्यात आदि के मामले में मुख्य भूमिका निभाता है।
4. आज का राज्य जैसा गैलबर्थ लिखते हैं, औद्योगिक राज्य (Industrial State) है।

राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र में अंतर

दोनों विषयों की पारस्परिक अन्तर-प्रभावशीलता के कारण आज राजनैतिक अर्थशास्त्र का विकास हुआ है। किन्तु दोनों विषयों में कुछ समानताओं के बाबजूद मौलिक अतर हैं, मुख्य अन्तर निम्न हैं:-

1. राजनीति विज्ञान मानव के राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित है, अर्थशारत्र भौतिक, आर्थिक जीवन से सम्बन्धित है।
2. राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मानवीय मूल्यों (Human Value) से है अर्थशारत्र केवल मूल्य (Value) पर जोर देता है।
3. राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राजनीतिक शक्ति से है।, अर्थशास्त्र 'अर्थव्यवस्था' से है।
4. राजनीति आदर्शात्मक (Normative) विज्ञान है। इसका नैतिक भी है किंतु अर्थशास्त्र वर्णनात्मक (Descriptive) विज्ञान है।

अत: यह कहा जाता सकता है कि राजनीति विज्ञान एवं अ में अध्ययन विषय, प्रकृति, उद्देश्य तथा क्षेत्र की दृष्टि से आधारभूत अन्तर भी हैं। इसलिए ने लिखा है- 'राजनीति शास्त्र राज्य का विज्ञान है, अर्थशास्त्र सम्पति का विज्ञान है। विषयों की घनिष्ठता के सम्बन्ध में चार्ल्स बियर्ड ने कहा है, अर्थशास्त्र के बिना राजनीति अवास्तविक तथा महत्वहीन रचना मात्र है। '

2.2.2 राजनीति विज्ञान तथा नीतिशास्त्र

राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र में पररपर अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैकेन्जी का कथन है, 'नीतिशास्त्र मात्र आचरण में निहित आदर्शो का अध्ययन है।" इस नीतिशास्त्र व्यक्ति के आचरण से सम्बन्धित है, किन्तु राजनीति विज्ञान राज्य के आचरण से है तो भी इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि हम राजनीतिक कार्यो औचित्य का निश्चय नीतिशास्त्र की मान्यताओं के आधार पर ही करते हैं। फॉय का कथन है, कोई बात नैतिक दृष्टि

से गलत है तो वह राजनीतिक दृष्टि से भी सही नहीं हो सकती है।" इन की घनिष्ठता को अभिव्यक्त करते हुए गाँधीजी ने कहा है धर्महीन राजनीति राजनीति नहीं है। धर्महीन राजनीति मृत्यु-जाल है क्योंकि वह आत्मा के पतन का कारण बनती है। किन्तु व मैकियावली जैसे विचारकों का विश्वास है कि राजनीति और नैतिकता में न तो कोई है और न होनी चाहिए

संक्षेप में दोनों विषयों की पारस्परिक प्रभावशीलता को इस प्रकार किया जा सकता है-

नीतिशास्त्र का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव

नीतिशास्त्र ने राजनीति विज्ञान को निम्न रूप में प्रभावित किया -

राजनीति विज्ञान, नीतिशास्त्र का अनुसरण करता है। अत्यन्त, समय से ही राजनीति विज्ञानियों का विचार रहा है कि राजनीति विज्ञान को नीतिशास्त्र का अनुचित करना चाहिए। प्लेटो का विचार था कि राजनीति विज्ञान दर्शनशास्त्र की एक शाखा है और नागरिक को सदगुणी भी होना चाहिए। अपने राज्य का उद्देश्य नैतिक मूल्यों की प्राप्ति माना। का विचार है 'राज्य सद्जीवन की प्राप्ति के लिए मौजूद है। लार्ड एक्टन का विचार है कि को नीतिशास्त्र का अनुसरण करना चाहिए और यदि वह नीतिशास्त्र से विमुख होती है तो स्वयं महत्वहीन हो जाती है।" मॉटेस्क्यू ने कहा है कि " यदि कोई ऐसा कार्य हो जो मेरे देश के लिए हो, किन्तु यूरोप के लिए हानिकारक अथवा यूरोप के लिए तो लाभदायक हो किन्तु मानव को हानि पहुँचाने वाला हो, तो मैं ऐसे कार्य को अपराध समझूँगा गांधीजी भारत की मानव जाति सेवा के लिए आवश्यक मानते थे।

राजनीति विज्ञान का नीतिशास्त्र पर प्रभाव

राजनीति विज्ञान ने नीतिशास्त्र को निम्न प्रकार प्रभावित किया है:-

1. राजनीति विज्ञान नैतिक जीवन को सम्भव बनाता है। राज्य शान्ति, व्यवस्था व सुरक्षा की स्थापना करता है, अनैतिक व्यक्तियों के आचरण से नैतिक व्यक्तियों की रक्षा करता है। यदि राज्य इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न न करे तो नैतिक जीवन भी सम्भव न हो।
2. राज्य वास्तविक नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है। प्रत्येक समाज में अनेक कुरीतियाँ परम्परागत नैतिक मूल्यों के रूप में उपस्थित रहती हैं और ये समाज की प्रगति में बाधक होती हैं। राज्य इस प्रकार अवास्तविक नैतिक मान्यताओं को समाप्त करता है और उनके स्थान पर वास्तविक व विवेक सम्मत नैतिक मूल्यों को कानून की मदद से स्थापित करता हैं। उदाहरण के लिए भारत में छूआछूत की अवास्तविक नैतिक मान्यता के स्थान पर राज्य ने कानून द्वारा सामाजिक समता के विवेक-संगत नैतिक मूल्य की स्थापना की है।
3. राज्य नैतिकता का जनक है। प्रत्ययवादी विचारक हीगल व बोसाके का मत है कि राज्य स्वयं नैतिकता का मूर्तरूप है और वह नैतिकता का स्वयं पालन या अनुसरण नहीं करता है अपितु नैतिकता का निर्धारण करता है।

राजनीति विज्ञान तथा नीतिशास्त्र में अन्तर

प्लेटो, अरस्तू फॉय, लार्ड एक्टन, हीगल, बोसाके, मॉटेस्क्यू गांधी आदि ने नीतिशास्त्र व राजनीति विज्ञान के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है, वहीं मैकियावली बोदी, ग्रोशियस, हॉब्स, तथा आधुनिक राजनीति विज्ञान के व्यवहारवादी अमेरिकन विद्वानों ने दोनों विषयों के बीच बहुत अन्तर माना है और इनमें पररपर कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया है। दोनों विषयों में निम्न अन्तर है।

1. अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से राजनीति विज्ञान की तुलना में नीतिशास्त्र अधिक व्यापक है। राजनीति विज्ञान मूल रूप से मात्र राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है और वह परोक्ष रूप में नैतिक जीवन से सम्बन्धित है। जबकि नीतिशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक व वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित है।
2. प्रकृति की दृष्टि से राजनीति विज्ञान अधिक वर्णनात्मक व व्यावहारिक हैं जबकि नीतिशास्त्र अधिक आदर्शात्मक व सैद्धान्तिक विषय है। राजनीति विज्ञान मूर्त व प्रत्यक्ष बातों का अध्ययन करता है जबकि नीतिशास्त्र अमूर्त व अप्रत्यक्ष बातों का अध्ययन करता है।
3. राजनीतिक आदेशों व कानूनों के पीछे राज्य की भौतिक शक्ति या प्रभुत्व शक्ति होती है, किन्तु नैतिक मूल्यों व नियमों के पीछे मात्र नैतिक बल होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों विषयों में सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में मत-भिन्नता है। आधुनिक राजनीति विज्ञान में उत्तरव्यवहारवादी क्रान्ति ने भी दोनों विषयों की पारस्परिक घनिष्ठता को अपिरहार्य माना है। अत: सन्तुलित विचार यही है कि राजनीति विज्ञान व नीतिशास्त्र में अत्यधित घनिष्ठता है, पारस्परिकता है किन्तु दोनों विषय पृथक-पृथक हैं, अत: दोनों में आधारभूत अन्तर भी हैं।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. आधुनिक अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ की पुस्तक का नाम लिखो।

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. नीतिशास्त्र से राजनीति विज्ञान ने क्या लिया है ?

उत्तर: .....

.....

2.2.3 राजनीति विज्ञान तथा इतिहास

इतिहास मानव, मानव समुदाय, समाज, राज्य और अन्य संस्थाओ के उदय, विकास तथा पतन का वैज्ञानिक अध्ययन है। मानव सभ्यता तथा संस्कृति किन- किन दौर से गुजरी, कैसे क्यों गुजरी इसका अध्ययन इतिहास है। इतिहास गुजरे हुए जमाने का आईना है, जिसके द्वारा हम घटनाओं के कारण तथा प्रभाव (Cause and Effect) के सम्बन्धों को का प्रयत्न करते हैं। इतिहास हमें सामाजिक विज्ञान के नियमों की जानकारी देता है। विमान तथा इतिहास

परस्पर पूरक हैं। सीले के शब्दों में, "इतिहास बिना राजनीति की कोई. नहीं। राजनीति बिना इतिहास का कोई फल नहीं।" फ्रीमैन ने दोनों विषयों की घनिष्ठता को करते हुए कहा है, "इतिहास अतीत की राजनीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तथा राजनीति वर्तमान वर्तमान इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" अत:: दोनों विषयों की पारस्परिक प्राभावशीलता' का अवलोकन आवश्यक है।

इतिहास का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव

इतिहास ने राजनीति विज्ञान को निम्न प्रकार प्रभावित किया है:

1. इतिहास राजनीति विज्ञान का आधार है- इतिहास विगत की राजनीतिक घटनाओं व तथ्यों का एक ऐसा संग्रह है जिससे राजनीति विज्ञान को अपने सिद्धान्तों-' के निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है। लार्ड एक्टन ने कहा है, " राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसे इतिहास की धारा नदी के रेत में स्वर्ण- कणो की भाँति संग्रह करती है।" विज्ञान इतिहास का मूल्यांकन अनुभव है, जिससे राजनीतिक संस्थाओं को सत्त्व में सहायता मिलती है। गैटिल का विचार है" राजनीतिक संस्थाओं को उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है।"
2. इतिहास राजनीति विज्ञान की प्रयोगशाला है- अतीत के राजनीतिक कार्यों के परिणाम एवं प्रभाव का विवरण इतिहास में मिलता है। राजनीतिक क्षेत्र की इन घटनओं को प्रयोग कहा जाता है और इतिहास को प्रयोगशाला कहा जाता है। उदाहरण के लिए भारत में जब भी केन्द्रीय शक्ति कमजोर हुई भारत की आजादी को खतरा हुआ है। इसलिए संविधान में केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। अतीत के प्रयोग व अनुभव वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने में और भविष्य को सुन्दर बनाने में सहायक होते है। इतिहास राजनीति के विद्यार्थी को सामाजिक परिवर्तन प्रक्रिया के लिए अनत: दृष्टि प्रदान करता है।

राजनीति विज्ञान का इतिहास पर प्रभाव

राजनीति के बिना इतिहास का अध्ययन फलदायी नहीं हो सकता। राजनैतिक विचारधाराएँ, आन्दोलन, क्रांतियों तथा शासन व्यवस्थाएँ ही इतिहास के अध्ययन के मुख्य विषय हैं। राजनैतिक घटनाओं के उल्लेख तथा विश्लेषण के बिना इतिहास महज एक सस्ता साहित्य रह जाता है जिसका उद्देश्य मनोरंजन करना तो हो सकता है, ज्ञानवृद्धि करना नहीं। अत: राजनीति का इतिहास पर गहरा प्रभाव पडता है।

राजनीति विज्ञान तथा इतिहास में अन्तर

आर्नेस्ट बार्नर ने कहा है, “यद्यपि इतिहास व राजनीति विज्ञान की सीमाएँ आरम्भ से अन्त तक परस्पर सम्बन्धित हैं, किन्तु वास्तव में दोनों भिन्न स्वतंत्र विषय है।“ अत: दोनों विषयों में मुख्य अन्तर निम्न हैं:-

1. **अध्ययन क्षेत्र की दृष्टि से -** इतिहास का क्षेत्र अधिक विस्तृत है जबकि राजनीति विज्ञान का सीमित है, राजनीति विज्ञान मनुष्य के राजनीतिक जीवन तथा राजनीतिक संस्थाओं का ही अध्ययन करता है, किन्तु इतिहास मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन व समस्त

संस्थाओं के अतीत का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान कालक्रम की दृष्टि से व्यापक है। राजनीति विज्ञान न केवल अतीत व वर्तमान का अपितु भविष्य की दृष्टि से भी अध्ययन करता है, किन्तु इतिहास मात्र अतीत काल का ही अध्ययन करता है।

2. अध्ययन पद्धति की दृष्टि से इतिहास मात्र वर्णनात्मक पद्धति का प्रयोग करता है, किन्तु राजनीति विज्ञान पर्यवेक्षणात्मक व दार्शनिक पद्धतियों का भी प्रयोग करता है।

3. प्रकृति की दृष्टि से इतिहास अतीत की वास्तविक घटनाओं का अध्ययन करता है, अत: उसकी प्रकृति तथ्यात्मक है किन्तु राजनीति विज्ञान की प्रकृति आदर्शात्मक है, क्योंकि यह मात्र अतीत की राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन, नहीं करता, अपितु वर्तमान की समस्याओं पर भी विचार कर भविष्य को उज्ज्वल बनाने की आकांक्षा रखता है।

4. उद्देश्य में की दृष्टि - इतिहास का उद्देश्य है मात्र अतीत की तटस्थ जानकारी प्राप्त करना, किन्तु राजनीति विज्ञान का उद्देश्य है अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर वर्तमान व भविष्य को अधिक सुखद व लाभदायक बनाना।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों विषय एक सीमा तक एक दूसरे के अनुपूरक व सहायक है, उनमें पर्याप्त अन्तर भी हैं।

2.2.4 राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र

समाजशास्त्र सभी सामाजिक शास्त्रों की जड है। समाजशास्त्र सामाजिक समुदायों, जीवन, विचारों, संगठन इत्यादि का क्रमबद्ध ज्ञान है। यह सामाजिक जीवन के तमाम पहलुओं का अध्ययन करता है। सामाजिक जीवन के पहलुओं में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सभी पहलू शामिल हैं, 'समाजशास्त्र इनके मूल तत्वों का अध्ययन करता है।

19वीं 'शताब्दी में समाज शास्त्र के जन्मदाता कॉम्टे ने समाज के अध्ययन को विभिन्न विषयों में बांटने के बजाय एक ही विषय 'समाजशास्त्र' के अन्तर्गत रखने का सुझाव दिया। किंतु 19वीं शताब्दी के अंत तथा 20वी शताब्दी के आरम्भ में विभिन्न सामाजिक विज्ञान अस्तित्व में आए। समाजशास्त्र से उनका संबंध अवश्य है, क्योंकि हर सामाजिक शास्त्र, 'समाजशास्त्र' का ही अंग मात्र है। समाजशास्त्र मानव के राजनैतिक पहलू का भी अध्ययन करता है क्योंकि यह उसके सामाजिक जीवन का एक पहलू हैं, इसलिए राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र का आपसी संबंध है।

राजनीति विज्ञान पर समाजशास्त्र का प्रभाव

राजनीति विज्ञान पर समाजशास्त्र के मुख्य प्रभाव निम्न हैं:-

1. जो संबंध राज्य तथा समाज में है, वही सम्बन्ध राजनीति राजनीति तथा समाजशास्त्र में है। राजनीति समाज की सेवा करने वाली, या समाज के एक वर्ग सेवा करने वाली, संस्था मानी जाती है, और यह समाज के विकास की एक निश्चित दशा में उभरती है। अत: समाज के विकास के नियमों को जाने बिना राजनीति विज्ञान का नहीं किया जा सकता।

2. पिछले 20-25 वर्षो में राजनीति में व्यवहारवाद के विकास के साथ- समाजशास्त्र का राजनीति विज्ञान पर प्रभाव काफी बढ गया है। मानव का राजनैतिक समाज की परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित होता है। राजनैतिक व्यवहार समझने के लिए नागरिकों का राजनैतिक सामाजीकरण तथा समाज की राजनैतिक एवं परम्पराएं जानना आवश्यक है। इसलिए समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति को हद तक राजनीति विज्ञान में लगाया गया है। व्यवहारवाद के उदय से राजनीति तथा समाजशास्त्र काफी नजदीक आ गये है। और समाजशास्त्र का प्रभाव राजनीति पर पड़ा है।

3. समाजशास्त्र का राजनीति पर इतना अधिक प्रभाव पडा है कि राजनीति विज्ञान की एक नई शाखा स्थापित कर ली गई है। इसका नाम 'राजनैतिक समाजशास्त्र' रखा गया है। यह कहा जाता है कि आजकल राजनीति का सामाजीकरण और समाज राजनीतिकरण हो गया है, इस प्रकार दोनों विषय एक दूसरे से घुल मिल गये हैं। इस मिले जुले रूप का अध्ययन 'राजनैतिक समाजशास्त्र' के अन्तर्गत किया जाता है।

समाजशास्त्र पर राजनीति विज्ञान का प्रभाव

समाजशास्त्र पर राजनीति विज्ञान के मुख्य प्रभाव निम्न है:-

1. आजकल लोक कल्याणकारी राज्य के उदय हो जाने की वजह से राज्य तथा राजनीति, समाज के प्रत्येक क्षेत्र में घुस गई है। समाज के सारे सवाल सारे पहलू किसी न किसी रूप में राज्य तथा राजनीति से जुड गये हैं। समाज की हर संस्था एवं राजनीति से प्रभावित होता है। इसलिए समाजशास्त्र का अध्ययन राजनीति से गहरे में प्रभावित होता हैं। समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान के अध्ययन के बिना अधूरा है क्योंकि आज समाज की हर गतिविधि राजनीति से प्रेरित रहती है।

2. राजनीति विज्ञान समाजशास्त्र को वे तथ्य प्रदान करता है जिनकी सहयाता से समाजशास्त्र समाज के राजनैतिक जीवन का कुशलतापूर्वक अध्ययन करता है। राज्य की उत्पत्ति, संगठन, व कार्य आदि का ज्ञान समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान से ही करता है।

राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में अन्तर

प्रोफेसर केटलिन का कथन है कि " राजनीति विज्ञान तथा अभिन्न हैं और कसाव में एक वस्तु के दो पहलू हैं।" किन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि दोनों शास्त्रों में पर्याप्त अन्तर है। दोनों विषयों में मुख्य अन्तर निम्न हैं:-

1. समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक है।
2. राजनीति विज्ञान राजनैतिक पहलू का अध्ययन अधिक गहराई करता है, जबकि समाजशास्त्र का विषय मूलभूत तत्वों तक ही सीमित है।
3. समाजशास्त्र संगठित तथा असंगठित सभी प्रकार के समूहों का अध्ययन करता है, राजनीति विज्ञान, केवल राजनीतिक रूप से संगठित समूहों का अध्ययन करता है।
4. समाजशास्त्र मूलत: एक वर्णनात्मक विज्ञान है जबकि राजनीति विज्ञान वर्णनात्मक होने के साथ ही आदर्शात्मक विज्ञान है। अर्थात् समाजशास्त्र मात्र अतीत तथा वर्तमान का

ही अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान भविष्य का भी अध्ययन करता है। वह यह भी विचार करता है कि भविष्य में क्या होना चाहिए

5. समाजशारत्र राजनीति विज्ञान से अधिक पुराना है, क्योंकि यह मानव के ऐतिहासिक विकास तथा समाज के उदय का भी अध्ययन करता हैं जबकि राजनीति विज्ञान केवल राजनीतिक प्राणी का ही अध्ययन करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजशारत्र व राजनीति विज्ञान में जहाँ घनिष्ठ सम्बन्ध है वहीं स्पष्ट अन्तर भी है। उनकी पारस्परिक धनिष्ठता के सम्बन्ध में गिडिंग्स ने कहा है, समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्तों से अनजान व्यक्ति को राजनीतिशास्त्र पढ़ाना वैसा ही है जैसा कि न्यूटन के गति सस्कधी नियमों से अनजान व्यक्तियों को अन्तरिक्ष विज्ञान (एस्ट्रोनोमी) उष्मागतिकी (थरमोडायनेमिक्स) पढ़ाना।"

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. इतिहास के राजनीति विज्ञान पर दो प्रभाव लिखो।

उत्तर: (**i**).....

(**ii**).....

प्रश्न2. राजनीति विज्ञान तथा समाजशास्त्र में दो अंतर लिखो।

उत्तर: (**i**).....

(**ii**).....

2.2.5 राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान

प्रसिद्ध विद्वान स्काउट ने मनोविज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा है, "मनोविज्ञान व्यक्ति की उन आन्तरिक शक्तियों का अध्ययन करता है जो मनुष्य को अपने जीवन में अनुभव करने, विचार करने तथा इच्छा करने की योग्यता प्रदान करती है।" मनोविज्ञान विभिन्न मानसिक अवस्थाओं में मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है। मानव के बारे में हर ज्ञान का सम्बन्ध मानव के दिमाग, व्यवहार तथा सामाजिक परिस्थितियों से हैं, मनोविज्ञान मानव की भावनाओं (सैन्टीमैन्टस), मनोवेगों (इमोसन्स), वृत्तियों (इन्सटिंक्ट) आदि का अध्ययन भी करता है।

अत : राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान में स्वाभाविक रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस धनिष्ठता को बैजहॉट ने अपनी पुस्तक फिजिक्स एण्ड पॉलिटिक्स" (1873) में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। हैरोल्ड लासवैल ने मनोविज्ञान के तत्वों को राजनीति के अध्ययन में प्रयोग किये जाने पर बल दिया तथा इसे 'राजनैतिक मनोविज्ञान का नाम दिया जाता है। वर्तमान समय में लीबोन, मैकड्युगाल ग्राहम वालास टार्डे, दुर्खीम आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान की पारस्परिक घनिष्ठता को आवश्यक माना है। 1905 में पावलोव, वाटसन,

डाइक आदि ने 'व्यवहारवादी मनोविज्ञान' को प्रस्तुत किया। राजनीति विज्ञान में व्यवहारवाद के उदय से ये दोनों विषय और करीब आये।

राजनीति विज्ञान पर मनोविज्ञान का प्रभाव

मनोविज्ञान द्वारा राजनीति विज्ञान पर मुख्य प्रभाव निम्न हैं-

1. वर्तमान राजनीति विज्ञानी मानते हैं कि मनोविज्ञान वास्तविक अर्थो में राजनीति विज्ञान को आधार प्रदान करता है। बाइस का कथन है, राजनीति विज्ञान की जड़ें मनोविज्ञान में निहित है।" अर्थात् राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन सामाजिक मनोविज्ञान के संदर्भ में किया जाना चाहिए। वही नेतृत्व एवं शासन जनता में प्रभावशाली हुआ है जिसने राजनीति में मनोवैज्ञानिक्र तथ्यों का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से हिटलर, मुसोलिनी, आतातुर्क कमालपाशा, महात्मा गॉधी आदि की सफलता का रहस्य यही है कि वे अपने राष्ट्र की जनता के मनोविज्ञान को समझते थे।
2. राजनीति में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की उपयोगिता को स्वीकारते हुए वर्तमान राजनीति विज्ञानी मनोवैज्ञानिक अध्ययन पद्धति पर जोर देने लगे हैं। मनोवैज्ञानिक पद्धति बताती है कि मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार के पीछे बुद्धि, तर्क व विवेक के स्थान पर अबुद्धिवादी भावनाओं आदतों, प्रवृतियों तथा अनुकरण व संकेत आदि के तत्वों का विशेष महत्व होता हैं राजनीतिज्ञों ने इन निष्कर्षो का प्रयोग प्रमुख रूप से राजनैतिक प्रचार व चुनावों में सफल रूप से किया है। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्धों के दौरान दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी जनता में उत्साह बनाये रखने के उद्देश्य से मनोविज्ञान का कुशलतम प्रयोग किया था।
3. यह विश्वास किया जाता है कि जब शासन की नीतियाँ जनता के मनोविज्ञान के अनुसार निर्धारित की जाती हैं, तो जन-असन्तोष जन्म नहीं लेता और ' क्रान्ति की सम्भावना भी सीमित हो जाती है। फ्रान्स की क्रान्ति (1789) तथा बांग्लादेश के निर्माण के पीछे सम्बन्धित शासकों द्वारा जनता के मनोविज्ञान की उपेक्षा निहित थी।

मनोविज्ञान पर राजनीति विज्ञान का प्रभाव

राजनीति विज्ञान द्वारा मनोविज्ञान को मुख्य रूप से निम्न प्रकार; प्रभावित किया है:-

1. राजनीति विज्ञान मनोविज्ञान को राजनीतिक क्रियाकलापों से सम्बन्धित अध्ययन सामग्री प्रदान करता है जिससे मनोविज्ञान और भी समृद्ध होता है।
2. राजनीति जन मनोविज्ञान को प्रभावित करती है। प्रत्येक देश की शासन-व्यवस्था का उसकी जनता के सोचने, विचारने व कार्यो पर प्रभाव पड़ता है, अधिनायकवादी राज्य में जनता के मनोविज्ञान के क्रूर पक्ष उभरते हैं, किंतु प्रजातंत्र राज्य में उदारवादी तत्व प्रमुख रूप से दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व नाजी जर्मनी, फासिस्ट इटली व जापान की अधिनायकवादी व्यवस्थाओं ने इन देशों की जनता को साम्राज्यवादी व युद्ध-प्रिय बनाया था, किन्तु आज इन राज्यों में जनतंत्र है और इनकी जनता शान्तिप्रिय व मानवतावादी है।

राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान में अंतर

दोनों विषयों के बीच उपरोक्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के बावजूद निम्न मुख्य अंतर भी हैं -

1. **अध्ययन-क्षेत्र की दृष्टि से-** मनोविज्ञान समस्त मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करता है चाहे उसका सम्बन्ध किसी भी सामाजिक शास्त्र से हो।! राजनीति विज्ञान बाह्य राजनीतिक क्रियाओं का अध्ययन करता है।
2. **प्रकृति की दृष्ट से-** मनोविज्ञान एक यथार्थवादी विज्ञान है किन्तु राजनीति-विज्ञान यथार्थवादी होने के साथ आदर्शवादी भी है। मनोविज्ञान इस दृष्टि से विचार करता है कि मनुष्य की मनोवृति क्या थी और 'क्या है' किन्तु वह यह विचार नहीं करता कि उसे 'क्या होना चाहिये'। किन्तु राजनीति विज्ञान राजनीतिक जीवन के संदर्भ में न केवल यह विचार करता है कि वह 'क्या था और 'क्या है' अपितु यह भी विचार करता है कि उसे 'क्या होना चाहिये।
3. **आधारभूत धारणा की दृष्टि से-** मनोविज्ञान मनुष्य को भावनाओं के आवेग-संवेग से संचालित मानता है जबकि राजनीति विज्ञान मनुष्य को मूलत: बुद्धि सम्पन्न, विवकेशील एवं सभ्य प्राणी मानता है।
4. **विकास की दृष्टि से-** राजनीति विज्ञान अति प्राचीन विषय है उसका पर्याप्त विकास भी हो चुका है, किन्तु मनोविज्ञान एक नर्वान विषय है, मॉरिस जिन्सबर्ग के अनुसार तो यह अपने विकास की बाल्यावस्था में ही है।

उपरोक्त विवरण से दोनों विषयों के घनिष्ठ सम्बन्ध तथा आधारभूत अन्तर स्पष्ट हुए है। दोनों विषयों की घनिष्ठता की सीमा है मॉरिस जिन्सवर्ग ने राजनीति में मनोवैज्ञानिक तथ्यों के दुरूपयोग के विरूद्ध चेतावनी देते हुए कहा है कि, प्रजातंत्र में भ्रष्ट राजनेता जनता की भावनाओं से खिलवाड़ भी कर सकते हैं।

2.2.6. राजनीति विज्ञान तथा सांख्यिकी

कुछ लोगों को राजनीति और सांख्यिकी बिल्कुल विरोधी और एक-दूसरे के क्षेत्र दिख सकते हैं क्योंकि उनके अनुसार एक अनिश्चित मत का क्षेत्र है, और दूसरा सुनिश्चित मापन का क्षेत्र और इन दोनों के बीच एक बड़ी तथा अलंघ्य खाई है।

फिर भी ऐसा माना जाता है कि कई शताब्दियों से राजनीति और सांख्यिकी घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रही हैं। प्लेटो ने यह उद्घोषित किया कि आदर्श राज्य में नागरिकों की संख्या 5040 होनी चाहिए क्योंकि यह संख्या 59 भाजकों द्वारा पूरी पूरी बिभाज्य है और इस प्रकार उसमें मांत्रिक गुण है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि निरंकुश शासक न्यायशील शासक से 729 गुणा कम सुखी है क्योंकि यह संख्या 9 की धन है। क्योंकि विवेक, साहस, और संयम के तीन गुणों की विकृति निरंकुशता है, इसलिए यह धन निस्सन्देह प्राप्त होता है। प्लेटो के मस्तिष्क में किसी गणित के क्रियाशील होने का यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार 1 6वीं शताब्दी में अन्य दृष्टियों से ज्ञानी और सूक्ष्मदर्शी बोदी ने भी अपने राजनीतिक निष्कर्षो के समर्थन में अंकों के रहस्यवाद का अवलम्बन किया।

विश्व के इतिहास में सांख्यिकीय मापन का उद्भव अपेक्षाकृत हाल का है और विशेषकर 19वीं सदी की देन है। आधुनिक सांख्यिक प्रविधियों का प्रारम्भ सामान्यत: प्रसिद्ध बेल्जियम अध्येता अदोल्फक्वेतिले से माना जाता है, जिन्होंने अध्ययन के क्षेत्र में आधुनिक परिमाणात्मक मापन की नींव डालीं। शासन के क्षेत्र में सांख्यिकी का प्रयोग लोकवित्त के विकास के साथ विकसित हुआ। वस्तुत: सांख्यिकी के प्रयोग में राजनीति सभी सामाजिक विज्ञानों में प्रथम थी। सैन्य संगठन की आवश्यकताओं के साथ, करारोपण की माँगों के साथ, जनसंख्या के आकलन के प्रयोग की जानकारी के साथ, निर्वाचन सम्बन्धी युक्तियाँ के उद्भव के साथ. लागत-लेखा विधि द्वारा शासकीय क्रियाकलापों के मापन के साथ, राजकीय सेवा का शीघ्रता से विस्तार हुआ। राजनीतिक, आर्थिक, अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप मानव में राज्य की अभिरूचि का श्रेष्ठ उदाहरण जनगणना है। यह अभिरूचि शासन में विज्ञान के प्रादुर्भाव की दिशा में एक लम्बे कदम की द्योतक है।

व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के विकास के साथ-साथ शोध में सांख्यिकी का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया है। उच्चस्तरीय गणितीय सांख्यिकी और कम्प्यूटरों के अधिक संख्या में प्राप्त होने से नये क्षेत्रों में शोध करने में बहुत अधिक ठस मिली है। परीक्षण यंत्र, सर्वेक्षण पद्धतियाँ, सांख्यिकी विश्लेषण, प्रयोगशालाओं में छोटे पर किये गये प्रयोग गणितीय प्रारूप और परीक्षण जैसे तकनीकी अविष्कार अब राजनीति विज्ञान व्यापक रूप से प्रयोग में लाये जाने लगे।

राजनीति में गणित और सांख्यिकी के बढ़ते हुए प्रयोग से चिन्तित कतिपय आलोचकों का मत है कि क्या परिमाणात्मक मापन के बीच रहकर राज सिद्धान्त शब्दावली और प्रविधि की चकाचौंध में धुंधला न हो जायेगा जो वस्तुत: पूरी तरह से प्रयोग में न की जा सके। हो सकता है कि एक ओर हम गणितीय सुनिशचितता भी न पा सकें प दूसरी ओर दार्शनिक अनुशीलन से भी हाथ धो बैठें ?

फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मापन सामान्य निरीक्षण या धारणा पर आधारित मत को बहिष्कृत करने में सहायक होता है, मापन तथ्य प्रेषित करता है जिनको लेकर अपेक्षाकृत कम ही विवाद हो सकता है! संक्षेप में, राजनीति अनुभवसिद्ध रीति से हटकर अधिक सुनिश्चित मापन की ओर, कला से हटकर विज्ञान की ओर अग्रसर होने की सामान्य समस्या सामना कर रही है।

बोध प्रश्न-3

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. आधुनिक समय में राजनीति विज्ञान तथा मनोविज्ञान की पारस्परिकता को बदलने वाला मुख्य करण क्या है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. सांख्यिकी की आधुनिक परिमाणात्मक मापन पद्धति की नीव किसने डाली?

उत्तर: .....

.....

2.2.7 राजनीति विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र जीवन और जगत की प्रकृति और उसके मूल सम्बन्धी मानव की खोज से सम्बन्धित शास्त्र है। यह उन सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनका प्रतिपादन सृष्टि, जीवन और जगत के सम्बन्ध में किया गया है।

राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले 'राजनीतिक जीवन और 'राजनीतिक विश्व उस विश्व का ही भाग है, जिसकी प्रकृति और जिसके मूल की खोज, के अध्ययन का विषय है। इस दृष्टि से इन दोनों विषयों का परस्पर सम्बन्ध होना' है।

राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र की पारस्परिकता

राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र में निम्न मुख्य समानतायें हैं : -

1. **उद्देश्यों की समानता-** दर्शनशास्त्र का उद्देश्य इस बात की खोज करना है कि सृष्टि क्या है, विश्व क्या है, इन सबके मूल में क्या है। राजनीति विज्ञान का उद्देश्य भी राज्य और राजनीतिक जीवन के स्वरूप तथा उसके मूल की खोज करना है। ये दोनों ही विषय अपने अध्ययन विषय के मूल और उसकी प्रकृति का अध्ययन करने के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार दोनों विषयों का उद्देश्य समान है।
2. **अध्ययन के स्वरूप की समानता-** दर्शनशास्त्र सैद्धान्तिक और वैचारिक अध्ययन का विषय है। जीवन की प्रकृति और उसका मूल तत्व चेतन, अचेतन, द्वैतवाद आदि उसके अध्ययन विषय के प्रमुख तत्व हैं। यद्यपि राजनीति विज्ञान का समस्त अध्ययन विषय मात्र सैद्धान्तिक और वैचारिक नहीं है और आज राजनीति विज्ञान में व्यावहारिक राजनीति के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है। लेकिन आज भी सैद्धान्तिक अध्ययन इस विषय के सम्पूर्ण अध्ययन का एक प्रमुख भाग बना हुआ हैं राज्य की उत्पत्ति, राज्य का उद्देश्य, स्वतंत्रता, समानता, विधि, सम्प्रभुता और ऐसी अनेक राजनीतिक धारणाओं और राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन इस विषय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है।
3. **अध्ययन पद्धति की समानता-** दर्शनशास्त्र की अध्ययन पद्धति दार्शनिक है। राजनीति विज्ञान की दो अध्ययन पद्धतियाँ है। पहली-आनुभविक वैज्ञानिक पद्धति दूसरी-दार्शनिक पद्धति जिसका प्लेटो, थॉमस मूर, रूसो, हीगल, ग्रीन तथा बोसाके आदि ने प्रमुख रूप से प्रयोग किया है। अत: दोनों में यह पद्धति समान रूप से प्रयुक्त की जाती है।

राजनीति विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र में अन्तर

दोनों विषयों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी मुख्य अन्तर निम्न हैं -

1. 1 दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण जीवन, जगत और सृष्टि के नियामक तत्व का अध्ययन करता है लेकिन राजनीति विज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र मुख्य रूप से मनुष्य का राजनीतिक जीवन और राजनीतिक विश्व है।

2. दर्शनशास्त्र की मूल प्रकृति सैद्धान्तिक और वैचारिक है। किन्तु राजनीति विज्ञान की प्रकृति सैद्धान्तिक और वैचारिक ही नहीं है, बल्कि व्यावहारिक अध्ययन और तथ्यात्मक विश्लेषण भी उसकी प्रकृति का एक प्रमुख अंग हैं।
3. राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मुख्यतया साकार, मूर्त और प्रत्यक्ष से है जबकि दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध मुख्यतया निराकार, अमूर्त व अप्रत्यक्ष से है।

2.2.8 राजनीति विज्ञान तथा भूगोल

भूगोल का सम्बन्ध भूमि, (बल, वायु, वर्षा, खनिज पदार्थ, कृषि, समुद्र, नदी तथा पहाड इत्यादि से होता है। भूगोल उन 'प्राकृतिक' दशाओं का वर्णन करता है जिनका मनुष्य के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। राज्य के निर्माणकारी तत्वों में भूखण्ड अर्थात पृथ्वी जल तथा वायु होते हैं। अत: भूगोल और राजनीति विज्ञान परस्पर घनिष्ठ रूप से संबद्ध होते हैं।

राजनीति विज्ञान तथा भूगोल की पारस्परिकता- अरस्तू ने सर्वप्रथम प्रतिपादन किया था कि जलवायु, भूमि, समुद्री तट, पहाड और नदियाँ तथा खाड़ियाँ आदि राजनीतिक इतिहास तथा किसी देश की सभ्यता और संस्कृति पर अमिट छाप छोड़ देती है। बोदी ने राजनीति विज्ञान तथा भूमि के सम्बन्ध की घनिष्ठता पर बल दिया है। मान्टेरक्यू का कथन था ठण्डे देशों के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता तथा गर्म देशों के लिए दासता स्वाभाविक है।" रूसो ने 18वी शताब्दी में जलवायु तथा सरकार में सम्बन्ध स्थापित करते हुए कहा है कि "गर्म जलवायु निरंकुश शासन के लिए, ठण्डी जलवायु बर्बरता के लिए और सम जलवायु अच्छे जनतंत्रीय शासन के लिए उपयुक्त होती है।" थॉमस वक्त के अनुसार "किसी देश के लोगों के चरित्र और उनके राजनीतिक संस्थाओं को निर्धारित करने वाला सबसे प्रमुख तत्व, उनकी भौगोलिक एवं भौतिक है।" ब्लंटशली रायटर और मेकाइवर आदि आधुनिक विद्वानों ने भी राजनीतिक जीवन पर। परिस्थिति यों के प्रभाव के महत्व को स्वीकार किया है।

किसी भी देश के समाज की राजनीतिक समस्याओं तथा जीवन को समझने के लिए वहाँ के भूगोल का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। भूगोल राष्ट्र की गृहनीति व विदेश नीति को भी प्रभावित करता है। अमेरिका तथा रूस की राष्ट्रीय शक्ति वृद्धि का कारण, उनकी प्राकृतिक सम्पदा और विभिन्न पदार्थो की बहुतायत रहा है।

अपनी भौगोलिक स्थिति, खनिज पदार्थो की बहुतायत एवं पेट्रोल, के विशाल भण्डार के कारण आज पश्चिमी एशिया के देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र बन गये हैं। स्विटजरलैण्ड में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की सफलता का कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति है भूटान _ और नेपाल जैसे देशों का राजनीतिक दृष्टि से पिछडा होना साधनों की दृष्टि से उनके असम्पन्न होने के कारण है। भूगोल के बढ़ते महत्व के कारण 'भू-राजनीति' नाम से एक नये विषय का निर्माण हुआ है जो भौगोलिकता के राजनीति प्रभावों का अध्ययन करता है।

राजनीति विज्ञान तथा भूगोल में अन्तर

भूगोल तथा राजनीति विज्ञान में पारस्परिकता होते हुए भी दोनों में निम्न अन्तर हैं: -

1. **विषय वस्तु में अन्तर**- भूगोल के अन्तर्गत विभिन्न देशों की प्राकृतिक दशा, जलवायु तथा वनस्पति आदि का अध्ययन किया जाता है, जबकि राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज सरकार, विधि एवं व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार आदि का अध्ययन, किया जाता है।
2. **प्रकृति में अन्तर**- भूगोल ठोस तथ्यों से सम्बन्धित विज्ञान है, राजनीति विज्ञान तथ्यों के साथ- साथ आदर्श का चित्रण भी करता है।
3. **निश्चितता में अन्तर**- भूगोल एक निश्चित विज्ञान है तथा उसके नियमों में निश्चितता रहती है। जबकि राजनीति विज्ञान अनिश्चित विज्ञान की श्रेणी में आता है।

बोध प्रश्न- 4

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. राजनीति विज्ञान और दर्शनशास्त्र में दो अन्तर लिखिये।

उत्तर: (i) .....

(ii) .....

2. राजनीति विज्ञान में भूगोल के बढ़ते महत्व के कारण आज एक विषय का विकास हुआ है, उसका नाम लिखिये।

उत्तर: .....

.....

2.3 सारांश

समाजशास्त्रों में पारस्परिक अर्न्तनिर्भरता पायी जाती है। कोई भी एक समाज विज्ञान समाज का उचित एवं समग्र अध्ययन नहीं कर सकता। क्योंकि समाज तथा सामाजिक मानव के हर पहलू आपस में इस तरह जुडे हुए हैं कि उन्हें अलग-अलग करके अध्ययन करना असंभव है। इसलिए तमाम समाजशास्त्र आपस में सम्बन्धित हैं और अन्तर्शास्त्रीय अध्ययन पद्धति ने फिर से समाजशास्त्रों के इस सम्बन्ध को उभार दिया है। आज राजनैतिक अर्थशास्त्र (पॉलिटिकल इकोनॉमी), राजनैतिक नैतिकता (पॉलिटिकल मौरेलिटी), राजनैतिक इतिहास (पॉलिटिकल हिस्ट्री), राजनैतिक समाजशास्त्र (पॉलिटिकल सोशियोलॉजी), राजनैतिक मनोविज्ञान (पॉलिटिकल साइकोलॉजी), तथा राजनैतिक भूगोल (पॉलिटिकल ज्योग्रॉफी) आदि विभिन्न राजनीति विज्ञान की नई शाखाओं का खुलना इस बात का प्रतीक है कि राजनीति विज्ञान अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध स्थापित किये बिना नहीं चल सकता। न ही अन्य समाज विज्ञान, राजनीति विज्ञान से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं। समाज के जटिल संगठन का अध्ययन समाज विज्ञानों की आपसी एकता तथा आदान-प्रदान से ही किया जा सकता है। गार्नर ने भी कहा है- 'हम दूसरे सहायक विज्ञानों या विषयों के ज्ञान के बिना, राज्य की तथ्यात्मक घटनाओं की पूर्णता के एक विज्ञान के रूप में राजनीति विज्ञान को पर्याप्त मात्रा में नहीं समझ सकते है।'

2.4 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. क्या आप इस कथन से सहमत है " राजनीति विज्ञान उन समस्त सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित है जो संगठित समाज में मानव का विवेचन करते है।" इस सम्बन्ध में अपने विचारों का परीक्षण कीजिए।

प्रश्न 2. क्या आप इस कथन से सहमत है कि " समकालीन राजनीति विज्ञान इतिहास की अपेक्षा समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के अधिक निकट है।" आवश्यक उदाहरण देकर समझाइए।

प्रश्न 3. आलोचनात्मक दृष्टि से राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध अग्रलिखित विषयों के साथ संक्षेप में लिखिये -

(1) भूगोल (2) नीतिशास्त्र (3) मनोविज्ञान।

2.5 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सी. बी. मैकर्फसन – पोलिटिकल थ्योरी ऑफ पाजेसिव इनडिवीज्वलिज्म " आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1973
2. गिलक्राइस्ट – प्रिंसीपल ऑफ पोलिटिकल साइंस
3. ए. गिडिंग्स – प्रिंसीपल ऑफ सोशियोलोजी
4. जे. एच. शुम्पीटर – कैप्टलिज्म, सोशियोलिज्म एण्ड डेमोक्रेसी, हार्पर एण्ड री, न्यूयार्क, 1950
5. लार्ड ब्राइस – माडर्न डेमोक्रेसीज वोल्युम. 1, मैकमिलन लंदन, 1921
6. पी. जी. गैटील – पोलिटिकल साइंस
7. एस. एम. लिपसेट – पोलिटिकल मैन, गार्डन सिटी डबलडे, 1960
8. डेविडईस्टन – पोलिटिकल सिस्टम, साइंटिफिक बुक ऐजेन्सी, कलकत्ता, 1971

इकाई-3

व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 व्यवहारवाद

- 3.2.1 व्यवहारवाद-अर्थ एवं परिभाषा
- 3.2.2 व्यवहारवाद का उदय एवं विकास
- 3.2.3 व्यवहारवाद के उदय के कारण
- 3.2.4 व्यवहारवाद की मूल मान्यताएँ अथवा विशेषताएँ
- 3.2.5 व्यवहारवाद की आलोचना

3.3 उत्तर व्यवहारवाद

- 3.3.1 उत्तर व्यवहारवाद-अर्थ एवं परिभाषा
- 3.3.2 उत्तर व्यवहारवाद की उत्पत्ति के कारण
- 3.3.3 उत्तर व्यवहारवाद के आधारभूत लक्षण अथवा मान्यतायें
- 3.3.4 उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना

3.4 व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद तुलनात्मक दृष्टि

3.5 सारांश

3.6 अभ्यास प्रश्न

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन में व्यवहारवादी तथा उत्तर व्यवहारवादी दृष्टिकोण का विश्लेषणात्मक परिदृश्य
- व्यवहारवाद तथा उत्तर व्यवहारवाद का अर्थ एवं विशेषताऐं तथा
- राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी और उत्तर व्यवहारवादी क्रांति की भूमिका तथा प्रभाव।

3.1 प्रस्तावना

विज्ञान के सभी क्षेत्रों, चाहे प्राकृतिक विज्ञान हो अथवा सामाजिक समय की गति के साथ इनमें नवीन शोधों तथा अनेक आयामों का विकास होता रहता है। बीसवीं सदी में प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में आश्चर्यजनक विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक विज्ञान भी प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके। प्राकृतिक विज्ञानों से प्रेरणा लेकर सामाजिक विज्ञानों ने भी अध्ययन

पद्धतियों, अध्ययन क्षेत्र एवं अध्ययन दृष्टिकोण में आधारभूत एवं गुणात्मक परिवर्तन अपनाया है। राजनीति विज्ञान में वास्तविक प्रगति व्यवहारवादियों के आगमन के साथ ही हुयी जिन्होंने राजनीति विज्ञान के वैज्ञानीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् की अवधि में परम्परागत राजनीति विज्ञान की मानपरक राजनीति के सिद्वान्त के विरूद्ध शुरू हुए आन्दोलन को अमरीकी लेखकों ने 'व्यवहारवादी क्रांति' का नाम दिया। इस आन्दोलन में जो प्रमुख प्रवृत्तियाँ उभर कर आयी वह हैं-विषय को अधिक से अधिक वैज्ञानिक तथा अधिक से अधिक अन्त: शास्त्रीय बनाने की आवश्यकता। व्यवहारवाद परम्परागत दृष्टिकोण में निहित ऐतिहासिक, दार्शनिक, वर्णनात्मक एवं संस्थागत प्राथमिकताओं की अपर्याप्तता से असन्तुष्ट होकर दिया गया एक विकल्प है। वे राजनीति विज्ञान का अध्ययन व्यावहारिक व यथार्थ आधारों पर चाहते हैं। यह अनुभवात्मक तथा क्रियात्मक है तथा इसमें व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों तथा कल्पनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

उत्तर व्यवहारवाद का सम्बन्ध व्यवहारवाद से है। यह व्यवहारवादी दृष्टिकोण का ही विस्तृत रूप और निरन्तरता है। व्यवहारवाद की त्रुटियों ने उत्तर-व्यवहारवाद को जन्म दिया। व्यवहारवाद न केवल राजनीति का विज्ञान देने में असफल रहा, जिसका उसने दावा किया था अपितु यह अपने युग की ज्वलंत समस्याओं तथा चुनौतियों आदि का निदान एवं विकल्प प्रस्तुत करने में भी असमर्थ रहा। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही स्तरों पर व्यवहारवाद के प्रति असन्तोष के कारण पुराने व्यवहारवादियों ने उत्तर व्यवहारवाद की स्थापना की। उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार राजनीति विज्ञान की शोध तथा अध्ययन पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे जीवन की वास्तविक समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने में सहायता मिले। इस रूप में उत्तर व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान को हमारे युग की समस्याओं के सन्दर्भ में अधिक जागरूक, प्रासंगिक एवं कार्योन्मुखी बनाया है।

व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद की अवधारणा की विस्तृत एवं समेकित जानकारी उपलब्ध कराने हेतु इस इकाई -को आठ खण्डों में 3.1 से 3.8 तक विभाजित किया गया है। खण्ड 3.0 में इस इकाई के उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। खण्ड 31 विषय की प्रस्तावना से सम्बन्धित है। खण्ड 3.2 को व्यवहारवाद के विस्तृत विवेचन हेतु पाँच उप-खण्डों (3.2.1 से 3.2.5) में बाँटा गया है। उप-खण्ड 3.2.1 में व्यवहारवाद की विभिन्न परिभाषाएँ देकर उसके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। व्यवहारवाद, जिसे कि एक आन्दोलन अथवा क्रांति कहा गया, इसके उदय, विकास एवं उदय के कारणों का उल्लेख उप-खण्ड 3.2.2 तथा 3.2.3 में क्रमश: किया गया है। व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यताओं पर अनेक विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है, परन्तु डेविड ईस्टन ने इन विशेषताओं को समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है अत: इनका वर्णन उप-खण्ड 3.2.4 में किया गया है। व्यवहारवादी उपागम की कुछ दुर्बलताएँ भी रही हैं जिनके कारण इसकी न केवल परम्परावादियों ने बल्कि स्वयं व्यवहारवादियों ने भी आलोचना की है। इन विभिन्न आलोचनाओं का उल्लेख उप-खण्ड 3.2.5 में किया गया है। खण्ड 3.3 'उत्तर व्यवहारवाद' से सम्बन्धित है तथा इसकी विस्तार से चर्चा इसके चार उप-खण्डों (3.3.1 से 3.3.4) में की गयी है। 3.3.1 में उत्तर व्यवहारवाद के अर्थ को स्पष्ट किया

गया है। स्वयं व्यवहारवादियों द्वारा व्यवहारवादी दृष्टिकोण की अनुपयोगिता का आभास एवं इसके सुधार की आवश्यकता ने उत्तर व्यवहारवादी क्रांति को जन्म दिया। इन सब बातों की चर्चा उप-खण्ड 3.3.2 में की गयी है। अगला उप-खण्ड 3.3.3 डेविड ईस्टन द्वारा वर्णित उत्तर व्यवहारवाद की विशेषताओं से सम्बन्धित है। यद्यपि उत्तर व्यवहारवाद एक सुधार आन्दोलन तथा आगे बढने की दिशा में एक प्रयास है, फिर भी इसकी कुछ आधारों पर आलोचना की जाती है। इनका संक्षेप में वर्णन उप-खण्ड 3.3.4 में किया गया है। खण्ड 3.4 में व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। खण्ड 3.5 में इकाई का सारांश प्रस्तुत किया गया है तथा खण्ड 3.6 में संक्षिप्त ग्रंथ सूचि दी गयी है ! विद्यार्थियों के अभ्यास एवं विषय की समझ हेतु इस इकाई में विभिन्न स्थानों पर बोध प्रश्न दिये गये हैं जिनके उत्तर खण्ड 3.7 में देख सकते हैं। इकाई के अंतिम खण्ड 3.8 ने परीक्षा उपयोगी कुछ अभ्यासार्थ प्रश्न दिये गये हैं जिन्हें हल करके छात्र खुद को जाँच सकते हैं।

3.2 व्यवहारवाद

3.2.1 व्यवहारवाद-अर्थ एवं परिभाषा

व्यवहारवाद एक बौद्धिक प्रवृत्ति है तथा इसे एक निश्चित शैक्षणिक अथवा वैचारिक आन्दोलन कहा जा सकता है जो अनुभवात्मक शोध तथा प्रविधियों के निरंतर सुधार में विश्वास रखता है। राजनीति विज्ञान के संदर्भ में व्यवहारवाद अपना ध्यान मुख्यत: राजनीतिक व्यवहार पर केन्द्रित करता है तथा यह प्रतिपादित करता है कि व्यक्ति के राजनीतिक कार्यो तथा व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। 'राजनीतिक व्यवहार शब्द का प्रयाग अमरीकी राजनीतिशास्त्रियों के द्वारा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से ही किया जाने लेगा था। 1951 में शिकागो विश्वविद्यालय में राजनीतिक व्यवहार सम्बन्धी शोध पर आयोजित एक संगोष्ठी में डेविड ट्रूमैन ने राजनीतिक व्यवहार की व्याख्या करते हुए बताया कि 'उसमें मनुष्यों और समूहों की वे सभी क्रियाएँ और अन्त: क्रियाएँ जिनका सम्बन्ध प्रशासन की प्रक्रिया से है, समाविष्ट हैं। व्यवहारवाद परम्परागत राजनीति विज्ञान का विरोधी है, वह दार्शनिक अध्ययन पद्धति तथा कानूनी दृष्टिकोण का विरोध करता है तथा व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों तथा कल्पनाओं को भी अस्वीकार करता है।

डेविड ट्रूमैन के मत में " व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान से अभिप्राय है कि शोध व्यवस्थित हो तथा उसका प्रमुख आग्रह आनुभविक प्रणालियों के प्रयोग पर होना चाहिए।'

डेविड ईस्टन लिखित हैं, व्यवहारवादी शोध वास्तविक व्यक्ति पर अपना समस्त ध्यान केन्द्रित करती है। व्यवहारवाद के अध्ययन की इकाई मनुष्य का ऐसा राजनीतिक व्यवहार है जिसका पर्यवेक्षण, मापन तथा सत्यापन किया जा सकता है तथा ऐसे अध्ययन के द्वारा राजनीति की संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि के विषय में वैज्ञानिक व्याख्यायें विकसित की जा सकें।

हींज यूलाऊ के अनुसार, " राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन का सम्बन्ध राजनीतिक संदर्भ में मनुष्य के कार्यो. रूख, वरीयताओं एवं आकांक्षाओं से है।'

ई.एम. किर्क पैट्रिक ने व्यवहारवाद की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है-

(i) विश्लेषण और शोध की मूलभूत इकाई में राजनीतिक संस्था की अपेक्षा व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार को स्थान देना,

(ii) समाज विज्ञानों की एकता तथा अन्त: अनुशासनात्मक अध्ययन पर अधिक ध्यान देना,

(iii) मापन तथा परिमाणात्मक तकनीकों पर बल,

(iv) व्यवस्थाबद्ध आनुभविक सिद्धान्त का विकास करना,

व्यवहारवाद का अर्थ अधिक स्पष्ट और व्यापकता के साथ राबर्ट ए. डाल द्वारा व्यक्त किया गया है जिसका विश्लेषण निम्नानुसार है-

(i) यह राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत एक ऐसा विरोध आन्दोलन है जो अम्परागत राजनीति विज्ञान की उपलब्धियों तथा उपागमों से असन्तुष्ट है,

(ii) इसका विश्वास है कि कतिपय ऐसी पद्धतियों और उपागमों का विकास सम्भव है जिसकी सहायता से राजनीति विज्ञान में आनुभविक प्रस्थापनाओं और कब स्थित सिद्धान्तों का निर्माण किया जा सके,

(iii) इस आन्दोलन का उद्देश्य राजनीतिक अध्ययन को आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में विकसित सिद्धान्तों, पद्धतियों, खोजों और दृष्टिकोणों के निकट सम्पर्क में लाना है,

(iv) व्यवहारवाद एक ऐसा प्रयत्न है जो राजनीति विज्ञान के आनुभविक तत्वों को अधिक वैज्ञानिकता प्रदान करता है।

संक्षेप में, व्यवहारवाद एक अनुभववादी वैज्ञानिक उपागम है जिसका लक्ष्य राजनीतिक घटनाओं एवं तथ्यों के विशलेषण की नई इकाईयों, नई पद्धतियों, नई तकनीकों को विकसित करने के साथ इनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना है।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. राजनीति विज्ञान के अध्ययन में मूल्यों के सम्बोधन में व्यवहारवादियों की क्या धारणा हैं?

उत्तर: .....

.....

3.2.2 व्यवहारवाद का उदय एवं विकास

व्यवहारवादी उपागम द्वितीय विश्वयुद्ध की जटिल परिस्थितियों की उपज है जिसने राजनीतिशास्त्रियों को बाहरी जगत की वास्तविकताओं से परिचित कराया तथा उन्हें अन्य सामाजिक विज्ञानों के निकट भी ला दिया। विश्व स्तर पर हुये इस गम्भीर परिवर्तन ने मानव

समाज व संस्कृति की परम्परागत अवधारणाओं के स्थान पर नयी अवधारणाओं को जन्म दिया। इससे सम्पूर्ण समाज विज्ञानों के अध्ययन दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिसने व्यवहारवादी आंदोलन को जन्म दिया।

ऐतिहासिक दृष्टि से व्यवहारवाद का प्रारम्भ बीसवीं सदी के प्रारम्भ में दिखाई पडता है। इस दृष्टि से सन् 1908 में प्रकाशित अंग्रेजी विद्वान ग्राहम वैलेस की पुस्तक ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स" तथा आर्थर ए० एफ० बेन्टले की पुस्तक "दि प्रोसेस ऑफ गवर्नमेन्ट' का उल्लेख महत्वपूर्ण है। इन दोनों पुस्तकों का प्रकाशन राजनीति विज्ञान की अध्ययन प्रणाली में परिवर्तन का प्रतीक था। वैलेस ने राजनीति विज्ञान का अध्ययन संस्थाओं के प्रसंग में किये जाने का विरोध किया तथा व्यक्ति के विशलेषण को आवश्यक बताया। इसी प्रकर बेन्टले की राजनीतिक अन्वेषण में समूह की संकल्पना तथा प्रक्रिया की उसकी संकल्पना ने व्यवहारवादी उपागम को अत्यधिक प्रभावित किया था।

चार्ल्स ई० मेरियम, जिसे व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान का बौद्धिक जनक माना जाता है, की 1925 में प्रकाशित पुस्तक 'न्यू आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिक्स' का व्यवहारवाद के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मेरियम ने राजनीति विज्ञान के अन्त: शास्त्रीय और वैज्ञानिक स्वरूप का प्रचार करने के लिए सं० रा० अमरीका के शिकागो विश्वविद्यालय को केन्द्र बनाया। यहीं पर मेरियम ने अपने सहयोगियों और अनुयाईयों की सहायता से उस विचारधारा की प्रस्थापना की जो बाद में व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की शिकागो विचारधारा या '**शिकागो सम्प्रदाय**' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

व्यवहारवादी क्रांति जिसके आगमन की घोषणा 1925 में शिकागो में हुयी थी काफी वर्षा के लिए धीमी पड गयी थी। उसका पुनरोत्कर्ष दूसरे विश्वयुद्ध के बाद 194० के दशक के बाद के तथा 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षो में हुआ। व्यवहारवाद के विकास में अमरीकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसिएशन, सोशल साइन्स रिसर्च कौंसिल, तथा अनेक उदार संस्थाओं जैसे कार्नेगी, रॉकफैलर तथा फोर्ड आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

व्यवहारवाद के विकास में अनेक अन्य व्यवहारवादी विद्वानों के ग्रन्थो का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इनमें **हरबर्ट साइमन** की पुस्तक 'एडमिनिस्ट्रेटिव विहेवियर' **कैटलिन** की पुस्तक 'ए स्टडी ऑफ दी प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिक्स, तथा **डेविड ईस्टन** की पुस्तक 'दी पॉलिटिकल सिस्टम' आदि कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

इस उपागम के प्रमुख समर्थक विद्वान हैं- जी० ए० आमण्ड, राबर्ट ए० डाल, हरबर्ट साइमन, हींज यूलाऊ, कोलमैन, कार्ल डायश, ट्रमैन, किर्क पैट्रिक, एडवर्ड सिल्स, पावेल, हेरोल्ड लासवेल, डेविड ईस्टन आदि। इन सब के प्रयत्नों के फलस्वरूप व्यवहारवादी उपागम सर्वव्यापक हो गया है।

व्यवहारवाद के सिद्धांत की पृष्ठभूमि एक दृष्टि से सामान्य संकल्पना। में निहित हैं। जिसका उद्भव 1920 के दशक के जीवविज्ञानी जुडविंग वान बरटेलफाइ के लेखों में हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात विभिन्न विज्ञानों के एकीकरण की आवश्यकता स्पष्ट दिखाई देने लगी एवं जिसका प्रमुख कारण था सम्बन्धित विषयों में समन्वय की कमी किसी एक क्षेत्र में

शोध का लाभ अन्य को नहीं मिल पा रहा था एवं हर बार नवीन प्रारम्भ और प्रयास सर्वमान्य समस्याओं के उन्मूलन में प्रक्रियात्मक बाधा बन रहे थे। अब यह स्पष्ट हो रहा था कि इन समस्याओं के निवारण हेतु उस एकीकृत अध्ययन को अपनाया जाय जो मानवीय व्यवहार एवं उसकी नीतियों के सावभौम गतिमान स्थापित करें। सामान्यत: यह प्रयास जीव-विज्ञान के अध्ययन द्वारा सक्रिय हुआ परिचालन की दृष्टि से इसका आरम्भ मानव विज्ञान में हुआ एवं तत्पश्चात समाज शास्त्र, एवं राजनीति शास्त्र में प्रयोग में प्रयोग में लाया गया। व्यवहार के प्रतिरूपों को जानना आवश्यक था परन्तु इससे भी अधिक आवश्यक था व्यवस्था के अनुरक्षण को लक्ष्य मानकर उसकी परिचालन सम्बन्धी विविधताओं को समझना एवं मानवीय व्यवहार को वैज्ञानिक, बुद्धिसंगत रूप प्रदान करना। इस प्रयास में हम ब्रोनीस्लान मैलीनोरकी एवं रेडक्लिफ ब्राउन के योगदान को महत्वपूर्ण हैं। व्यवहारवाद के विकास में गणित द्वारा विकसित तर्कसंगत प्रत्यक्षवाद ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई -टूडोल्फ कारनैप, औटो-वान न्यूराथ, हैन्स केल्सन, विक्टर क्राफ्ट इसके प्रमुख समर्थ थे। इसकी मान्यता थी कि अनुभव एक केन्द्रात्मक तत्व होता हैं एवं अनुभवसिद्ध आधार पर सत्यापित सिखना तत्वमीमांसा द्वारा प्रेरित सिद्धांतों से अधिक परिशुद्ध और उपयोगी होते हैं। राबर्ट मर्टन एवं टेल्काट पार्सन्स आदि समाजशास्त्री मानते ये कि व्यवहार में स्थायित्व लाने हेतु अनुकूलन आवश्यक तत्व होता हैं एवं इसी अनुकूलन रो मानवीय व्यवहार में गतिशीलता आती हैं जो उसे उपयोगी समक्रमिकता प्रदान करती हैं। व्यवहार मूलत: एक वैज्ञानिक धारणा हैं जिसकी उत्पत्ति जेबी. वाटसन को कृत्रियों में हुई जो मानवीय अभिलाषाओं, आकांशाओं, विचारों एवं अभिप्रायों में वैज्ञानिकता एवं वैज्ञानिक शोध के विरोधी थे। वाटसन संवेदनशील अनुकूतम को महत्वपूर्ण मानते थे जिसमें प्रेरक फ प्रतिउत्तर सावयव पर आधारित था। इस दृष्टिकोण से व्यवहार एक आत्मपरक, स्वानुभूतिमूलक एवं व्यक्ति सापेक्ष सिद्धांत होता हैं।

3.2.3 व्यवहारवाद के उदय के कारण

राजनीति शास्त्र के अंतर्गत व्यवहारवाद तीन प्रमुख चरणों में विकसित हुआ:

प्रथम चरण

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व का है जब अध्ययन में अनुभववादी एवं मात्रात्मक शैली का उपयोग हुआ। स्तुअर्ट राइस और हैरल्ड गोसनेल इस शैली के प्रमुख समर्थक थे जो परिशुद्ध, सुस्पष्ट चित्रण को महत्वपूर्ण मानते थे। हैरल्ड लास्वेल द्वारा प्रतिपादित सारांश विश्लेषण इस दौर की एक उत्कृष्ट उपलब्धि थी।

द्वितीय चरण

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात प्रारम्भ हुआ जब आमण्ड, डाहल, ईस्टन, डयूश इत्यादि विचारकों ने कारणात्मक सिद्धांत का निर्माण किया जिसने 1950 के दशक में व्यवस्था उपागम, निर्णय सिद्धांत एवं संचार पर बल दिया।

तृतीय चरण

सन् 1960 के दशक में आरम्भ हुआ जब अध्ययन में गणितीय तकनीकों एवं मात्रात्मक नीतियों को सम्मिलित किया गया। इसी समय व्यवहारवादियों में एक द्विभाजन

घटित हुआ। व्यवहारवादी प्रणाली पद्धति एवं क्रम को महत्वपूर्ण मानने लगे जिसके कारण विषय एवं उसके सिद्धांतों की उपेक्षा होने लगी। मीमांसात्मक व्यवहारवादी सिद्धांतों के जाल में फंसे रहे गये एवं उन सिद्धांतों को प्रेषित करते गये जिनका प्रमाणन संभव नहीं हो पाया इसलिये नीति निर्माण के संदर्भ में उनकी उपयोगिता सीमित रह गयी।

व्यवहारवाद के उदय के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारणों का वर्णन निम्नानुसार है-

(1) नये विश्व में तेजी से बदलती तकनीकी प्रवृतियों तथा बदलती अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के कारण राज्यों की प्रकृति और लक्ष्यों में भी परिवर्तन आ रहा था। अत: यह आवश्यक हो गया था कि राजनीतिशास्त्री नये उपागमों, शोध की नई तकनीकों और नई संकल्पनाओं की तलाश करें।

(2) यूरोपीय साम्राज्यों के विघटन के साथ-साथ एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में नये राज्यों का उत्थान हो रहा था। नये देशों की राजनीतिक प्रक्रियाओ, को ठीक से समझने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि राजनीतिशास्त्री अन्य सामाजिक विज्ञानों से अधिक सहायता लें।

(3) युद्ध के बाद के वर्षो में राजनीतिशास्त्रियो में अपने विषय की वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध में कुंठा की भावना बढती जा रही थी जिसने एक व्यापक असन्तोष को जन्म दिया। बडी तीव्रता से यह अनुभव किया जाने लगा था कि राजनीति विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में पिछड़ गया था।

(4) राजनीतिशास्त्रियों ने यह भी अनुभव किया कि सरकार और समाज में उनकी प्रतिभा और कौशल की अधिक मांग नहीं थी। न ही राजनीतिज्ञों और प्रशासकों के द्वारा राजनीतिशास्त्रियो से विशेष सहायता की अपेक्षा की जाती थी। जबकि अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री और मानव विज्ञानवेत्ताओं की सरकारी विभागों को सलाह मशविरा देने तथा निर्णय-निर्माण की प्रक्रियाओं में सक्रिय भूमिका रहती थी।

(5) राजवैज्ञानिको को यह अनुभव हो गया था कि वे शोध के ऐसे उपकरणों का विकार। नहीं कर पाये जिनकी सहायता से वे दो महायुद्धों के बीच -के काल में फासीवाद, नाजीवाद तथा साम्यवाद के उत्थान और लोकप्रियता के कारणों का ठीक से विश्लेषण कर पाते।

(6) अन्य सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन के नवीन तरीकों और उपकरणों के प्रयोग को प्रोत्साहन मिला तो राजनीति शास्त्र का भी इससे अछूता रहता सम्भव था।

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. व्यवहारवाद के उदय एवं विकास में चार्ल्स मेरियम के योगदान का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. 'शिकागो सम्प्रदाय' से क्या तात्पर्य हैं?

उत्तर: .....

.....

3.2.4 व्यवहारवाद की मूल मान्यतायें अथवा विशेषताएँ

व्यवहारवाद की आधारभूत मान्यताओं, विशेषताओं तथा मूल सिद्धान्थों की प्रस्थापना अनेक व्यवहारवादी विद्वानों द्वारा की गयी है। परन्तु डेविड ईस्टन ने व्यवहारवाद की विशेषताओं को समग्रता के साथ प्रस्तुत किया है। ईस्टन ने व्यवहारवाद के आठ लक्षण या उद्देश्य निर्धारित किये हैं जिन्हें उसने एक ऐसी 'बौद्धिक आधारशिला' का नाम दिया है जिसके आधार पर इस समस्त आन्दोलन का भवन खड़ा किया गया है। डेविड ईस्टन के अनुसार व्यवहारवाह की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं- -

(1) नियमितताएँ (Regularization)- मनुष्यों के राजनीतिक व्यवहार में कुछ नियमितताएँ अथवा एक रुपताएँ देखी जा सकती हैं। मानव व्यवहार. की इन एक रूपताओं का सामान्यीकरण किया जा सकता -है। व्यवहार की नियमितताओं के आधार पर राजनीतिक घटनाओं की सही व्याख्या एवं उनके पूर्वानुमान किये जा सकते हैं।

(2) सत्यापन (Vaification)- मानव व्यवहार के सम्बन्ध में बनाये गये नियमों का पुन: परीक्षण तथा उसकी पुष्टि करने की क्रिया को सत्यापन कहा जाता है। इसके सामान्यीकरण की वैधता की जाँच करने में सहायता मिलती है। सारा ज्ञान सर्वेक्षण और परीक्षण पर आधारित होना चाहिए।

(3) तकनीक (Techniques)- तकनीक का अर्थ अध्ययन के ऐसे' से है जो तथ्यों के चयन, संकलन, विशलेषण तथा व्यक्तिनिष्ठ मूल्यों को शोध के बाहर में सहायक हो। व्यवहारवादी शोध सामग्री का संग्रह करने एवं उसका विश्लेषण करने में सही) ढंग की तकनीकों के प्रयोग को बहुत महत्व देते है। शोधकर्ता को अपनी शोध पद्धतियों के सम्बन्ध में सतर्क और आलोचनात्मक बने रहने की भी हिदायत देते हैं।

(4) परिमाणीकरण (Quantification)- यह मापन क्रिया है। इसका उद्देश्य आधार सामग्री तथा तथ्यों में स्पष्टता एवं निश्चितता लाना है जिससे उनको अधिक उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण बनाया जा सके। राजनीतिक जीवन का सुनिश्चित और सही ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शोध की आधार-सामग्री का परिमाणीकरण किया जाना चाहिए और सभी निष्कर्ष परिमाणात्मक आधार-सामग्री पर ही निर्धारित होने चाहिए।

(5) मूल्य (Values) - व्यवहारवादियों का यह दृढ़ मत है कि मूल्य और तथ्य दो अलग-अलग चीजें हैं और विश्लेषण की दृष्टि से भी उन्हें अलग-अलग ही रखना चाहिए क्योंकि मूल्यों की सत्यता अथवा असत्यता को वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध नहीं

किया जा सकता। शोधकर्ता को अध्ययन के दौरान अपने व्यक्तिगत मूल्यों को अपने अध्ययन से अलग रखना चाहिए ताकि शोध को वस्तुनिष्ठ बनाया जा सके।

(6) व्यवस्थापन (Systematization) - शोध क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित होना चाहिए। अर्थात पहले शोध का कार्य किया जाना चाहिए फिर इस अनुसन्धान से प्राप्त निष्कर्षो के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण किया जाना चाहिए। परम्परावादियों की तुलना में व्यवहारवादी सिद्धान्त पर अधिक जोर देते हैं। उनकी दृष्टि में सिद्धान्त का अर्थ कल्पना व आत्मनिरीक्षण न होकर विश्लेषण, स्पष्टीकरण और भविष्यवाणी है। परम्परावादी मूल्य-परक सिद्धान्त की बात करते हैं, जब कि व्यवहारवादी कार्य-करण सिद्धान्त पर जोर देते हैं।

(7) शुद्ध विज्ञान (Pure Science) - सिद्धान्त और प्रयोग ये दोनों वैज्ञानिक प्रयत्नों के अंग हैं, परन्तु व्यवहारवादी शुद्ध अनुसन्धान पर अधिक ध्यान देते हैं, भले ही उसका प्रयोग विशिष्ट और न्यूनतम सामाजिक समस्याओं में सम्भव न हो। इस प्रकार व्यवहारवादी विशुद्ध विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं और सामाजिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञानों जैसा बनाना चाहते हैं।

(8) एकीकरण (Integration) - मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तथा समस्त मानव व्यवहार एक पूर्ण इकाई है। अत: मानव व्यवहार का अध्ययन उसकी समग्रता के साथ किया जाना चाहिए न कि अलग-अलग खण्डों में। इस कारण किसी भी राजनीतिक घटना के अध्ययन के लिए समाज में होने वाली आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अन्य घटनाओं की सही समझ आवश्यक है। संक्षेप में, व्यवहारवाद अन्तर-अनुशासनात्मक अध्ययन का समर्थक है।

3.2.5 व्यवहारवाद की आलोचना

व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की तीव्र आलोचना इसके जन्म के साथ ही प्रारम्भ हो गयी थी। सर्वप्रथम यह आलोचना व्यवहारवाद की मान्यताओं तथा निष्कर्षो से असहमत परम्परावादी राजनीतिशास्त्रियों द्वारा शुरू की गयी और बाद में अनेक व्यवहारवादियों- आर्नाल्ड ब्रैश्ट, लियो स्ट्रास, किर्क पैट्रिक, राबर्ट ए० डाल, डॉयश, सिब्ली आदि ने भिन्न आधारों पर इसकी आलोचना प्रस्तुत की।

व्यवहारवाद की आलोचना के कुछ प्रमुख आधार संक्षेप में निम्नलिखित हैं-

(1) व्यवहारवादियों का यह विश्वास कि प्राकृतिक विज्ञान तथा राजनीति विज्ञान में आधारभूत समानता है, भ्रमपूर्ण है। राजनीति विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है, अत: इसे प्राकृतिक विज्ञान में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक विज्ञान की तुलना में राजनीति विज्ञान के तथ्य अधिक जटिल, परिवर्तनशील, कम परीक्षण योग्य तथा अस्पष्ट होते हैं।

(2) व्यवहारवादियों ने राजनीति के अध्ययन से मूल्यों को बहिष्कृत करने की गलती की। सामाजिक विज्ञानों का अस्तित्व मूल्यों के बिना सम्भव नहीं है। जब एक शोधकर्ता

अपनी शोध का प्रारम्भ करना चाहता है तो वह शोध संबंधी विषय के तक में वह अपने व्यक्तिगत मूल्यों से प्रभावित होता है। उसके व्यक्तिगत मूल्य कहीं कहीं उसके निष्कर्षो को भी अवश्य प्रभावित करते हैं।

(3) मानव के राजनीतिक व्यवहार का मापन असम्भव है। इसलिए व्यवहारवादी ' मानव व्यवहार' का विज्ञान प्रस्तुत करने में असफल रहे। मानव स्वभाव अत्यन्त जटिल है और उसके अन्तर्मन की गहराइयों को भी मालूम नहीं किया जा सकता है।

(4) व्यवहारवादी विचारकों ने ऐसी भारी-भरकम शब्दावली का प्रयोग किया जिससे यह शब्दाडम्बर से अधिक और कुछ नहीं लगता। इसके परिणामस्वरूप उनके तर्क अर्थहीन और शब्द जाल दिखायी पडते हैं।

(5) व्यवहारवादियों पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि वे शोध के उपकरणों को परिष्कृत बनाने पर अत्यधिक ध्यान देते हैं और इस बात पर कम कि शोध का उद्देश्य क्या है।

(6) व्यवहारवादी अध्ययन की शुद्धता तथा सुविधा के लिए केवल छोटे-छोटे समूहों का अध्ययन करते हैं। इन अध्ययनों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं रु पूरी तरह सही एवं सम्पूर्ण समाज का निष्कर्ष मानना एक बडी भूल होगी।

(7) व्यवहारवादी अध्ययन अत्यधिक खर्चीला है क्यों कि शुद्धता एवं पूर्णता के नाम पर बार-बार सर्वेक्षण करते हैं, आँकड़े एकत्रित करते हैं और उनका विश्लेषण करते है।

(8) परम्परावादी राजनीति शास्त्री व्यवहारवादी उपागम को राजनीतिक तथा घटनाओं को समझने के लिए अपने आप में पर्याप्त नहीं मानते हैं। इनकी मान्यता है कि व्यवहारवादी उपकरण राजनीति के घटकों को समझने में कुछ सीमा तक सहायक हो सकते हैं, परन्तु यह पूर्ण की वास्तविकताओं को समझने में अपर्याप्त हैं। मेलफोर्ड सिब्ली लिखता है, " राजनीति को समझने के लिए कलाकार की विशिष्ट अंतदृष्टि का होना उतना ही आवश्यक है जितना वैज्ञानिक की सुनिश्चितता का...।"

(9) व्यवहारवादियों की त्रुटि यह है कि उन्होंने राजनीति विज्ञान को न तो परिभाषित किया और न ही उसके अध्ययन क्षेत्र को निश्चित किया। दूसरी तरफ व्यवहारवादियों ने बिना इस बात को समझे कि राजनीति का क्षेत्र अन्य समाज विज्ञानों से किस प्रकार भिन्न है, उन्होंने अन्य सामाजिक विज्ञानों की अवधारणाओं, पद्धतियों तथा तकनीकों को पर बल दिया। इस स्थिति ने यह भय उत्पन्न किया कि राजनीति विज्ञान एक स्वतंत्र विषय के रुप में अपने अस्तित्व को खो सकता है। सिब्ली के ही अनुसार, "व्यवहारवाद के इस युग में राजनीति विज्ञान की शोध का नेतृत्व समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और मनोरोग-विद्वानो के हाथों में चला गया है।"

(10) राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए व्यवहारवादी अन्य पद्धतियों के महत्व को स्वीकार नहीं करते। वस्तुओं को समझने, उनकी व्याख्या करने और उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने के वैज्ञानिक उपकरण ही एक मात्र उपकरण नहीं हैं। इस सम्बन्ध में सिब्ली ने लिखा है," राजनीति का अध्ययन यदि केवल इसी आधार पर नहीं करना है

व्यक्ति का व्यवहार निर्दिष्ट परिस्थितियों में क्या हो सकता है परन्तु इस आधार पर भी कि वह आज क्या है, कल क्या था, भविष्य में क्या होगा और कैसा होना चाहिए तो हमारा काम केवल व्यवहारवाद से नहीं चलेगा। हमें राजनीतिक चिन्तन के इतिहास, नीति- सांस्कृतिक इतिहास, शास्त्रीय परम्परा के परिकल्पना शील राजनीति-दर्शन, राजनीतिक विवरण, और प्रत्यक्ष राजनीतिक अनुभव, सभी से सहायता लेनी होगी।"

(11) परम्परावादी व्यवहारवादी उपागम की अपर्याप्तता की आलोचना नीति- निर्माण के दृष्टिकोण से भी करते हैं। नीति- निर्माण में तथ्यों के अतिरिक्त नैतिक, आनुभविक एवं विधायी पहलुओं की भी आवश्यकता होती है। परन्तु व्यवहारवादी पद्धति इनकी उपेक्षा करती है। अत: व्यवहारवादी उपागम नीति- निर्माण में सही मायने में योगदान देने में असमर्थ है। सिबली का मत है, " मात्र विज्ञान ही एकमात्र पद्धति नहीं है। नीति सम्बन्धी ज्ञान के लिए अन्य पद्धतियों एवं तकनीकों का सहारा लेना चाहिए।"

बोध प्रश्न-3

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिदिन 'व्यवहारवाद की बौद्धिक आधारशिला" की दो विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. व्यवहारवाद की आलोचना के दो प्रमुख आधार बताइए।

उत्तर: .....

.....

3.3 उत्तर व्यवहारवाद

3.3.1 उत्तर व्यवहारवाद- अर्थ एवं परिभाषा

व्यवहारवाद की तुलना में उत्तर व्यवहारवाद आधुनिक राजनीति विज्ञान की अधिक विकसित अवस्था है। यह व्यवहारवाद के बाद राजनीति विज्ञान के अध्ययन दृष्टिकोण में आये परिवर्तन एवं विकास की अवस्था को इंगित करता है। डेविड ईस्टन के अनुसार " उत्तर व्यवहारवाद भविष्य की ओर उन्मुख है और राजनीति विज्ञान को नयी दिशाओं की ओर मोड़ने के साथ ही यह अतीत (व्यवहारवाद) की उपलब्धियों को स्वीकारते हुए उसमें कुछ नया जोड़ने में प्रयत्नशील है।"

उत्तर व्यवहारवाद वास्तविक क्रान्ति है, न कि प्रतिक्रिया, विकास है न कि अनुरक्षण, आगे की दिशा में एक कदम है न कि पीछे की ओर हटने की प्रवृति। अत: उत्तर व्यवहारवाद, व्यवहारवाद के विरूद्ध मात्र एक प्रतिक्रिया न होकर एक रचनात्मक सुधार सम्बन्धी आन्दोलन

है। सुधार को प्रकृति इस प्रकार होनी चाहिए कि वह अपने युग की समस्याओं के हल में अधिक से अधिक योगदान देने में समर्थ हो।

उत्तर व्यवहारवाद राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन के नवीन समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है जिसमें मूल्यों तथा तथ्यों दोनों को ही उचित महत्व दिया गया है। उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन के महत्व को स्वीकारते हैं परन्तु उस ' व्यवहारवाद' का घोर विरोध करते हैं जिसके द्वारा राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की कठोर वैज्ञानिक शोध पद्धति का प्रयोग कर शुद्ध विज्ञान का रूप देने का प्रयास किया गया। उत्तर व्यवहारवादियों का केवल तर्क यह है कि शोध का महत्व समस्याओं के ०" में ही है उससे अलग नहीं।'

उत्तर व्यवहारवाद, जो वस्तुत: एक सुधार आन्दोलन तथा एक ई प्रवृत्ति है, राजनीति विज्ञान के क्षितिज को नये आयामों की दिशा में विस्तृत करने को प्रयत्नशील है। इसके दो नारे हैं- 'कर्म' तथा 'प्रासंगिकता'। इसका मूल मन्तव्य है- राजनीति विज्ञान का शोध एवं अध्ययन समाज की वास्तविक आवश्यकताओं के संदर्भ में प्रासंगिक होना चाहिए तथा राजनीति को मूल्य निरपेक्ष रहकर अध्ययन करने की अपेक्षा स्वयं मानव-मूल्यों की रक्षार्थ कर्म करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए।

3.3.2 उत्तर व्यवहारवाद की उत्पत्ति के कारण

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद व्यवहारवादी आंदोलन का उदय परम्परागत राजनीतिविज्ञान की अपर्याप्तताओं के विकल्प के रूप में हुआ था। इस आन्दोलन ने राजनीति 'हे को नवीन तथ्य, नवीन अध्ययन सामग्री और पद्धतियाँ प्रदान की। लेकिन 196० के दशक में यह स्पष्ट होने लगा कि व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान की अपनी कमियाँ और सीमायें हैं। व्यवहारवाद एक ओर अपने सैद्धान्तिक लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमर्थ रहा तथा ' तरफ यह शुद्ध अनुसंधान कार्य में अत्यधिक डूबे रहने के कारण समकालीन सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं को समझने तथा उनके समाधान के ठोस विचार देने में भी असमर्थ रहा।

सन् 1960 के दशक में डेविड ईस्टन जो स्वयं व्यवहारवादी क्रांति के प्रमुख प्रतिपादकों में से था, व्यवहारवादी स्थिति पर सबसे भारी प्रहार किया। ईस्टन ने सन् 1969 अमेरिकन पॉलिटिकल साइन्स एसोसिएशन के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि " व्यवहारवाद क्रांति से हम अपने विश्लेषण को सार्थकता नहीं दे सकते हैं अत: हमें उत्तर व्यवहारवादी बनना होगा।' संक्षेप में, उत्तर व्यवहारवादी क्रांति की उत्पत्ति के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

(1) व्यवहारवादी प्राकृतिक विज्ञान एवं राजनीति विज्ञान में आधारभूत समानता मानते हैं। इस आधार पर उन्होंने राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए प्राकृतिक विज्ञान जैसी शुद्ध पद्धति एवं तकनीक अपनाने पर जोर दिया। अत: वे प्राकृतिक विज्ञान राजनीति विज्ञान के सूक्ष्म अन्तर को समझने में असमर्थ रहे। इस उपरोक्त मान्यता के विरोध में उत्तर व्यवहारवाद का जन्म हुआ।

(2) व्यवहारवादियों का दृढ़ विश्वास था कि मानव व्यवहार का एवं ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण जिनके आधार पर मानव व्यवहार की भविष्यवाणी की सके, वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा सम्भव है। परन्तु वास्तविकता यह है कि का औपचारिक व्यवहार एवं उसकी अचेतन की आकांक्षाएँ अविच्छिन्न रूप से जुडे हैं। अत: इनका सही वस्तुनिष्ठ अध्ययन एवं मापन सम्भव नहीं है।

(3) व्यवहारवादी शोध में तथ्य-मूल्य विच्छिन्नता पर अत्यधिक बल दिया गया। तथ्य-प्रधान अध्ययन को विज्ञान का पर्याय मानकर मूल्यों की पूरी उपेक्षा की गयी मूल्य निरपेक्ष अध्ययन के कारण ही व्यवहारवाद को आर्नाल्ड ब्रैश्ट ने बीसवीं सदी की 'दुखान्त घटना' तथा लियो स्ट्रास ने इसे 'गटर की विजय' कहा। लेकिन उत्तर व्यवहारवादी तथ्य तथा मूल्य दोनों को प्रासंगिक मानते हैं और राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन के लिए के महत्व को स्वीकार करते हैं।

(4) राजनीति विज्ञान को विशुद्ध विज्ञान बनाने की अभिलाषा में व्यवहारवादीयों ने अपने युग की प्रमुख समस्याओं -शीत युद्ध, आणविक युद्ध का खतरा, जनसंख्या विस्फोट, गरीबी, नव स्वतन्त्र अफ्रो- एशियाई देशों क समस्या आदि, के प्रति तटस्थता व उदासीनता का रूख अपनाकर अपने दायित्वों की उपेक्षा की। वस्तुत: इन समस्याओं के प्रति उनकी निष्क्रियता। ने उन्हें उनके समय की दृष्टि से अप्रासंगिक भी बना दिया और उत्तर व्यवहारवाद के उदय के लिए जमीन तैयार की।

बोध प्रश्न 4

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।,

प्रश्न: 1 उत्तर व्यवहारवाद को अपनी प्रवृत्ति से समन्वयवादी क्यों कहा जाता है?

उत्तर: ……

……

……

3.3.3 उत्तर व्यवहारवाद के आधारभूत लक्षण अ अथवा मान्यताएँ

डेविड ईस्टन, जिसने व्यवहारवादी दृष्टिकोण की आठ विशेषताओं को बताया था, अब उत्तर व्यवहारवाद की व्याख्या की और इसकी सात प्रमुख विशेषताओं को प्रस्तुत किया तथा उन्हें ' प्रासंगिकता का धर्म' कहा। डेविड ईस्टन द्वारा उत्तर व्यवहारवाद की व्याख्या के लिए प्रस्तुत ' प्रासंगिकता का सिद्धान्त' के दो मूल आधार हैं- प्रासंगिकत। और क्रियानिष्ठता।

डेविड ईस्टन द्वारा वर्णित उत्तर व्यवहारवाद की सात प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख इरा प्रकार है:-

(1) तकनीक से पहले सार (विषय)- राजनीति विज्ञान की शोध में तकनीक की अपेक्षा विषय वस्तु का अधिक महत्व है। अनुसंधान के लिए परिष्कृत तकनीक आवश्यक तो है ही, परन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण वह उद्देश्य है जिसके लिए इन तकनीकों को प्रयोग में लाया जाता है। उत्तर व्यवहारवादियों के अभिमत में समकालीन आवश्यक सामाजिक

समस्याओं को हल करने के लिए यह आवश्यक है कि अ अर्थपूर्ण एवं प्रासंगिक शोध किया जाये। व्यवहारवादियों का नारा था- 'अस्पष्ट होना जितना बुरा था, गलत होना उतना नहीं।' इस नारे के प्रत्युत्तर में उत्तर व्यवहारवादियों ने नारा दिया कि 'अप्रासंगिक सुनिश्चित से अस्पष्ट होना कम बुरा था।'

(2) **सामाजिक परिवर्तन पर बल-** उत्तर व्यवहारवादियों का मत है कि समकालीन राजनीति शास्त्र को सामाजिक यथास्थति का समर्थक नहीं होना चाहिये बल्कि उसे अपना ध्यान प्रमुखत: सामाजिक परिवर्तन पर केन्द्रित करना चाहिए। व्यवहारवादी अपना सारा समय केवल तथ्यों के संग्रह और विश्लेषण पर देते थे। वे उन तथ्यों को व्यापक सामाजिक संदर्भ में समझने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि व्यवहारवादी अप्रत्यक्ष रूप में सामाजिक परिवर्तन के विरोधी अ अथवा रूढीवादी बन जाते हैं।

(3) **समकालीन समस्याओं के निदान पर बल-** व्यवहारवादी युग में राजनीति विज्ञान ने राजनीति की क्रूर य यथार्थताओं से अपना नाता बिल्कुल ही तोड लिया था और तटस्थता का ढोंग करते थे। अत: उत्तरव्यवहारवादियों का मत है कि राजनीति विज्ञान का यह दायित्व है कि वह मानवता की आवश्यकताओं का पता लगाये तथा राजनीतिक-सामाजिक समस्याओं के समाधान में यथासम्भव सहयोग दे। यदि ऐसा नहीं किया गया तो समाज के लिए राजनीति विज्ञान की उपयोगिता सिद्ध नहीं की जा सकेगी।

(4) **मूल्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका-** व्यवहारवादियों ने मूल्यों के सर्वथा उपेक्षित मान लिया था जबकि उत्तर व्यवहारवादी यह मानते हैं कि राजनीति में मूल्यों की, बहुत अधिक महत्व है। मूल्यों की आधारशिला पर ही ज्ञान की इमारत खडी की जानी चाहिए ठस ज्ञान के गलत प्रयोग की सम्भावना बनी रहती है। यदि ज्ञान का प्रयोग राही उद्देश्यों के लिये करना है तो मूल्यों को उनकी केन्द्रीय स्थिति पर पुनर्स्थापित करना होगा।

(5) **समाज में बुद्धिजीवियों की भूमिका-** उत्तर व्यवहारवादी समाज में बुद्धिजीवियों की एक विशिष्ट भूमिका स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सभ्यता के मानवीय मूल्यों की रक्षा हेतु बुद्धिजीवियों को हमेशा प्रयत्नशील रहना चाहिए अन्यथा बुद्धिजीवी होने के कारण उन्हें समाज में जो विशिष्ट स्थान एवं महत्व प्राप्त है, उससे उन्हें वंचित होना पड़ेगा।

(6) **कर्मनिष्ठ विज्ञान-** उत्तर व्यवहारवादी ज्ञान के क्रियात्मक प पर अधिक बल देते हैं। उनकी मांग है कि चिन्तनोन्मुख ज्ञान के स्थान पर क्रियाशील ज्ञान होना'। डेविड ईस्टन के शब्दों में, "जानने का अर्थ है कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने हाथों में लेना, और कार्यरत होने का अर्थ है समाज के पुनर्निर्माण में अपने को लगा देना।" अत: विज्ञान का समस्त अनुसंधान क्रियाशीलता की भावना से प्रेरित होना चाहिए जिससे ऐसे ज्ञान का प्रयोग समाज की समकालीन समस्याओं को सुलझाने एवं उसके पुनर्निर्माण में किया जा सके।

(7) **व्यवसायों का राजनीतिकरण-** उत्तर व्यवहारवादी व्यवसायों के राजनीतिकरण की अनिवार्यता पर जोर देते हैं। उनकी मान्यता है कि समाज के लिए समुचित उद्देश्यों को

निर्धारित करने तथा समाज को इन उद्देश्यों की दिशा में प्रेरित करने की महत्वपूर्ण भूमिका बुद्धिजीवियों की है। अत: बुद्धिजीवियों के संघों, शिक्षा संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों आदि मानव मूल्यों की रक्षार्थ सक्रिय भूमिका अदा करनी चाहिए।

बोध प्रश्न 4

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. उत्तर व्यवहारवाद राजनीतिक विज्ञान को एक कर्मनिष्ठ विज्ञान किस रूप में मानते हैं

उत्तर: ……..

……

……

2. डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित के सिद्धांत का तात्पर्य हैं?

उत्तर: ……..

……

……

3.3.4 उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना

उत्तर व्यवहारवाद, जो कि व्यवहारवाद का अगला चरण है, राजनीतिक वैज्ञानिकों की देन है। इस उपागम ने परम्परागत राजनीतिक दृष्टिकोण तथा दृष्टिकोण के दोषों को दूर कर राजनीति विज्ञान को नवीन दिशा देने का प्रयत्न किया। फिर उत्तर-व्यवहारवाद में कुछ ऐसे दोष भी हैं जिसके कारण इसकी आलोचना की जाती है। आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं-

1. उत्तर व्यवहारवादियों ने अपने अध्ययन में तथ्य तथा मूल्य दोनों को महत्वपूर्ण मानते हुए एक नवीन समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। किन्तु इसके कारण उत्तर व्यवहारवाद में अन्तर्विरोध भी पैदा हुए हैं। मूल्य एवं तथ्य दोनो को सम्मिलित करने का अर्थ है कि उत्तरव्यवहारवादी राजनीति विज्ञान के अध्ययन को एक साथ ही मूल्य-सापेक्ष, आदर्शवादी व व्यक्तिनिष्ठ बनाने के अलावा मूल्य-निरपेक्ष, यर्थाथवादी व वस्तुनिष्ठ भी बनाना चाहते हैं, जबकि यह सम्भव नहीं है।
2. उत्तर व्यवहारवादी तकनीक की अपेक्षा विषयवस्तु को महत्व देते हैं। वस्तुत: क्रम की दृष्टि से तकनीक से पहले सार (विषय वस्तु) का स्थान आता है। इस दृष्टिकोण का अर्थ यह हुआ कि वे पहले शोध का उद्देश्य तय करते हैं और फिर इस पूर्व निश्चित उद्देश्य की पुष्टि हेतु तकनीक का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार उनका अध्ययन पूर्वाग्रह से ग्रसित होता है और इसे अवैज्ञानिक कहा जाता है।
3. उत्तर व्यवहारवाद की आलोचना का एक आधार यह भी है कि उसकी प्रतिबद्धता उस 'प्रासंगिकता' के प्रति है, जिसे अमरीकी राष्ट्रीय हितों एवं मूल्यों के संदर्भ में समझा जा सकता है। उत्तर व्यवहारवादियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के साम्यवाद के अधिनायकवादी मूल्यों तथा उदारवाद के लोकतांत्रिक मूल्यों के सम्पूर्ण संघर्ष को अपनी

भाषा में विश्व-व्यापी राजनीतिक सामाजिक संघर्ष कहा और समस्त राज वैज्ञानिकों व अन्य बुद्धिजीवियों को उदारवादी मानव मूल्यों का खुला समर्थन करने का आह्वान किया। इस प्रकार उत्तर व्यवहारवादियों ने 'व्यवसायों के राजनीतिकरण' की जिस आवश्यकता पर बल दिया है, वह विश्व स्तर पर अमरीका के राष्ट्रीय हितों की रक्षा के प्रति प्रतिबद्धता का आह्वान है।

4. उत्तर व्यवहारवादी मानव मूल्यों की रक्षा में समाज के राजनीतिक वैज्ञानिकों एवं सभी बुद्धिजीवियों की भूमिका पर अधिक बल देते हैं। किन्तु जिन मानव मूल्यों की वे बातें करते हैं, वे केवल उदारवादी मूल्य हैं। अत: वे अपने उदारवादी मूल्यों को ही मानव मूल्य मानते हैं और इन्हें ही स्वयं सिद्ध और शाश्वत मूल्यों के रूप में स्वीकारते हैं।

5. उत्तर व्यवहारवाद द्वारा उदारवादी मानव मूल्यों को लोकतांत्रिक व्यवस्था के अनिवार्य एवं आधारभूत मूल्यों के रुप में प्रस्तुत किया गया है। परन्तु तृतीय विश्व की लोकतांत्रिक व्यवस्थायें, जो राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक विपन्नता, गरीबी आदि जैसी अनेक गम्भीर समस्याओं से जूझ रही हैं, उसके लिए इन मानव मूल्यों का सीमित महत्व है।

3.4 व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद-तुलनात्मक दृष्टि

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका तथा पश्चिमी जगत में राजनीति विज्ञान की समग्र धारणा में ही क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। इस क्रांतिकारी परिवर्तन का श्रेय व्यवहारवाद को जाता है जिसने राजनीति विज्ञान के लक्ष्य, स्वरूप, विषय क्षेत्र, अध्ययन पद्धति आदि सभी को प्रभावित किया। व्यवहारवादी क्रांति के मध्याय में ऐसा लग रहा था कि राजनीति विज्ञान विशुद्ध विज्ञान बनने की होड में पूरी तरह जीवन की वास्तविक समस्याओं से अलग हट गया। किन्तु उत्तर व्यवहारवादी युग ने अपने आपको मूल्यों, नीतियों और समस्याओं से सम्बद्ध रखा है और इसी कारण उत्तर व्यवहावादियों द्वारा उत्तर व्यवहारवाद को व्यवहारवाद में महत्वपूर्ण सुधार माना गया है। इस प्रकार व्यवहारवाद तथा उत्तर व्यवहारवाद आधुनिक राजनीति विज्ञान के विकास की दो भिन्न अवस्थाओं को प्रकट करते हैं।

व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान में आधारभूत समानता स्वीकारी है और इसी आधार पर 'राजनीति का विज्ञान विकसित करने की असंभव कोशिश की। किन्तु उत्तर व्यवहारवादी राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान के समान नहीं माँग हैं और उन्होंने राजनीति विज्ञान को एक सामाजिक विज्ञान के रूप में ही मान्यता दी है।

व्यवहारवादी शोध की तकनीक को तथ्यों के ऊपर प्रधानता देते हैं और इसी लिए विश्वसनीय ज्ञान की शोध में वे तकनीकी कुशाग्रता प्राप्त करने की कोशिश में रहते हैं। जबकि उत्तर- व्यवहारवादी तथ्य और तकनीक दोनों के साथ- साथ उचित प्रयोग पर बल देते हैं और साथ हो यह भी मानते हैं कि तथ्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

व्यवहारवादी व्यावहारिक समस्याओं से अपने को पृथक करते, मूलभूत ज्ञान की खोज में लगे रहने का समर्थन करते हैं परन्तु उत्तर व्यवहारवादियों के अनुसार शोध महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के साथ संबद्ध होनी चाहिए और राजनीति वैज्ञानिकों समकालीन सामाजिक

समस्याओं के समाधानों का सुझाव देने के साथ ही वांछित सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए।

व्यवहारवाद 'तथ्य' तथा 'मूल्यों' को पृथक करता है। अध्ययन में केवल तथ्यों के महत्व को स्वीकारता है और मूल्यों को उपेक्षनीय मानता है। किन्तु उत्तर व्यवहारवाद तथ्यों तथा मूल्यों दोनों के महत्व को स्वीकार करता है तथा दोनों को कार्य व साग के साथ जोडता है।

व्यवहारवादियों पर रूढ़िवादी होने का आक्षेप लगाया जाता है के वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अनुरक्षण के काम में जूटे हुए थे और इसी दृष्टि से उन्होंने अपने शोध उपकरणों का विकास किया था। परन्तु उत्तर व्यवहारवादी परिवर्तन की को स्वीकार कर नयी सम्भावनाओं की ओर उन्मुख होते है।

वर्तमान काल में व्यावहारिक स्तर पर व्यवहारवादियों तथा व्यवहारवादियों के बीच परस्पर विरोध की स्थिति समाप्त हो चुकी है। इस प्रकार मानपरकवाद तथा व्यवहारपरक का सम्मिश्रण राजनीति विज्ञान विषय को सभी प्रकार एवं सभी दृष्टियों से समृद्ध बनाएगा

बोध प्रश्न-6

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद के मध्य दो प्रमुख अन्तर बताइए।

उत्तर: ……..

……..

……..

3.5 सारांश

व्यवहारवाद एवं उत्तर व्यवहारवाद दोनों ही आधुनिक राजनीति विज्ञान के विकास के दो भिन्न चरणों को इंगित करते हैं जो कि मूलत: अमरीकी राज वैज्ञानिकों के प्रयासों का परिणाम है। सन् 1945 से सन् 1970 तक का काल व्यवहारवादी युग माना जाता है। इस काल में व्यवहारवादी राजनीति शास्त्रियों ने परम्परागत राजनीति विज्ञान के मूल्य- प्रधान, आर्दशवादी तथा व्यक्तिनिष्ठ अध्ययन के स्थान पर मूल्य- निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ और कठोर वैज्ञानिक परिक्षणो पर आधारित अध्ययन का एक ऊँचा आदर्श रखा। इस उपागम ने राजनीति के अध्ययन में मनोवैज्ञानिक पद्धति, सांख्यिकी पद्धति, अनुभवात्मक पद्धति के साथ तालिकाओं, ग्राफ, गणितीय मॉडल, अनुमाप प्रविधि आदि विधियों को अपना कर इसे आनुभविक विज्ञान बनाने का प्रयास किया। व्यवहारवादियों की दृष्टि में राजनीति विज्ञान का उद्देश्य है ज्ञान के लिए ज्ञान की प्राप्ति अर्थात् सिद्धान्त निर्माण। इसी प्रयास में व्यवहारवादियों ने अन्त: अनुशासनात्मक दृष्टिकोण का भी प्रतिपादन किया। एक और महत्वपूर्ण बात व्यवहारवादियों के सम्बन्ध में यह है कि उन्होंने संस्थाओं के औपचारिक अध्ययन के स्थान पर मनुष्य के व्यवहार को राजनीतिक अनुसन्धान का केन्द्र बनाने पर बल दिया। वस्तुत: इसका लक्ष्य है, मानव व्यवहार को समझना, इसकी व्याख्या करना तथा उसके विषय में भविष्यवाणी करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारवाद ने अपने वैज्ञानिक अनुभववाद के माध्यम से आधुनिक राजनीति

विज्ञान को नवीन मान्यताएँ प्रदान करने के साथ ही नये विश्लेषणात्मक औजार दिये हैं। इस दृष्टि से नव राजनीति विज्ञान के निर्माण एवं विकास में व्यवहारवाद की भूमिका उल्लेखनीय है।

उत्तर व्यवहारवाद राजनीति विज्ञान की सन्तुलित एवं आधुनिक विकास की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। इसका प्रारम्भ सन् 197० से माना जाता है। यह वह समय था जब राजनीति शास्त्रियों को व्यवहारवादी राजनीतिक सिद्धान्त की अपर्याप्तता का आभास हो गया था और उन्होंने यह प्रश्न करना प्रारंभ कर दिया था कि ऐसे अनुसन्धान की उपयोगिता क्या थी जिसने समकालीन सामाजिक समस्याओं पर ध्यान भी नहीं दिया था। इस दृष्टि से उत्तर व्यवहारवाद व्यवहारवाद की कमियों को दूर करके आगे बढ़ने की दिशा में एक कदम है। इसने परम्परावाद तथा व्यवहारवाद दोनों के दोषों को त्याग कर इनके गुणों में उचित सामंजस्य स्थापित किया है। इसने परम्परावाद में निहित मूल्य के गुण को और व्यवहारवाद में निहित तथ्य के गुण को राजनीति के अध्ययन में महत्व देकर एक समन्वयवादी दृष्टिकोण का विकास किया है। उत्तर व्यवहारवादियों का यह दृढ़ विश्वास है कि राजनीति का ज्ञान, वास्तविक राजनीतिक जीवन की समस्याओं और जटिलताओं से अलग रहकर विकसित नहीं किया जा सकता। अत: उन्होंने शोध की महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं के साथ सम्बद्धता एवं प्रयोजनशीलता का समर्थन किया है। उत्तर व्यवहारवादी चाहते हैं कि राजनीति वैज्ञानिक मानव मूल्यों के प्रसंग में सामाजिक समस्याओं के समाधानों का सुझाव प्रस्तुत करने के अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन को लाने के आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथों में ले कर सामाजिक पुनर्निमाण में योग दें। संक्षेप में, उत्तर व्यवहारवादी राजनीति के अध्ययन में मानकों व मूल्यों को पुन: प्रतिष्ठापित करने तथा तकनीक की अपेक्षा विषय वस्तु (सार) पर अधिक बल देने का आग्रह करते हैं। इसके अतिरिक्त वे शोध को सामाजिक आवश्यकताओं और समस्याओं की दृष्टि से प्रासंगिक तथा कार्योन्मुखी बनाने का भी अनुरोध करते हैं।

3.6 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. व्यवहारवाद के अर्थ, परिभाषा तथा विकास को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2. व्यवहारवाद के उदय के कारणों एवं प्रभावों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न 3. डेविड ईस्टन द्वारा वर्णित व्यवहारवाद की प्रमुख विशेषताओं को इंगित कीजिए।

प्रश्न 4. उत्तर व्यवहारवाद पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

प्रश्न 5. उत्तर व्यवहारवाद के प्रसंग में डेविड ईस्टन के 'प्रासंगिकता के सिद्धान्त' पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 6. उत्तर व्यवहारवाद से आप क्या समझते हैं? उत्तर व्यवहारवादी क्रांति के कारण बतलाइये।

3.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ईस्टन, डेविड 'दि पोलिटिकल सिस्टम, एन इन्क्वायरी इन्टु दी स्टेट ऑफ पोलिटिकल साइंस', साइंटिफिक बुक एजेन्सी: कलकत्ता, 1953

2. ट्रूमैन, डेविड बी. 'दि इम्पैक्ट ऑन पोलिटिकल साइंस ऑफ दि रिवोल्यूशन इन दी बिहेवियरल साइंसेज,' रिसर्च फ्रंटियर्स इन पोलिटिक्स एण्ड गवर्नमेंट: बुकिंग्स इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन डी. सी, 1955

3. डाल राबर्ट ए. 'मॉडर्न पोलिटिकल एनालिसिस' : एन. जे. प्रेंटिस-हाल, एंग्लवुड क्लिपस, 1963

4. ब्रेख्त आर्नोल्ड 'पोलिटिकल थियरी दि फाउंडेशन्स ऑफ ट्वेंटीयथ सेन्चुरि पोलिटिकल थॉट प्रिसंटन विश्वविद्यालय प्रेस, प्रिसंटन, 1959

इकाई -4

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 राजनीतिक दल

- 4.2.1. राजनीतिक दलों का महत्व
- 4.2.2. राजनीतिक दलों की भूमिका
- 4.2.3. दलीय प्रणाली के गुण-दोष
- 4.2.4. दल प्रणाली के प्रकार
- 4.2.5. भारत में दल व्यवस्था

4.3. दबाव समूह

- 4.3.1 दबाव समूह की विशेषताएं
- 4.3.2. दबाव समूह का महत्व
- 4.3.3. राजनीतिक दल एवं दबाव समूह-तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य
- 4.3.4. दबाव समूह की कार्य प्रणाली
- 4.3.5. भारत में दबाव समूह

4.4. सारांश

4.5. अभ्यासार्थ प्रश्न

4.6. संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- लोकतांत्रिक राज्यों में राजनीतिक दलों एवं दबाव समूह की प्रासंगिकता का प्रतिपादन
- राजनीतिक दल एवं दबाव समूह का अर्थ एवं इनकी विशेषताऐ तथा
- राजनीतिक दल एवं दबाव समूह का तुलनात्मक विश्लेषण एवं भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल एवं दबाव समूह के महत्व का निरूपण।

4.1 प्रस्तावना

प्रजातंत्र में शासन व्यवस्था के दो मुख्य स्रोत होते हैं- संविधान और सविधानेतर दोनों भिन्न हैं और एक दूसरे के पूरक भी। यदि संविधान शासन को ढांचा प्रदान करता है तो सविधानेतर अंग उसे गति प्रदान करते हैं। राजनीतिक दल एवं दबाव समूह शासन के इसी सविधानेतर पहलू के उदाहरण हैं जो प्रजातंत्र की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था में राजनीतिक दल ही जनता का मत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दल ऐसे लोगों का संगठन होता है जो सैद्धान्तिक रूप से एकमत होते हैं तथा सामूहिक नेतृत्व से चुनावों के माध्यम से सत्ता प्राप्त का प्रयास करते हैं। राजनीतिक दल मुख्यत: परम्पराओं, विचारधारा, मनोवैज्ञानिक कारण आदि बंधनों से संगठित रहते हैं। निर्वाचित सरकारों के आधुनिक युग में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सभी आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में, राजनीतिक दल समाज और विभिन्न सरकारी संस्थानों को जोड़ने वाली कड़ी का काम करते हैं। वस्तुत: राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक शासन की धुरी के रूप में कार्य करते हैं।

प्रस्तुत इकाई में राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों के भूमिका, गुण-दोष, दल प्रणाली के प्रकार आदि की विवेचना की गयी है। साथ ही संक्षेप में भारत दल व्यवस्था का चित्रण किया गया है। राजनीतिक व्यवस्था में न केवल राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका होती दे अपितु इस पर दबाव समूह भी अपना प्रभाव डालते हैं जिसकी विवेचना 4.3 के अन्तर्गत की है।

4.2 राजनीतिक दल

लोकतांत्रिक सरकारों की कल्पना राजनीतिक दलों के बिना नहीं की जा सकती। राजनीतिक दल लोकतंत्र के साधन एवं आधार शिलायें हैं। राजनीतिक - नागरिकों का ऐसा संगठित समूह है जो सार्वजनिक प्रश्नों के विषय में समान विचार रखता है और राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए अपनी कल्पित नीति को विस्तार देने के लिए -नियन्त्रण को हस्तगत करना चाहता है। इस प्रकार राजनीतिक दल व्यक्तियों के किसी भी समूह जो समान राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है उसे राजनीतिक दल कहा जाता है। विचारकों ने राजनीतिक दल को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। जिनमें से कुछ विचारकों के विचार निम्न प्रकार है-

मैकाइवर के अनुसार, " राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी 'छ सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"

लीकॉक के अनुसार, " राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय कहते हैं जो इकट्ठे मिलकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक प्रश्नों पर एक जैसे होते हैं और एक सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति - प्रयोग करके सरकार पर अपना कब्जा जमाना चाहते हैं।"

गिल क्राइस्ट के अनुसार, " एक राजनीतिक दल उन नागरिकों का एक समूह है जिसके राजनीतिक विचार एक से होते हैं तथा जो एक राजनीतिक इकाई की तरह काम करके सरकार पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करते हैं।"

गेटेल के शब्दों में. "राजनीतिक दल नागरिकों का वह समुदाय है जो एक सार्वजनिक इकाई के रूप में कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार को नियन्त्रण करना तथा अपनी सामान्य नीति की पूर्ति करना चाहता है।"

एडमण्ड बर्क के अनुसार, "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का समूह होता है जो किसी सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एकमत हों अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बंधें हों।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दल के निम्न लक्षण परिलक्षित होते हैं-

1. आधारभूत सिद्धान्तों पर सदस्यों में मतैक्य,
2. उद्देश्य प्राप्ति के लिए शान्तीपूर्ण तथा संविधानिक साधनों पर बल,
3. राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से निर्वाचन आदि में भाग लेना,
4. राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देना।
5. राष्ट्रीय हितों की उन्नति की चेष्टा करना।

इस प्रकार राजनीतिक दल नागरिकों का एक ऐसा राजनीतिक संगठन होता है जिसमें वैचारिक एकता पायी जाती है। इसका उद्देश्य शासन- सत्ता पर अधिकार प्राप्त करके अपनी विचारधारा के अनुसार शासन कार्य करना होता है।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. राजनीतिक दल का अर्थ बताइए।

उत्तर: ……

……

……

2. राजनीतिक दल के किन्हीं दो लक्षण की विवेचना कीजिये।

उत्तर: ……

……

……

4.2.1. राजनीतिक दलों का महत्व

राजनीतिक दल जनतांत्रिक सरकार की कार्यकारिता के लिए अपरिहार्य है। **एडमण्ड बर्क** के अनुसार, "दलीय प्रणाली चाहे पूर्ण रूप रो भले के लिए हो अ अथवा बुरे के लिए, लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।" राजनीतिक दल राष्ट्रीय हित को व्यवस्थित एवं तर्कपूर्ण नीति के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उसके पक्ष में लोकमत का निर्माण करते हैं, लोकतांत्रिक चुनाव प्रणाली को मूर्तरूप देते हैं और शासन के संचालन के साथ ही उसकी निरंकुशता को नियंत्रित करते हैं और लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं, अधिकारों एवं मूल्यों की रक्षा करते हैं। **मेकाइवर** का कथन है कि 'दलीय संगठन के बिना किसी सिद्धान्त का व्यवस्थित एवं एकीभूत प्रकाशन नहीं हो सकता, किसी भी नीति का क्रमबद्ध विकास नहीं हो सकता। संसदीय चुनावों की वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं हो सकती और न ऐसी मान्य संस्थाओं की व्यवस्था ही हो सकती है जिनके द्वारा कोई भी दल शांति प्राप्त करता है तथा उसे स्थिर रखता है।'

शासन व्यवस्था चाहे संसदात्मक हो अथवा अध्यक्षात्मक, राजनीतिक दलों के अभाव में सरकार का कुशल संचालन नहीं हो सकता। विरोधी दलों के रूप में भी दलों का बहुत महत्व है क्योंकि विरोधी दल ही सरकार की नीतियों तथा उसके कार्यो पर नियंत्रण रखता है और उसे निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है। इस प्रकार राजनीतिक दलों द्वारा ही प्रतिनिधि सरकार सफलता के साथ चल सकती है।

एक स्वस्थ एवं जागरूक राजनीतिक वातावरण केवल राजनीतिक दल ही कायम कर सकते हैं। राजनीतिक दल जनमत निर्माण में सहायक होते हैं। **लावेल** का है कि 'राजनीतिक दल किसी प्रश्न पर जनमत तैयार करते हैं और जनमत तैयार करने के लिए, कुछ सिद्धान्त या प्रश्न उपस्थित करते हैं। "

वस्तुत: लोकतांत्रिक व्यवस्था लोकमत पर आधारित होती है और लोकमत का निर्माण मुख्य रूप से राजनीतिक दलों के द्वारा ही किया जाता है। दलों के अपने निश्चित सिद्धान्त होते हैं। इन सिद्धान्तों के आधार पर ही मतदाता उनके उम्मीदवारों को चुनावों में परास्त या विजयी बनाते हैं। राजनीतिक दल बहुमत प्राप्त करके न केवल सरकार का निर्माण करते हुए अपितु राजनीतिक दल विरोधी पक्ष की भूमिका का निर्वाह करके सरकार के अनुचित एवं स्वेच्छाचारी कार्यो पर अंकुश भी लगाते हैं। **लॉर्ड बाइस** का कथन है कि, 'राजनीतिक दल अनिवार्य है कि कोई भी बडा स्वतंत्र देश उनके बिना नहीं रह सकता है। किसी व्यक्ति ने यह नहीं बताया है कि प्रजातंत्र उनके बिना कैसे चल सकता है। ये मतदाताओं के समूह की अराजकता में से उत्पन्न करते हैं। यदि दल कुछ बुराइयां उत्पन्न करते हैं तो वे दूसरी बुराइयों को दूर भी करते हैं " इस प्रकार राजनीतिक दल आधुनिक राज-व्यवस्था एवं शासन प्रणाली का एक अनिवार्य अंग।

4.2.2. राजनीतिक दलों की भूमिका

राजनीति दल लोकतंत्र के पहिये हैं और लोकतंत्रीय व्यवस्था अन्तर्गत जनता की भावनाओं के निर्धारण तथा अभिव्यक्तिकरण की महत्वपूर्ण भूमिका का करते हैं। राजनीतिक दल प्रशासनिक चेतना के केन्द्र हैं और वे पुल हैं जो शासन तथा की इच्छाओं में साम्य स्थापित करने में समर्थ हैं। प्रो. मेरियम ने राजनीतिक दलों की भूमिका वर्णन करते हुए लिखा है कि " राजनीतिक दलों का कार्य पदाधिकारियों का चुनाव करना. लोकनीति का निर्धारण करना, शासन का संचालन अथवा उसका रचनात्मक आलोचना करना, राजनीतिक प्रचार और शिक्षण तथा व्यक्ति एवं सरकार के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में सहायता देना है। " लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की भूमिका इस प्रकार हे-

1. जनमत निर्माण :

समाज के विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचारों को दलों द्वारा किया जाता है। वे बिखरे एवं अस्पष्ट विचारों को स्पष्ट एवं व्यवस्थित करते हैं तथा जनमत थ में योग देते हैं। सामाजिक जीवन की विभिन्न उलझी हुई समस्याओं में से प्रमुख समस्याओं वे जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

2. राजनीतिक शिक्षा :

दल जनता को राजनीतिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। लॉवेल के अनुसार दल 'विचारों के दलाल' हैं। विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के संबंध में प्रत्येक दल द्वारा पक्ष एवं विपक्ष में विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, अपने-अपने कार्यक्रम प्रस्तुत जाते हैं, निर्वाचनों में जन सभायें आयोजित की जाती हैं। इससे लोगों में राजनीतिक शिक्षा एवं का प्रसार होता है। जनता सदैव सजग एवं जागरूक रहती है।

3. निर्वाचनों में सहायता :

दलों के कारण मतदाताओं को मतदान में काफी सुविधा रहती है। निर्वाचनों में दलों द्वारा अपने प्रत्याशी खड़े किये जाते हैं। उनके पक्ष में प्रचार करते हैं, आर्थिक प्रदान करते हैं। शासन सत्ता पर अपना अधिकार प्राप्त करते हैं। वस्तुत: लोकतांत्रिक राज्यों में राजनीतिक दलों के बिना चुनाव लडना एवं विजय प्राप्त करना कठिन कार्य है।।

4. शासन का संचालन :

राजनीतिक दल चुनाव में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। संसदीय एवं अध्यक्षात्मक दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों में सरकार का निर्माण तथा शासन व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों के आधार पर ही किया जाता है।

5. सरकार पर नियंत्रण :

विपक्षी दलों का उद्देश्य सरकारी नीतियों की स्वास्थ्य आलोचना करके जनमत को अपने पक्ष में करना होता है। विपक्ष के कार्यकलापों से जनता को यह ज्ञात होता है कि शासन-नीति की रूपरेखा क्या है। जब जनता शासन की वैकल्पिक नीति का समर्थन देने लगती है तब विरोधी दल शासन की बागडोर संभालने में सक्षम हो जाता है।

6. सरकार एवं जनता के मध्य कड़ी :

सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों का सम्पर्क जनता से निरंतर बना रहता है। विरोधी दल जनता की कठिनाइयों और मांगों को सरका र के सामने रखते हैं। एक राजनीतिक दल का मुख्य कार्य है कि वह विचारों का आदान-प्रदान एवं सम्पर्क का रास्ता खुला रखे। इस प्रकार सरकार सार्वजनिक कल्याण के लिए एवं लोकमत के अनुसार चलती है।

7. शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य :

राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करते हैं। संसदीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में दलीय अनुशासन एवं कार्यक्रम के फलस्वरूप अभिन्न संबंध बना रहता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में शासन के विभिन्न अंगों में पृथक्करण के कारण राजनीतिक दल ही शासन संचालन के कार्य को सुगम बनाते हैं। दल व्यवस्था के कारण ही सांविधानिक कठोरता वांछित लचीलेपन में बदल जाती है।

इस प्रकार लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

4.2.3 दलीय प्रणाली के गुण-दोष

दलीय प्रणाली के गुण इस प्रकार हैं :

1. लोकतंत्र का संचालन संभव :

राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतंत्रीय सरकार का संचालन संभव नहीं है। राजनीतिक दल लोकतंत्र के लिये रीढ़ की हड्डी के समान हैं। राजनीतिक दल प्रजातंत्रीय सरकार को व्यावहारिक बनाते हैं। इनसे देश में बिखरी हुई जनता को सामान्य सिद्धान्त पर सहमति के निकट लाया जाता है और उसकी क्रियान्विति का प्रयत्न किया जाता है।

2. मानव प्रकृति के अनुरूप :

मानवीय विचारों में भिन्नता होने के कारण ही राजनीतिक दल भी भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर आधारित एवं संगठित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुरूप राजनीतिक दल का समर्थन करता है और उस दल से जुड़ जाता है।

3. शासन के विभिन्न अंगों के मध्य सामंजस्य :

संसदीय अथवा अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में सामंजस्य राजनीतिक दल के द्वारा ही संभव हो पाता है। संसदीय शासन व्यवस्था में विधानमण्डल में जिस दल का बहुमत होता है उसी दल से कार्यपालिका के सदस्यों का चयन होता है। अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के मध्य संबंध दलीय माध्यम से ही संभव है।

4. सरकार की निरंकुशता पर रोक

राजनीतिक दलों के अस्तित्व के कारण ही व्यवस्थापिका में एक ' विरोधी दल होता है जो सरकार के प्रत्येक कार्य पर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है। अत: शासन निरंकुश नहीं बन पाता।

5. राजनीतिक चेतना :

राजनीतिक दल चुनाव एवं प्रचार के माध्यम से जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करते हैं। **फाइनर** के शब्दों में "राजनीतिक दल प्रत्येक नागरिक को वह ज्ञान प्रदान करते है जो समय एवं दूरी के कारण प्राप्त करना असंभव है।" अत: राजनीतिक दल जनता राजनीतिक प्रशिक्षक भी होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक दलों का अस्तित्व लोकतंत्र के लिए आवश्यक है। दल बहुमत के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। शासन को स्थायित्व एवं सुदृढ़ता प्रदान करते हैं।

दल प्रणाली में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं

1. राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा

क्षेत्रीय एवं साम्प्रदायिक हितों के समक्ष राष्ट्रीय हित गौण हो हैं। दलगत स्वार्थ एवं हित प्रमुख हो जाते हैं। वस्तुत: राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों की वृद्धि के लिए संगठित समुदाय है किन्तु अनेकों बार दलीय हितों को प्राथमिकता दी जाती है।

2. द्वेष एवं कटुता की भावना :

दलीय प्रणाली जनता को विभिन्न भागों में विभाजित करके जन साधारण में द्वैष एवं कटुता की भावना उत्पन्न करती है। कई बार विरोधी दल के सदस्य केवल विरोध के लिए ही सरकार का विरोध करते हैं। बाइस ने कहा है कि "दल केवल व्यवस्थापिका सभा को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी दो विरोधी पक्षों में बांट देता है। देश भक्ति के स्थान पर क्रोध एवं कड़वाहट उत्पन्न होती है। "

3. समय एवं धन का अपव्यय :

विरोधी दलों द्वारा प्राय: अनावश्यक रूप रो सरकार के उचित कार्यो की आलोचना की जाती है इससे समय एवं धन का अपव्यय होता है। प्रत्येक दल अपने संगठन को शक्तिशाली बनाने एवं जनता को अपने पक्ष में करने के लिए धन का व्यय करता है।

4. भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन

दलीय व्यवस्था राजनीतिक जीवन में भ्रष्टाचार को जन्म देती है धनी व्यक्ति चुनावों के समय राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देते है। दल के विजयी होने पर धनी व्यक्ति अनुचित लाभ उठाते हैं एवं अपने हित में कानून निर्माण करवाते हैं।

5. राजनीति एक व्यवसाय

दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीति को स्वार्थी राजनीतिज्ञों द्वारा एक पेशा बना लिया जाता है। रिश्वतखोरी एवं भाई-भतीजावाद पनपता है। झूठ, मिथ्या दोषोरोपण आदि का आश्रय लेकर राजनीतिक दल देश के वातावरण को दूषित कर देते हैं। परिणामस्वरूप जनता का नैतिक पतन भी होता है। इस प्रकार राजनीतिक दल सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अवसरवादिता आदि बुराइयों को प्रोत्साहन देते हैं।

6. योग्य एवं कुशल व्यक्तियों की उपेक्षा :

वस्तुत: देश का शासन योग्य एवं कुशल व्यक्तियों द्वारा चलाया जाना चाहिये, किन्तु निर्वाचन में जिस राजनीतिक दल को बहुमत मिलता है, उसी दल के सदस्यों को शासन संचालन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। दल से बाहर जो व्यक्ति योग्य, कुशल एवं श्रेष्ठ हैं उनकी सेवाओं से देश वंचित रह जाता है परिणामस्वरूप प्रशासनिक स्तर में गिरावट आ जाती है।

दलीय व्यवस्थाओं के दोषों के कारण ही **'दलविहीन प्रजातंत्र'** के विचार का प्रतिपादन किया गया। भारत में श्री जयप्रकाश नारायण द्वारा प्रजातंत्र के इसी रूप का प्रतिपादन किया गया। इनका मत है कि लोकतंत्र के वास्तविक आदर्श की सिद्धि दलविहीन प्रजातंत्र से ही संभव है, वस्तुत: दलविहीन लोकतंत्र का विचार आकर्षक प्रतीत होता है किन्तु यह क्रियात्मक एवं व्यावहारिक नहीं हैं। यह सर्वमान्य सत्य है कि राजनीतिक दल के बिना किसी भी प्रजातांत्रिक देश के शासन का संचालन संभव नहीं है।

यदि राजनीतिक दलों का निर्माण राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर हो, अन्य दलों के प्रति सहनशीलता हो, देश के नागरिक शिक्षित एवं जागरूक हों, राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दें, अपने संकीर्ण स्वार्थो को त्याग दें तो राजनीतिक दल उस देश के लिए शक्ति एवं एकता का माध्यम बन सकते हैं।

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. राजनीतिक दल के किन्हीं तीन कार्यो की विवेचना कीजिये।

उत्तर: ……

……

……

प्रश्न2. राजनीतिक दल के कोई दो दोष बताइये

उत्तर: ……

……

……

4.2.4. दल प्रणाली के प्रकार

दलीय प्रणाली तीन प्रकार की होती है :

1. एक दलीय प्रणाली
2. द्विदलीय प्रणाली
3. बहुदलीय प्रणाली

एक दलीय प्रणाली :

जब किसी राजनीतिक व्यवस्था में केवल एक ही राजनीतिक दल पाया जाता है तो इसे एकदलीय प्रणाली कहा जाता है। संविधानिक तौर पर एक ही दल को प्राप्त होती है। प्राय साम्यवादी एवं अधिनायकतंत्रीय व्यवस्थाओं में एक दलीय प्रणाली का रहता है। उदाहरण के लिए चीन, क्यूबा, उत्तरी कोरिया, वियतनाम में केवल साम्यवादी दल ही में है। एकदलीय प्रणाली ऐसे देश में भी हो सकती है जहां पर एक से अधिक राजनीतिक दल हों परन्तु शासन सत्ता पर एक ही राजनीतिक दल का प्रभुत्व रहता है तथा अन्य दल प्रभावहीन हों ऐसे देश को भी एकदलीय प्रणाली वाला देश ही कहा जाता है।

(i) एक दलीय प्रणाली के गुण :

1. राजनीतिक स्थिरता एवं तीव्र आर्थिक विकास :

एक ही राजनीतिक दल होने के कारण उसकी सत्ता को किसी प्रकार की चुनौती नहीं मिलती है परिरगमस्वरूप राजनीतिक स्थिरता रहती है। शासन में स्थायित्व एवं दृढता के कारण दीर्घकालीन आर्थिक योजनाएं बनायी एवं क्रियान्वित की जा सकती है। इससे देश का तीव्र आर्थिक विकास होता है।

2. सुदृढ़ शासन :

एकदलीय प्रणाली में विरोधी दल का अभाव होने के कारण शासन तीनों अंगों में एकता पायी जाती हे तथा राष्ट्रीय नीतियों के निर्धारण एवं क्रियान्वयन में कठिनाई नहीं होती है।

3. अनुशासन की स्थापना :

एक दलीय प्रणाली में शासन के किसी विरोध को स्वीकार नहीं किया जाता अत: सभी नागरिक अनुशासित होकर शासन की आज्ञा का पालन करते हैं।

4. राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति :

एक दलीय व्यवस्था सम्पूर्ण जनता के विभिन्न विरोधी हितों में एकता स्थापित करती है। यह जनता को राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लिए वर्गीय हितों को त्यागने की प्रेरणा देती है।

(ii) एकदलीय प्रणाली के दोष :

1. अप्रजातांत्रिक प्रणाली :

एकदलीय प्रणाली एकत्ववादी समाज तथा केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था की स्थापना करती है। लोकतंत्र के लिए एक विशेष प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक आधार वाले राजनीतिक दलों, खुले चुनाव, जनमत निर्माण के स्वतंत्र साधन, सत्ता के विकेन्द्रीकरण की अवश्यकता होती है किन्तु एक दलीय प्रणाली में इनका अभाव होता है।

2. अनुत्तरदायी शासन :

एक ही दल होने के कारण शासन शक्ति का पूर्ण एवं मनमाना प्रयोग करने के लिए वह स्वतंत्र होता है अत: एक दलीय व्यवस्था अनुतरदायित्व पूर्ण शासन को जन्म देती है।

3. नागरिक स्वतंत्रताओं का अन्त :

एकदलीय प्रणाली नागरिकों को स्वतंत्र विचार प्रकट करने की अनुमति नहीं देती बल्कि राष्ट्रीय एकता एवं अनुशासन के नाम पर नागरिकों को केवल कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा देती है। यह नागरिकों की मौलिक स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करती है।

4. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए हानिकारक :

एकदलीय व्यवस्था केन्द्रीयकरण की प्रवृति के कारण केवल अधिनायक तंत्र के लिए उपयोगी है लोकतंत्र के लिए नहीं। यह कठोर विदेशनीति तथा युद्ध की नीति में विश्वास करती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की उपेक्षा करती है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए एकदलीय प्रणाली हानिकारक होती है।

द्विदलीय प्रणाली

यदि किसी देश में मुख्य रूप से दो राजनीतिक दल ही सक्रिय एवं प्रभावशाली है तो इस व्यवस्था को द्विदलीय प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली में दो से अधिक राजनीतिक दलों का अस्तित्व हो सकता है किन्तु शासन सत्ता प्राय: दो राजनीतिक दलों के पास ही रहती है। ब्रिटेन एवं अमेरिका द्विदलीय पद्धति के प्रमुख उदाहरण हैं।

(i) द्विदलीय प्रणाली के गुण :

1. स्थायी एवं सुदृढ़शासन :

द्विदलीय प्रणाली में मंत्रिमंडल एक ही राजनीतिक दल का होता है, उसे व्यवस्थापिका में पूर्ण बहुमत प्राप्त होता है अत: सरकार सुदृढ़, स्थायी एवं जनकल्याणकारी नीतियों का निर्माण करती हैं। इससे शासन में स्थायित्व आता है और सरकार विश्वास के साथ कार्य करती है।

2. बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल का शासन :

द्विदलीय प्रणाली में बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल ही सरकार का गठन करता है। इसमें जनता की स्पष्ट इच्छा के अनुसार सरकार का निर्माण होता है। जिस दल को अल्पमत मिलता है वह विरोधी दल का स्थान ग्रहण करता है। बहुमत प्राप्त दल मंत्रिमंडल का गठन करता है।

3. संवैधानिक संकट का संभावना नहीं :

द्विदलीय प्रणाली में एकदल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होता है जिससे संवैधानिक संकट की संभावना नहीं रहती है। अच्छी एवं बुरी नीतियों के लिए उत्तरदायित्व का निर्धारण सरल हो जाता है।

4. शक्तिशाली विपक्ष :

द्विदलीय प्रणाली में विपक्षी दल प्राय: एक ही होने के कारण शक्तिशाली एवं संगठित होता है वह शासन के अनुचित कार्यो पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित कर लेता है। यह सरकार को निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है और नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है।

(ii) द्विदलीय प्रणाली के दोष :

1. सीमित विकल्प :

केवल दो ही राजनीतिक दल होने के कारण मतदाता के समक्ष मतदान का विकल्प सीमित होता है। मतदाता यदि दोनों दलों को पसन्द नहीं करता तो उसके समक्ष अन्य विकल्प नहीं होता। मेकाइवर के शब्दों में, "इस पद्धति में मतदाता की पसन्द अत्यधिक सीमित हो जाती और यह स्वतंत्र जनमत के निर्माण में बाधक होती है।"

2. राष्ट्र का विभाजन :

द्विदलीय प्रणाली में राष्ट्र का दलीय आधार पर विभाजन हो जाता है जिनमें समझौते की कोई संभावना नहीं रहती। इससे राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो जाता है।

3. बहुमत की निरंकुशता :

इस प्रणाली में मंत्रिमंडल की निरंकुशता स्थापित होने की पूर्ण संभावना रहती है। बहुमत का विश्वास प्राप्त होने के कारण सरकार मनमाने कानून का निर्माण करती है। अल्पमत प्राप्त दल केवल आलोचना कर सकता है।

4. सभी हितों का प्रतिनिधित्व नहीं :

द्विदलीय प्रणाली में कुछ सीमित वर्गो एवं हितों का प्रतिनिधित्व हो पाता है। अत: देश की व्यवस्थापिका पूर्ण जन-प्रतिनिध्यात्मक नहीं कही जा सकती।

5. कठोर दलीय अनुशासन :

इस प्रणाली में दलीय अनुशासन इतना कठोर होता है कि यदि सदस्य दल के दृष्टिकोण से सहमत न भी हो तो उन्हें दल के आदेशों का पालन करना होता है इसके कारण सदस्यों का व्यक्तित्व कुंठित होता है।

बहुदलीय प्रणाली :

जब किसी देश में दो से अधिक राजनीतिक दल प्रभावशाली हो उसे बहुदलीय प्रणाली कहा जाता है। उदाहरण के लिए भारत, फ्रांस, इटली में यह प्रणाली कहा जाता है। भारत में 1977 तक एक दलीय प्रभुत्व के कारण कांग्रेस का बहुमत रहा उसके बाद मिले मंत्रिमंडल का युग प्रारम्भ हुआ। इस प्रणाली में प्राय: किसी एक दल को बहुमत नहीं मिल पाता अत: कोई भी दल अन्य दलों के सहयोग से सरकार का गठन कर पाता है।

(i) बहुदलीय प्रणाली के गुण :

1. मतदाताओं के सम्मुख अधिक विकल्प :

मतदाताओं को इस बात की स्वतंत्रता होती है कि वे विभिन्न दलो में से अपनी विचारधारा के अनुरूप किसी भी दल का समर्थन कर सकता है।

2. राष्ट्र दो विरोधी गुटों में नहीं बंटता है:

बहुदलीय प्रणाली में दलों में कठोर अनुशासन नहीं होता है। अनेक दल होने के कारण राष्ट्र का दलीय आधार पर दो गुटों में विभाजन नहीं हो पाता।

3. व्यवस्थापिका में विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व :

बहुदलीय प्रणाली में अनेक राजनीतिक दल होने के कारण विभिन्न वर्गो, हितों एवं विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व हो जाता है। सभी वर्गो एवं हितों के प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में अपने विचार प्रकट कर सकते हैं।

4. मंत्रिमंडल की तानाशाही पर अंकुश :

बहुदलीय प्रणाली में मंत्रिमंडल में विभिन्न दलों के प्रतिनिधि के कारण तानाशाही स्थापित होने का भय नहीं रहता है क्योंकि किसी भी एक समर्थक दल असंतोष सभी को खतरे में डाल सकता है।

(ii) बहुदलीय प्रणाली के दोष :

1. शासन में अस्थिरता.

बहुदलीय प्रणाली के अन्तर्गत गठित संयुक्त सरकारें अस्थायी एवं कमजोर होती है। जैसे ही विभिन्न दलों के राजनीतिक हित परस्पर टकराते हैं, मंत्रिमंडल का पतन हो जाता है।

2. अनिश्चित नीतियां :

मंत्रिमंडल में जल्दी- जल्दी परिवर्तन होने के कारण शासन की नीतियों में अनिश्चितता रहती है। यह स्थिति देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से लाभकारी नहीं है।

3. सशक्त विरोधी दल का अभाव :

संसदीय लोकतंत्र में सरकार को निरंकुश बनने रो रोकने के लिए तथा नागरिकों के हितों की रक्षा करने के लिए एक शक्तिशाली विरोधी दल आवश्यक है किन्तु बहुदलीय प्रणाली में सशक्त विरोधी दल का निर्माण संभव नहीं है अत : सरकार द्वारा जन इच्छा की उपेक्षा की संभावना अधिक रहती है।

4. राष्ट्र अनेक समूहों में विभाजित :

बहुदलीय प्रणाली के कारण राष्ट्र अनेक परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो जाता है। विभिन्न राजनीतिक दल अपनी विचारधाराओं के आधार पर देश के नागरिकों को विभिन्न वर्गो में विभाजित कर देते हैं।

एकदलीय, द्विदलीय एवं बहुदलीय प्रणालियों की विवेचना से स्पष्ट है कि यदि तुलनात्मक विश्लेषण किया जाये तथा विश्व के विभिन्न सफल लोकतांत्रिक देशों की दलीय प्रणाली का अवलोकन किया जाये तो द्विदलीय प्रणाली बहुदलीय प्रणाली से श्रेष्ठ होती है। विकसित राज्यों के लोकतंत्रों की भाँति विकासशील राज्यों के लोकतंत्रों के लिए भी सर्वोत्तम द्विदलीय प्रणाली ही है। लोकतंत्र के अधिक प्रभावशाली संचालन क लिए जरूरी है कि क्रमश: द्विदलीय पद्धति का विकास हो।

बोध प्रश्न-3

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. दल प्रणाली के प्रकारों की विवेचना कीजिये।

उत्तर: ……

……

……

प्रश्न2. बहुदलीय प्रणाली के कोई दो दोष बताइये

उत्तर: ……

……

……

4.2.5. भारत में दल व्यवस्था

भारत में स्वतंत्रता संघर्ष में प्रमुख रूप से कांग्रेस दल ने भूमिका निभाई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी इस दल का प्रभाव भारत में बना रहा। अन्य राजनीतिक दलों का उद्भव भी इसी राजनीतिक दल के असन्तुष्ट नेताओं द्वारा किया गया। कांग्रेस के अधिकांश समय तक सत्ता में बने रहने के कारण मोरिस जोन्स ने भारत की दलीय पद्धति को एकदल की प्रधानता वाली बहुदलीय की श्रेणी में रखा।

भारतीय दलीय व्यवस्था का संक्षिप्त इतिहास :

1947 से 1976 तक कांग्रेस की केन्द्रज़ में सरकार बनी रही। 1967 में कांग्रेस अनेक राज्यों की विधान सभाओं में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी तथा संविद सरकारें। 1977 के लोकसभा चुनाव में प्रथम बार केन्द्र में कांग्रेस की सरकार नहीं बनी। विपक्षी दलों सम्मेलन से बनी जनता पार्टी की सरकार बनी। कुछ ऐसा आभास होने लगा था कि भारत में द्विदलीय पद्धति स्थापित होने जा रही है लेकिन यह भ्रम शीघ्र टूट गया। 1978 से राजनीतिक ध्रुवीकरण से विघटन एवं बिखराव प्रारम्भ हो गया। 1980 के आमचुनाव में पुन: कांग्रेस केन्द्र में सत्ता में आ गयी। 1984 में इंदिरा गांधी का हत्या के पश्चात कांग्रेस राजीव गांधी के नेतृत्व में पुन: बहुमत में। 1989 में भी कांग्रेस को सर्वाधिक सीटें मिली किन्तु सत्ता का नेतृत्व जनता दल ने अन्य दलों सहयोग से किया। यह सहयोग अधिक दिन तक नहीं चला। 1991 में पुन: कांग्रेस सत्ता में आयी जो 1996 तक रही फिर गठबन्धन सरकारों का युग प्रारम्भ हुआ।

विशेषतायें

1. बहुदलीय राजनीतिक दल प्रणाली :

भारत में बहुदलीय राजनीतिक दल प्रणाली है यह कहा जाने लगा कि जितने नेता उतने राजनीतिक दल हैं।

2. एकदल का प्रभुत्व :

1952 से 1991 तक केन्द्र में केवल कुछ समय (1977 तथा 1989 को) कांग्रेस ही सत्ता में बनी रही।

3. दल में व्यक्तित्व की प्रधानता :

राजनीतिक दलों में विचारधारा का तत्व इतना प्रभावी नहीं रहा जितना कि व्यक्तित्व का। राजनीतिक दल का आधार व्यक्तित्व रहा है। कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू इंदिरा गांधी, राजीव

गांधी का व्यक्तित्व छाया रहा। पार्टी के नाम के आगे नेता के नाम लिखने की से यह स्पष्ट हो जाता है। जनता (एस), कांग्रेस (आई), जनता दल (अ) आदि।

4. साम्प्रदायिक दलों का अस्तित्व :

भारतीय दल प्रणाली में कुछ राजनीतिक दल ऐसे रहे हैं जो धर्म के आधार बने हैं, जैसे- अकाली दल, हिन्दू महासभा, मुस्लिमलीग, मुस्लिम मजलिस, शिवसेना।

5. क्षेत्रीय दलों का प्रभाव :

राष्ट्रीय दलों के होते हुए भी अनेक राज्यों में क्षेत्रीय दलों की स्थिति मजबूत है। द्रविड मुनेत्र कडगम, अकाली दल, असम गण संग्राम परिषद, तेलगूदेशम, क्रान्तिरंगा मणिपुर पार्टी आदि।

6. विभाजन एवं गुटबन्दी :

प्रत्येक राजनीतिक दल में गुटबन्दी बनी रही तथा असन्तुष्ट गुट एक नया बनाते रहे हैं। कांग्रेस का विभाजन, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन, लोकदल तथा जनता का विभाजन, अकाली दल का विभाजन आदि इसके उदाहरण हैं।

4.3 दबाव समूह

समाज के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक वर्ग अपने हितों की प्राप्ति एवं रक्षा के लिए अपना समूह बना लेते हैं। जब ये समूह अपने हित की र एवं वृद्धि के लिए राज्य की विधायी एवं प्रशासनिक क्रिया को प्रभावित करते हैं तो उसे दबाव समूह कहा जाता है। दबाव समूह गैर-राजनीतिक, गैर-सरकारी, ऐच्छिक एवं औपचारिक रूप से संगठित होते हैं। ये सामान्य जनता के लिए अज्ञात संगठन भी होते हैं, किन्तु राजनीतिक व्यवस्था के संचालन पर उनका अत्यधिक प्रभाव होता है। वर्तमान राजनीतिक युग की एक महत्वपूर्ण देन दबाव समूहों का विकास है जो लगभग सभी लोकतांत्रिक देशों में पाये जाते हैं। दबाव समूह विशिष्ट हितों से संबंधित व्यक्तियों के ऐसे समूह होते हैं जो विधायकों को प्रभावित करके अपने उद्देश्यों एवं हितों के पक्ष में समर्थन प्राप्त करते हैं। ये राजनीतिक दल अथवा संगठन नहीं होते।

ओडीगार्ड के अनुसार, " एक दबाव समूह ऐसे लोगों का औपचारिक संगठन है जिनके एक अथवा अधिक ' सामान्य उद्देश्य एवं स्वार्थ हों और घटनाक्रम में विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को इसलिये प्रभावित करने का प्रयत्न करें कि उनके अपने हितों की रक्षा और वृद्धि हो सके।"

वी.ओ.की के अनुसार, "दबाव समूह सार्वजनिक नीति को प्रभावित करने के लिए बनाये गये निजी संगठन हैं।"

माइनर वीनर के अनुसार, "दबाव समूह स्वैच्छिक रूप से संगठित ऐसा समूह होता है जो प्रशासकीय ढांचे से बाहर हो और जो सरकारी अधिकारियों की नामजदगी तथा नियुक्ति, विधि निर्माण एवं सार्वजनिक नीति के क्रियान्वयन को प्रभावित करने में प्रयत्नशील रहते हैं।"

एच. जेगलर के शब्दों में, "दबाव समूह ऐसा संगठित समूह है जो अपने सदस्यों को सरकारी पदों पर बिठाये बिना सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने की कामना रखता है।"

इस प्रकार दबाव समूह राजनीतिक दलों की भांति किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते बल्कि किन्हीं विशेष समस्याओं या हितों से संबंधित होते हैं, ये पूर्णत: राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं। वे तो अपने समूह विशेष के लिए सरकारी नीतियों और राजनीतिक ढांचे को प्रभावित करते हैं। राजनीतिक दल न होते हुए भी वे दलों की भांति शक्ति संगठन होते हैं जिनकी निजी सदस्यता, उद्देश्य, संगठन, एकता, प्रतिष्ठा और साधन होते हैं।

4.3.1. दबाव समूह की विशेषतायें

दबाव समूह की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :-

1. सीमित उद्देश्य :

दबाव समूहों का लक्ष्य सीमित होता है। इनका उद्देश्य कभी भी सार्वजनिक हितों का' कल्याण नहीं होता अपितु अपने सदस्यों के कल्याण तक ही सीमित होता है।

2. संगठित अथवा असंगठित.

दबाव समूह संगठित अथवा असंगठित दोनों प्रकार के हो सकते हैं। जहाँ राजनीतिक दल के लिए संगठित होना आवश्यक है वहां दबाव समूह के लिए आवश्यक नुहीं है। उदाहरण के लिए जाति एक असंगठित दबाव समूह है जबकि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस एक संगठित दबाव समूह है।

3. सीमित सदस्यता :

दबाव समूह की सदस्यता केवल अपने वर्ग तक ही सीमित रहती है उदाहरण के लिए मजदूर संघ की सदस्यता केवल मजदूर ही प्राप्त कर सकते हैं। समाज का कोई अन्य वर्ग नहीं।

4. उचित-अनुचित साधनों का प्रयोग :

दबाव समूह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उचित-अनुचित, संवैधानिक और असंवैधानिक साधनों का प्रयोग करते हैं। दबाव समूहों का एकमात्र उद्देश्य अपने समूह के निजी हितों की पूर्ति करना है।

5. राजनीति एवं प्रशासन में परोक्ष भूमिका :

सभी दबाव समूह गैर राजनीतिक संगठन होते हैं किन्तु देश के राजनीतिक ढांचे को अपने हितों की पूर्ति के लिए प्रभावित अवश्य करते हैं। दबाव समूह चुनाव लड़कर राजनीतिक सत्ता नहीं हथियाना चाहते है। उनका लक्ष्य तो मंत्रियों, शासनाधिकारियों और विधायकों पर विभिन्न तरीकों से दबाव डालकर अपना कार्य निकलवाना है।

6. अनिश्चित कार्यकाल :

दबाव समूह का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। किसी विशेष हित की पूर्ति के लिए गठित दबाव समूह उस हित की पूर्ति होते ही समाप्त हो जाता है।

4.3.2. दबाव समूह का महत्व

वर्तमान लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में दबाव समूह का महत्व बढ़ता जा रहा है। दबाव समूहों की उपयोगिता एवं महत्व के प्रमुख कारण निम्न हैं :

1. लोकतांत्रिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति :

लोकतंत्र की सफलता के लिए जनमत तैयार करना आवश्यक होता हे। लोकमत को शिक्षित करके, आंकडे एकत्रित करके, विधि निर्माताओं के पास आवश्यक सूचनायें पहुंचाकर अपने उद्देश्य को प्राप्त करना आज लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अंग बन गया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति दबाव समूह द्वारा की जाती है।

2. विधि निर्माण में सहायता :

दबाव समूह विधि निर्माण में विधायकों की सहायता करते हैं। महत्वपूर्ण विधेयक का निर्माण करने से पूर्व सरकार संबंधित दबाव समूहों से परामर्श करती है। इनका परामर्श एवं सहायता दोनों ही इतने उपयोगी होते हैं कि इन्हें विधानमंडल के पीछे विधानमंडल कहा जाने लगा है।

3. सरकार की निरंकुशता को सीमित करना :

वर्तमान में शासन में बढ़ती हुई केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति के कारण दबाव समूहों का अस्तित्व, उनकी सक्रियता एवं प्रभाव के कारण सरकार निरंकुश आचरण नहीं कर पाती क्योंकि दबाव समूह अपने-अपने हितों की पूर्ति हेतु सरकार पर दबाव डालते रहते हैं।

4. विभिन्न व्यवसायों का प्रतिनिधित्व :

चुनावों में कई बार विशेष प्रकार के व्यवसायों या आर्थिक कार्यो में संलग्न व्यक्तियों के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। ये व्यक्ति अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि के द्वारा दबाव समूह के रूप में संगठित हो सकते हैं। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों या आर्थिक हितों की उपेक्षा नहीं हो पाती।

5. शासन एवं जनता के बीच सम्पर्क सूत्र :

दबाव समूह व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स करते हैं। निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लेते हैं। इस प्रकार ये नागरिक और सरकार के मध्य संचार साधन का कार्य करते हैं।

6. शासन एवं समाज में संतुलन स्थापित करना :

दबाव समूह व्यक्तिगत हितों का राष्ट्रीय हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं। निर्वाचित नेता दबाव समूहों के माध्यम से निर्वाचकों की इच्छा-आकांक्षाओं का पता लगा लेते हैं। इस प्रकार ये नागरिक और सरकार के मध्य संचार-साधन का कार्य करते हैं। तथा लॉबीइंग तकनीक के द्वारा सरकार पर दबाव डालने का कार्य करते हैं।

बोध प्रश्न-4

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. दबाव समूह का अर्थ बताइये।

उत्तर: ……..

……..

……..

2. राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह का महत्व बताइये।

उत्तर: ……..

……..

……..

4.3.3. राजनीतिक दल एवं दबाव समूह : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में निम्न अन्तर किया जा सकता है-

1. संगठन का अन्तर :

राजनीतिक दल अनिवार्यरूप से औपचारिक रूप से संगठित होतेहैं , किन्तु दबाव समूह औपचारिक रूप से संगठित या असंगठित दोनों में से किसी भी प्रकार के हो सकते हैं।

2. आकार तथा सदस्यता का अन्तर :

राजनीतिक दल आकार एवं संगठन की दृष्टि से बडे होते हैं, लाखों तथा करोड़ों लोगों का समर्थन प्राप्त होता है। दबाव समूह वर्ग विशेष के हितों से संबंधित होने के कारण आकार तथा सदस्यता की दृष्टि से छोटे संगठन होते हैं।

इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति एक समय में अनेक दबाव समूहों का सदस्य बन सकता है लेकिन वह एक समय में एक से अधिक राजनीतिक दलों का सदस्य नहीं बन सकता।

3. लक्ष्य का अन्तर :

राजनीतिक दल का उद्देश्य निर्वाचन में भाग लेकर बहुमत प्राप्त करना तथा शासन सत्ता पर अपना अधिकार कायम करना होता है इसके विपरीत दबाव समूह का लक्ष्य शासन के ढांचे से बाहर रहकर कानून निर्माण तथा शासन की नीतियों एवं कार्यो को प्रभावित करना होता है। दबाव समूह लक्ष्य प्राप्ति के लिए उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं।

4. कार्य क्षेत्र का अन्तर :

राजनीतिक दल का संबंध राष्ट्रीय हित की सभी समस्याओं से होने के कारण उनका कार्यक्षेत्र व्यापक होता है किन्तु दबाव समूह का कार्य क्षेत्र संकुचित होता है उसका संबंध वर्ग विशेष के हितों से संबंधित समस्याओं के समाधान से होता है।

5. साधनों का अन्तर :

राजनीतिक दल शासन सत्ता प्राप्त करने के लिए संवैधानिक साधनों का प्रयोग करते हैं किन्तु दबाव समूह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संवैधानिक तथा असंवैधानिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं।

6. प्रकृति का अन्तर :

राजनीतिक दल प्राय: सदैव सक्रिय रहते हैं किन्तु दबाव समूह अपने हितों से सम्बद्ध अवसरों पर ही सक्रिय होते हैं।

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह- एक दूसरे के पूरक

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में भिन्नता के बाद भी वे परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं बल्कि एक दूसरे के सहायक एवं पूरक होते हैं। जहाँ दबाव समूह विशेष हितों की रक्षा कर समाज की सेवा करते हैं वहां राजनीतिक दल सार्वजनिक हितों पर विशेष बल देकर विशेष को सार्वजनिक हितों के साथ समन्वित करने का प्रयास करता है।

दबाव समूह राजनीतिक मांगों को स्पष्ट और संयुक्त करते हैं। दबाव राजनीतिक दलों को विशेष हितों की उपेक्षा करने से रोकते हैं और उन्हें समायोजन की नीति अपनाने के लिए बाध्य करते हैं। वस्तुत: दलीय व्यवस्था की स्थिति मध्यस्थता की होती है 1 दबाव समूह और अधिकाधिक नीति निर्माण अभिकरणों में मध्यम मार्ग अपनाती है।

जहां दल व्यवस्था दबाव समूहों के विघटनकारी और संकीर्ण हितों से सार्वजनिक हितों की रक्षा करते हैं वहां वह भिन्न-भिन्न हितों को संयुक्त करके उन्हें सार्वजनिक रूपदेने का प्रयास करती है। इस दृष्टि से दबाव समूह द्विमार्गीय सन्तुलन का कार्यकरते हैं। एक वे जन इच्छा को विधायकों और प्रशासनिक अधिकारियों तक पहुंचाकर उनके निर्णयों के अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं और दूसरी ओर वे प्रशासन की नीतियों और दृष्टिकोणों को छनता तक पहुंचाकर उसे शान्त करने का प्रयास करते हैं।

4.3.4. दबाव समूह की कार्य प्रणाली

वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की भूमिका निम्न प्रकार से है :

1. दबाव समूह और व्यवस्थापिका

दबाव समूह इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं कि व्यवस्थापिका के द्वारा कानूनों का निर्माण करते समय उनके हितों का पूरा ध्यान रखा जाय। इसके लिए वे विधायकों को उनके चुनाव में भारी आर्थिक सहायता देकर उन्हें अपना आश्रित बना लेते हैं। अत: विधायक इन दबाव समूहों के हितों के विपरीत कानून नहीं बनने देते। अमरीका में कांग्रेस के सदस्य दबाव समूहों से भारी आर्थिक सहायता प्राप्त करने के कारण उनके प्रभाव में बने रहते है। दबाव समूहों की विधि निर्माण के क्षेत्र में इस भूमिका के कारण ही इन्हें संविधान के बाहर कार्यरत 'कांग्रेस का तृतीय सदन ' कहा जाता है।

2. दबाव समूह तथा कार्यपालिका :

संसदीय शासन प्रणाली में विधेयकों का निर्माण, बजट का निर्माण, महत्वपूर्ण पदों पर। नियुक्ति आदि का कार्य कार्यपालिका द्वारा ही किये जाते हैं। दबाव समूह कार्यपालिका पर इस बात के लिए प्रभाव डालते हैं कि उनके हितों को संरक्षण प्रदान करें। दबाव समूह प्रचार आदि के द्वारा कार्यपालिका की नीतियों को प्रभावित करते हैं। कार्यपालिका भी कई बार नीति-निर्धारण से पूर्व 'उद्योगपतियों, किसानों, मजदूरों, कर्मचारियों आदि के संघों पर विचार-विमर्श कर लेती है।

3. दबाव समूह एवं कर्मचारी वर्ग :

कर्मचारी वर्ग का मुख्य कार्य शासन संचालन करना है। दबाव समूह विभिन्न तरीकों रे नौकरशाही अथवा कर्मचारी वर्ग को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। इन तरीकों में शांतिप्रिय प्रदर्शन, हड़ताल, घेराव आदि बातें भी शामिल है।

4. दबाव समूह तथा निर्वाचन एवं जनमत.

दबाव समूह आम चुनाव में उन व्यक्तियों के लिए चुनाव प्रचार का कार्य भी करते हैं जो उनके पक्ष के समर्थक होते हैं। वे उम्मीदवारों को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। जनमत को प्रभावित करने में भी दबाव समूह का योगदान बढता जा रहा है।

4.3.5 भारत में दबाव समूह

भारत में दबाव समूहों का विकसित देशों की भांति विकास नहीं हो पाया किन्तु फिर भी भारत में निम्न प्रकार के दबाव समूह पाये जाते हैं

1. व्यावसायिक समूह

उद्योगपतियों तथा व्यापारियों के अनेक संगठन हैं जैसे फेडरेशन ऑफ इण्डियन चेम्बर ऑफ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री (FICCI) आदि।

2. जाति तथा धर्म आदि के समूह.

वर्तमान में जाति एवं धर्म के राजनीति से विभिन्न जाति एवं धार्मिक संगठन अस्तित्व में आये हैं, जो कि दबाव समूह के रूप में कार्य करते हैं जैसे- मुस्लिम मजलिस, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, जैन समाज, वैष्णव समाज, जमायत-ए-इस्लाम-ए-हिन्द।

3. श्रमिकों के संगठन :

श्रमिकों के संगठन जैसे - भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड अनइयन कांग्रेस, भारतीय मजदूर संघ, हिन्द मजदूर सभा आदि।

4. कृषि एवं किसान संगठन :

पिछले दशक में भारतीय किसान सभा, भारतीय किसान संघ तथा भारतीय किसान यूनियन आदि दबाव समूह के रूप में प्रभावी रहे।

5. बुद्धिजीवियों के संगठन :

डॉक्टर वकील, अध्यापक आदि संगठित रूप में सरकार पर दबाव डालने का कार्य करते हैं जैसे- ऑल इंडिया यूनिवर्सिटी एण्ड कॉलेज टीचर्स ऑर्गेनाइजेशन अखिल भारतीय मेडिकल काउंसिल, जनवादी लेखक संघ, पत्रकार संगठन, अखिल भारतीय बार एसोसिएशन आदि।

6. विद्यार्थी संगठन :

छात्रों के संगठन भी भारत में प्रभावी रहे हैं। प्रमुख संगठन हैं जैसे- नेशनल स्टूडेन्ट्स यूनियन ऑफ इण्डिया, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, स्टूडेन्ट्स फेडरेशन ऑफ इण्डिया आदि।

बोध प्रश्न-5

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में अन्तर बताइये।

उत्तर: ……

……

……

2. दबाव समूह कानून निर्माण में व्यवस्थापिका को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

उत्तर: ……

……

……

4.4 सारांश

आधुनिक विश्व की सभी राज- व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल प्रणाली अनिवार्य रूप से पायी जाती है। लोकतांत्रिक, सर्वसत्तावादी एवं विकासशील राज- व्यवस्थायें भी इसका अपवाद नहीं है। राजनीतिक दल किसी राज- व्यवस्था के संचालन एवं रक्षा के साधन होते हैं, अत: किसी राज- व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार ही उसकी दलीय व्यवस्था है। इसी प्रकार राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह का महत्व इतना बढ़ गया है कि उन्हें 'शासन निर्माता', 'विधानमंडल के पीछे विधान मण्डल' 'संसद का तृतीय सदन' 'अज्ञात साम्राज्य' कहा जाता है। दबाव समूह प्रशासकीय ढांचे से बाहर रहकर शासकीय अधिकारियों के निर्वाचन, सार्वजनिक नीति के निर्माण एवं क्रियान्वयन को प्रभावित करने का कार्य करते हैं। की तानाशाही से जनता की रक्षा करते हैं तथा समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य सामंजस्य रखने का कार्य भी करते हैं।

4.5 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिये। राजनीतिक दल के महत्व एवं भूमिका की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 2. लोकतंत्र की सफलता के लिए राजनीतिक दल किस प्रकार आवश्यक है? विवेचना कीजिये।

प्रश्न 3. बहु दलीय प्रणाली के गुण- दोषों की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 4. लोकतांत्रिक व्यवस्था में दबाव समूह की भूमिका की विवेचना कीजिये।

प्रश्न 5. दबाव समूह से आप क्या समझते हैं? राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में अंतर बताइये।

4.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एम. डुवेजर — पोलिटिकल पार्टीज. देयर आरगमाइजेशन एण्ड ऐक्टीविटीज, मोडर्न स्टेट, जॉन वायली, न्यूयार्क, 1954।
2. जी. सर्टोरी — पार्टीज एण्ड पार्टी सिस्टम:ऐ फ्रेमवर्क एनालिसिस, केमिब्रज यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूयार्क, 1976।
3. राबर्ट मिशल — पोलिटिकल पार्टीज, फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1949।

इकाई-5

शासन के अंग व उनके कार्य

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 शासन का अर्थ

- 5.2.1 व्यवस्थापिका अर्थ
- 5.2.2 व्यवस्थापिका के प्रकार
- 5.2.3 व्यवस्थापिका का आकार
- 5.2.4 कार्यकाल
- 5.2.5 व्यवस्थापिका के कार्य
- 5.2.6 व्यवस्थापिका वर्तमान स्थिति

5.3 कार्यपालिका अर्थ

- 5.3.1 कार्यपालिका के प्रकार
- 5.3.2 कार्यपालिका का कार्यकाल
- 5.3.3 कार्यपालिका के कार्य
- 5.3.4 कार्यपालिका वर्तमान स्थिति

5.4 न्यायपालिका अर्थ

- 5.4.1 न्यायपालिका संगठन
- 5.4.2 न्यायाधीशों की नियुक्ति
- 5.4.3 न्यायधीशों का कार्यकाल
- 5.4.4 न्यायधीशों के कार्य
- 5.4.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता
- 5.4.6 न्यायिक पुनरावलोकन
- 5.4.7 न्यायिक सक्रियता

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्न

5.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे-

- सरकार से क्या तात्पर्य है?
- सरकार के विभिन्न अंगों की पारस्परिक सम्बद्धता की स्थिति

- सरकार के अंगों के गठन एवं उनकी वर्तमान स्थिति क्या है ?
- सरकार के विभिन्न अंगों की क्या कार्यप्रणाली होती है ?

5.1 प्रस्तावना

प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री अरसा ने कहा था कि राज्य की उत्पत्ति जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के कारण हुई और अच्छे जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व चला आ रहा है। राज्य स्वयं अमूर्त है, यह दिखाई नही देता, अत: सरकार या शासन के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता है। सभ्य व सुसंस्कृत मानव जीवन के लिए राज्य व सरकार की आवश्यकता का अनुभव किया गया। मानव जीवन ने जब से अपने आपको व्यवस्थित किया तभी से राज्य व सरकार का प्रारम्भ हो गया था। प्रारम्भ में राजा, सम्राट, बादशाह या एम्परर हुआ करते थे जो शासन का प्रतीक हुआ करते थे। ये शासक जनता की भलाई के लिए काम करते थे। प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा के लिए आवश्यक गुणों की चर्चा करते हुए उसे जनता की भलाई के लिए कार्य करने की आवश्यकता पर जोर दिया। शासक को सामान्य व्यक्तियों से अधिक गुणों से युक्त व चरित्रवान होना आवश्यक बताया गया, ताकि वह मानवीय कमजोरियों पर विजय प्राप्त करके अधिकतम लोगों के सुख व कल्याण के लिए काम कर सके। जो शासक ऐसा करने में सक्षम न हो उसे अपने पद पर न रहने देने का अधिकार जनता का होना चाहिए, ऐसा भी कहा गया। इतिहास में ऐसे भी अनेक उदाहरण है जिसमें शासकों ने जनता के कल्याण के लिए कार्य किया तथा ऐसे भी शासक हुए जिन्हें अपने कर्त्तव्य का पालन न करने के कारण शासक के पद को छोड़ना पड़ा।

समय तथा मानवीय चेतना के विकास के साथ अधिक उदारवादी सोच प्रारम्भ हुई तथा मानवीय समानता पर बल देने के लिए प्रयास किये जाने लगे। सत्ता व शक्ति के केन्द्रीकरण से होने वाली हानियों के देखते हुए सत्ता में जनसहभागिता के लिए प्रयास किये जाने लगे। छोटे-छोटे राजतंत्र व अधिनायकतंत्र, जिसमें सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में होनी थी, के स्थान पर लोकतंत्र स्थापित हुए जिसमें सत्ता जनता के हाथ में निहित हुई। आज विश्व के समस्त देश लोकतंत्र से संचालित हो रहे हैं। शासन में सत्ता एक जगह इकट्ठी न हो जाय इसलिए शासन के कार्यो को कई भागों में बाँटा गया व अलग-अलग अंगों को उनका उत्तरदायित्व सौंपा गया। शासन के अंग परस्पर जुड़े भी रहें फिर भी उनकी अपनी-अपनी स्वतंत्र भूमिकाऐ निभाएँ, इसके लिए व्यवस्था की गई।

5.2 शासन का अर्थ

शासन या सरकार वह तंत्र है जिसके माध्यम से राज्य की अभिव्यक्ति होती है। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारकों, जैसे गैटेल तथा गार्नर ने राज्य की परिभाषा करते हुए शासन या सरकार को राज्य का आवश्यक अंग माना। सरकार या शासन का काम राज्य की जनता की भलाई व उनके विकास के लिए कानून बनाना व उनको लागू करना है। ऐसा न होने पर न्याय की व्यवस्था करना भी है। शासन निम्न तीन अंगों के द्वारा यह कार्य करता है:

- व्यवस्थापिका
- कार्यपालिका

- न्यायपालिका

इन तीन अंगों की अपनी भूमिकाऐ हैं, पर ये तीनो मिल कर शासन के कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों को वास्तविकता प्रदान करते हैं।

5.2.1 व्यवस्थापिका : अर्थ

व्यवस्थापिका शासन रूपी शरीर का दिमाग है। यह वह स्थान है सारे राज्य की जनता के कल्याण व विकास के लिए कानून का निर्माण होता है। विभिन्न प्रकार की शासन व्यवस्था जैसे राजतंत्र व अधिनायक तंत्र में व्यवस्थापिका के कार्य करने की पद्धति हो सकती है, लेकिन प्रमुख कार्य कानून बनाना ही है। लोकतंत्र में जनता के प्रतिनिधि जनता के हितों का ध्यान रखते हुए यह कार्य करते हैं।

5.2.2 व्यवस्थापिका के प्रकार

व्यवस्थापिकाऐ दो प्रकार की हो सकती हैं:

- एक सदनात्मक
- दो सदनात्मक

एक सदन के पक्ष में कहा जाता है:

- जनता की इच्छाएँ एक ही सदन के रूप में अभिव्यक्त होनी चाहिए;
- दूसरा सदन शक्तिहीन होता है तथा विधेयक को पारित होने में देरी करने की भूमिका निभाता है;
- अनावश्यक खर्च बढ़ता है;
- संघात्मक व्यवस्था में भी एक सदन के द्वारा सम्पूर्ण जनता से संघ की इकाइयों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व होता है।

दो सदन को अच्छा मानने वालों का कहना है;

- दूसरा सदन संघ की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है;
- जल्दी-जल्दी में पारित होने वाले विधेयकों पर रोक लगाता है;
- विभिन्न वर्गो व समूहों का प्रतिनिधित्व होता है;
- नामजदगी के माध्यम से अलग-अलग क्षेत्रों के योग्य व प्रतिभाशाली व्यक्ति सदन में प्रवेश कर सकते हैं।

वर्तमान में विश्व के अधिकांश देशों में दो सदनात्मक व्यवस्थापिकाएँ देखी जा सकती हैं। अमरीका, इंग्लैण्ड, भारत जैसे देश उसके उद्हारण हैं। बड़े देशों में चीन ही एक ऐसा देश है जहाँ एक सदनात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है।

5.2.3 व्यवस्थापिकाओं का आकार

व्यवस्थापिकाऐ न इतनी बडी हों कि विचार-विमर्श ठीक से न हो पाये, न इतनी छोटी हों कि देश के विभिन्न वर्गो का प्रतिनिधित्व ही न हो सके। छोटे देशों में समान्यता

व्यवस्थापिका में सदस्यों की संख्या कम होती है। भारत जैसे देश में दोनो सदनों के सदस्यों की संख्या लगभग 545+250=795 है।

5.2.4 कार्यकाल

विश्व के विभिन्न देशों में व्यवस्थापिकाओं का कार्यकाल 4 वर्ष से 7 वर्ष के बीच है। एक ही देश की व्यवस्थापिका के दोनो सदनों के कार्यकाल में भी फर्क है। में लोकसभा का कार्यकाल पाँच वर्ष तो राज्यसभा सदस्यों का कार्यकाल 6 वर्ष है। वस्तुत: व्यवस्थापिकाओं का कार्यकाल न तो इतना छोटा होना चाहिए कि देश की समस्याओं को पूरी तरह समझने का अवसर ही मिल न पाये, न इतना लम्बा होना चाहिए कि वे अधिकारों का दुरूपयोग करने लगें।

5.2.5 व्यवस्थापिका के कार्य

व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य तो कानून बनाना है, पर यह अन्य कई प्रकार के उत्तरदायित्व भी निभाती है, निम्नलिखित चार्ट से उसे अभिव्यक्त किया जा सकता है:

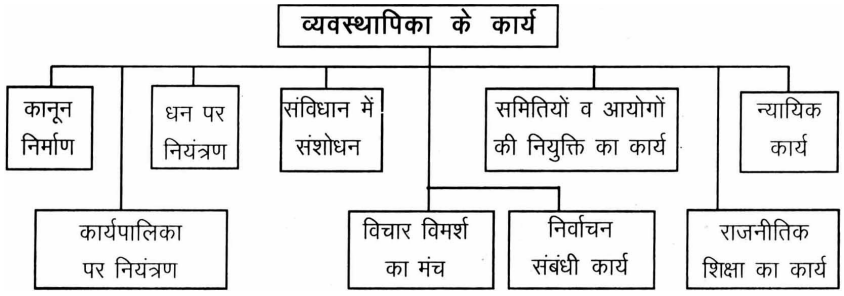

I. कानून निर्माण

राबर्ट रीनाऊ ने व्यवस्थापिका के दायित्वों को पारिभाषित करते हुए कहा है, "संसदों को विधि निर्माण के ऐसे औद्योगिक संस्थान समझना चाहिए जहाँ जनमत रूपी कच्चे माल को संविधि प्रस्तावों और सार्वजनिक नीतियों में परिवर्तित किया जाता है।" जीवन की बदलती आवश्यकताओं के अनुसार प्राथमिकता के आधार पर जनहित को दृष्टि में रख कर कानून बनाना व्यवस्थापिका का काम है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में यह कार्य और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि शासन का उद्देश्य कुछ लोगों या वर्गो के हितों का ध्यान रखना नहीं अपितु व्यापक हित का लक्ष्य सामने रखकर नीतियाँ बनाना है। यही कारण है कि व्यवस्थापिका में प्रस्तावित किसी भी विधेयक पर विभिन्न पहलुओं से विचार विमर्श होता है, विधेयक के शीघ्रगामी व दूरगामी परिणामों को ऑकना होता है तथा सार्वजनिक लाभ-हानि का भी ध्यान रखा जाता है। व्यवस्थापिका जहाँ एक ओर नये कानून का निर्माण करती है वहीं दूसरी ओर पुराने व अप्रासंगिक कानूनों को समाप्त करने का दायित्व भी निभाती है।

II. कार्यपालिका पर नियंत्रण

व्यवस्थापिका द्वारा बनाये कानूनों का क्रियान्वयन कार्यपालिका का उत्तरदायित्व है। व्यवस्थापिका देश की जनता का प्रतिनिधित्व करती है अत: उसके द्वारा बनाये कानूनों की सही अर्थ व भावना के साथ अनुपालना व क्रियान्वयन होना आवश्यक है। कार्यपालिका द्वारा पार्टी हित में निर्णय लिये जाने की सम्भावना होती है जो हो सकता है कि सार्वजनिक हित के मापदण्डों पर खरा न उतरता हो, अत: व्यवस्थापिका की सजग दृष्टि आवश्यक है। संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए अनेक पद्धतियाँ काम में ली जाती हैं, यथा प्रश्न व इक प्रश्न पूछना, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव, कटौती व निन्दा प्रस्ताव आदि। अविश्वास प्रस्ताव का भय कार्यपालिका को सीमाओं में रहने के लिए सहायक है। संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति वैधानिक रूप से उत्तरदायी होती है।

अमरीका जैसी अध्यक्षात्मक व्यवस्था में शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को अपनाने के कारण कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का सीमित नियंत्रण ही होता हो फिर भी सीनेट इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। राष्ट्रपति द्वारा की गई सन्धियों व नियुक्तियों के लिए सीनेट, जोकि काँग्रेस यानि व्यवस्थापिका का उच्च सदन है, की स्वीकृति आवश्यक होती है। जाँच समितियों के माध्यम से भी कार्यपालिका पर नियंत्रण रखा जा सकता है। अमरीका त कि अध्यक्षीय व्यवस्था का उदाहरण है, में युद्ध व शान्ति की घोषणा, व्यवस्थापिका द्वारा की जाती है।

III. धन पर नियंत्रण

राष्ट्रीय वित्त पर नियंत्रण के माध्यम से व्यवस्थापिका एक ओर तो जनता के कल्याण पर धन व्यय को सुनिश्चित करती है तो दूसरी ओर कार्यपालिका पर भी अंकुश रखती है। व्यवस्थापिका द्वारा नये कर लगाने व पुराने करों को समाप्त करने या संशोधित करने के हुई का प्रयोग किया जाता है। "बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं" के सिद्धान्त के अनुरूप व्यवस्थापिका द्वारा यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि जनता का धन जनता के लिए ही प्रयुक्त हो तथा अधिकाधिक लोगों को उसका लाभ प्राप्त हो सके। यह कहा जाता है कि व्यवस्थापिका की वित्तीय शक्तियाँ वस्तुत: सैद्धान्तिक ही अधिक हैं, वास्तविक शक्ति का प्रयोग तो कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। फिर भी बजट पर बहस के माध्यम से व कटौती प्रस्ताव के द्वारा व्यवस्थापिका अपने इस अधिकार का प्रयोग करती है व देश के प्रबुद्ध व जागरूक नागरिकों का बजट की कमियों की और ध्यान आकर्षित करती है।

IV. संविधान संशोधन

किसी भी देश का संविधान अपने निर्माण काल की भावनाओं के अनुरूप निर्मित होता है जिसमें समय व परिस्थितियों के अनुकूल बदलाव तथा संशोधन की होती है। यह परिवर्तन व संशोधन जनआवश्यकताओं व भावनाओं के अनुकूल हो, यह है। सभी देशों में संविधान में संशोधन का दायित्व व्यवस्थापिका द्वारा निभाया जाता है विभिन्न देशों में संशोधन की पद्धतियाँ अलग-अलग हैं। उदाहरणार्थ भारत में संविधान संशोधन की कई पद्धतियाँ है, जबकि इग्लैण्ड में सामान्य बहुमत से संविधान में संशोधन कर जाता है। अमरीका व स्विटजरलैण्ड में व्यवस्थापिका को संविधान संशोधन का आशिक ही प्राप्त है। संविधान संशोधन के अधिकार के

माध्यम से व्यवस्थापिका बदलती परिस्थिति व और पर नजर रखते हुए देश को विकास मार्ग पर सतत चलते रहने में सहायता प्रदान करती।

V. विचार विमर्श का मंच

विधेयक की प्रस्तुति के साथ ही व्यवस्थापिका विचार विमर्श के मंच की भूमिका ग्रहण कर लेती है जहाँ विषय के विविध पहलुओं पर चर्चा होती है। जनसंचार के खुले प्रयोग के युग में यह विचार विमर्श सीधे जनता तक पहुँचता है। जनता व समाज के प्रबुद्ध की प्रतिक्रिया, संदेह, शिकायतें, अपेक्षाएँ तथा सम्भावनाएँ संचार माध्यमों के मार्ग से होती हुई तक पहुँचती है और विधायन प्रक्रिया को प्रभावित भी करती हैं। व्यवस्थापिका द्वारा कभी- किसी विधेयक से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों के एकत्रीकरण के लिए समितियाँ गठित की जाती। वस्तुत: व्यवस्थापिका के लिए प्रयुक्त पार्लियामेन्ट शब्द फ्रेन्च शब्द पारले से उत्पन्न हुआ है अर्थ विचार के लिए सभा है।

VI. निर्वाचन सम्बन्धी कार्य

विश्व के सभी देशों की व्यवस्थापिकाऐ अपने लिए अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, स्पीकर आदि का निर्वाचन करती हैं, लेकिन विभिन्न देशों की व्यवस्थापिकाएँ इसके अतिरिक्त अन्य निर्वाचन कार्यो के दायित्व का भी निर्वहन करती हैं। भारत में संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। जापान की व्यवस्थापिका 'डायट' द्वारा प्रधानमंत्री का चुनाव दिया जाता है। अमरीका में यदि राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत न मिले तो वहाँ का प्रतिनिधि सदन प्रथम तीन उम्मीदवारों में से एक का चयन करता है। स्विट्जरलैण्ड की व्यवस्थापिका भी निर्वाचन सम्बन्धी दायित्व का निर्वहन -करती है।

VII. समितियों व आयोगों की नियुक्ति

व्यवस्थापिका द्वारा सभी देशों में विभिन्न उद्देश्यों के लिए समितियों व आयोगों का गठन किया जाता है। ये आयोग व समितियाँ एक निश्चित अवधि के लिए गठित किये जाते हैं जो अपना लक्ष्य पूरा करके समाप्त हो जाते हैं। कई बार भ्रष्टाचार के किसी विवाद के लिए तथ्यों की तह तक पहुँचने के लिए जाँच आयोग गठित कर दिये जाते हैं। भारत में प्रशासनिक सुधार के लिए सुझाव आमंत्रित करने के लिए समय समय पर केन्द्र व राज्य द्वारा आयोग गठित किये जाते रहे हैं। अमरीका में जाँच समितियाँ अत्यन्त प्रभावशाली भूमिका निभाती हैं। वस्तुत: ये आयोग व समितियाँ कार्यपालिका पर अंकुश रखने में काफी सीमा तक सफल रहते हैं।

VIII. न्यायिक कार्य

विभिन्न देशों की व्यवस्थापिकाऐ किसी न किसी रूप में न्यायिक भूमिका का भी निर्वहन करतीं हैं। भारत में संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग का आरोप लगाया जा सकता है। एक सदन द्वारा आरोप लगाने पर दूसरे सदन द्वारा उसकी जाँच की जाती है। अमरीका में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा न्यायाधीशों पर लगाये गये महाभियोग के सम्बन्ध में निर्णय सीनेट द्वारा किया जाता है। इग्लैण्ड में लार्ड सभा अपील के सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका का निर्वहन करती है।

IX. राजनीतिक शिक्षण का कार्य

प्रजातंत्र की सफलता के लिए जनता का जागरूक होना तथा राजनैतिक सहभागिता आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब जनता में राजनीतिक गतिविधियों के प्रति समझ तथा उत्सुकता हो। व्यवस्थापिकाऐ यह दायित्व अच्छी तरह से निभाती हैं। वैसे तो समाचार पत्र भी व्यवस्थापिका व जनता के मध्य सम्पर्क सूत्र का दायित्व निभाते है पर टेलीविजन के युग में व्यतस्थापिकाएँ जनता के घर पर दस्तक दे रहीं हैं तथा वही होने वाले विचार विमर्श, विवाद, तर्क, वितर्क को जनता अपने घर में बैठ कर देख सुन सकती है, जो निश्चित रूप से उसमें राजनीतिक घटनाक्रम के प्रति कौतूहल जागृत करता है और धीरे धीरे राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों के प्रति उत्सुकता व समझ भागीदारी की ओर प्रेरित करते हैं।

5.2.6 व्यवस्थापिका : वर्तमान स्थिति

शासन के विविध अंगों में कार्य विभाजन का उद्देश्य शक्ति संतुलन बनाये रखने तथा एक कार्य के लिए एक संस्था को उत्तरदायी बनाना है। इस अर्थ में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका अपने-अपने कार्यक्षेत्रों में स्वतंत्र हैं, यद्यपि तीनों अंगों की परस्पर निर्भरता है। तीनों अंगों की यह पारस्परिकता यथार्थ रूप तभी ग्रहण कर सकती है जब इन अंगों का समान महत्व हो। वर्तमान में व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों में कमी आई है, ऐसा सभी राजनीतिशास्त्री अनुभव करते हैं। ऐसी स्थिति के कई कारण है:

- प्रजातांत्रिक व्यवस्था अपनाने के कारण तथा राज्य का स्वरूप लोकतांत्रिक होने के कारण राज्य के कार्यो में अत्याधिक वृद्धि हुई है जिसका सीधा असर कार्यपालिका व प्रशासन की शक्तियों पर पड़ा है। विविध कल्याणकारी कार्यकमों को 'त करने के लिए कार्यपालिका की शक्तियों में विस्तार होना स्वभाविक है। : उसी परिपेक्ष्य में व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी आई है।
- ज्ञान के विस्तार के साथ हर क्षेत्र में विशेषता प्राप्त करने की प्रवृति स्वाभाविक है। व्यवस्थापिका के सदस्यों के पास हर विषय की विशेषता नहीं होती इससे प्रदत्त व्यवस्थापन को बढ़ावा मिला, यानि कानून की मोटी रूपरेखा व्यवस्थापिका द्वारा पारित कर दी जाती है, तथा सूक्ष्म विस्तार का कार्य विशेषता करते हैं, इनसे भी व्यवस्थापिका की शक्तियों पर विपरीत प्रभाव पड़ा है।
- व्यवस्थापिका में वे ही कानून पारित हो पाते हैं जिन्हें कार्यपालिका का समर्थन प्राप्त होता हैं, क्योंकि कार्यपालिका का सदन में बहुमत होता है। ऐसे में प्रश्न पूछ कर, विरोध करके, विधेयक को कानून बनने की प्रक्रिया को धीमा तो सकती है, पर रोक नही सकती। यह स्थिति कार्यपालिका को बेहतर स्थान प्रदान है तो व्यवस्थापिका स्वाभाविक रूप से कुछ नीचे आ जाती है।
- कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका के नियंत्रण की अन्य सीमाएँ भी। कार्यपालिका के हाथ में व्यवस्थापिका को समय पूर्व भंग करने की शक्ति होती है जिसके माध्यम से वह व्यवस्थापिका के सदस्यों का विरोध करने की शक्तियों को करती है।

- कार्यपालिका के नियंत्रण में देश की सैन्य शक्ति होती है। किसी के आपातकाल में तुरन्त निर्णय लेने की आवश्यकता पड़ती है, जो कार्यपालिका को होते हैं तथा जिनका अनुमोदन बाद में व्यवस्थापिका से करा लिया जाता है। यह भी व्यस्थापिका की स्थिति को व अधिकारों को सीमित करने का कारण बनता है।
- जनसंचार माध्यमों के विस्तार ने कार्यपालिका प्रमुख को जनता सामने खड़ा कर दिया है। अब शासन प्रमुख अपनी बात व पक्ष जनता के सामने रख सकते हैं, ऐसे में व्यवस्थापिका की उपेक्षा सम्भव है।
- स्वकेन्द्रित नेताओं ने तथा निर्वाचन क्षेत्रों के विस्तार ने नेता व के बीच दूरी को बढाया है। नेता जनता का विश्वास प्राप्त नही कर पाते तथा व्यवस्थापिका में सीमित लक्ष्य व स्वहित के लिए काम करने लगते हैं इससे भी व्यवस्थापिका की मर्यादा में कमी आई है।
- जाति, वर्ग, धर्म आदि विभाजनकारी प्रवृत्तियों ने भी जनप्रतिनिधियों व्यापक हितों के लिए सोच न पाने की स्थितियों में ला दिया है। वे व्यवस्थापिका में सार्थक भूमिका नही निभा पाते। व्यवस्थापिका की भूमिका का महत्व कम हो जाता है

उपरोक्त सभी तथ्यों व स्थितियों के बावजूद व्यवस्थापिका शासन अभी भी महत्वपूर्ण अंग है। भूमण्डलीकरण के दौर में दलीय भावना से ऊपर उठ कर राष्ट्रीय हित में निर्णय ले कर में व बाहरी शक्तियों के दबाव को नकार कर यह अपनी भूमिका व स्थिति को महत्वपूर्ण बनाये रख सकती है।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. शासन के अर्थ क्या हैं?

उत्तर: ……..

……

2. व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य क्या है?

उत्तर: ……..

……

3. व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किस प्रकार नियंत्रण रखती हैं? दो तरीके बताइए।

उत्तर: ……..

……

4. व्यवस्थापिका के महत्व कम होने के दो कारण बताइए।

उत्तर: ……..

……

5.3 कार्यपालिका का अर्थ

शासन रूपी व्यक्तित्व का कार्यपालिका वह अंग है जिसके माध्यम से समरस कानूनों, योजनाओं व कार्यक्रम को वास्तविक रूप दिया जाता है। गिलक्राइस्ट का मानना है कि कार्यपालिका वह धुरी है या केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर प्रशासनिक तंत्र घूमता है। कार्यपालिका के अंतर्गत कुछ विद्वान, राजनीतिक प्रधान व उनके सहयोगी, लोक सेवक व पुलिस आदि सभी को शामिल करते हैं जबकि अन्य वर्ग राजनीतिक प्रधान व उनके सहयोगी मंत्रिमण्डल को ही कार्यपालिका में शामिल करते हैं। सामान्यतया राजनीतिक प्रधान व उसके मंत्रिमण्डल को ही कार्यपालिका माना जाता है।

5.3.1 कार्यपालिका के प्रकार

विश्व के समस्त देशों का अध्ययन करने पर विभिन्न प्रकार की कार्यपालिकाओ का प्रचलन देखा जा सकता है। उनमें कई आधार पर अन्तर है, जिनका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

संख्या के आधार पर अन्तर

कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्रीकरण एक व्यक्ति के हाथ में हो तो वह एकल कार्यपालिका कहलाती है। इस प्रकार की व्यवस्था में यद्यपि कार्यपालिका के सहायतार्थ मंत्री व अन्य पदाधिकारी होते हैं, पर अन्ततः संविधान द्वारा शक्तियाँ एक व्यक्ति को ही दी जाती हैं। अमरीका का राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका का एक उदाहरण है।

जब कार्यपालिका शक्तियाँ कई शक्तियों में केन्द्रित हो तो बहुलय कार्यपालिका कहलाती है। ये सभी व्यक्ति समान रूप से शक्तिसम्पन्न होते हैं तथा सभी की स्थिति समान होती है।" स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद बहुल कार्यपालिका का उदाहरण है।

शक्ति के वास्तविक प्रयोग के आधार पर अन्तर

विश्व के कई देशों में ऐसे शासन प्रमुख हैं जिनके नाम पर शासन किया जाता हैं पर वे स्वयं शक्ति का प्रयोग नही करते। ऐसी कार्यपालिका को नाममात्र की कार्यपालिका कहते हैं। ब्रिटिश राजा या रानी तथा भारत का राष्ट्रपति इस प्रकार की कार्यपालिका के प्रत्यक्ष उदाहरण है।

उपरोक्त व्यवस्था में वास्तविक शक्ति जिन लोगों के हाथ में होती है, वे राजा या राष्ट्रप्रमुख के नाम पर शक्ति का प्रयोग करते हैं वे वास्तविक कार्यपालिका कहलाते हैं। ब्रिटेन तथा भारत में प्रधानमंत्री व उनका मंत्रिमण्डल ऐसी ही कार्यपालिका के उदहारण हैं।

व्यवस्थापिका के साथ संबंध के आधार पर अन्तर

व्यवस्थापिका के साथ कार्यपालिका के संबंध के आधार पर दो की कार्यपालिकाएँ होती है: संसदात्मक कार्यपालिका व अध्यक्षात्मक कार्यपालिका संसदात्मक कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के साथ सतत् संबंध होता है तथा कार्यपालिका तभी तक पर रह सकती है जब तक वह व्यवस्थापिका का विश्वास न खो दे। कार्यपालिका, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त दल के सदस्य होते हैं। इस

व्यवस्था में मंत्रिमण्डल के पास वास्तविक शक्ति होती है। भारत इस प्रकार की कार्यपालिका का उदाहरण है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका, व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होती है, दोनो अपनी-अपनी शक्तियाँ होती हैं, तथा दोनो एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप नही करते। या राष्ट्राध्यक्ष तथा उनके मंत्री व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते तथा उसके प्रति भी नहीं होते। अमरीकी राष्ट्रपति अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का उदाहरण है।

वंशानुगत व निर्वाचित कार्यपालिका

जिन देशों में राजतंत्र किसी न किसी रूप में अभी भी शेष है वंशानुगत कार्यपालिका देखी जा सकती है। ऐसे देशों में शासक की मृत्यु के पश्चात् उसका पद ग्रहण करता है जो उसका पुत्र या अन्य उत्तराधिकारी हो सकता है। इस प्रकार पैतृक कार्यपालिका के उदाहरण ब्रिटेन तथा जापान हैं।

जब कार्यपालिका प्रमुख को पद निर्वाचन द्वारा प्राप्त होता है तो निर्वाचित कार्यपालिका कहलाती है। अमरीका में प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति का चुनाव होता है भारत में राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। स्थायी व अस्थायी कार्यपालिका

स्थायी व अस्थायी कार्यपालिका

जनता द्वारा चुने गये राजनेता जब मंत्री पद ग्रहण करते हैं तो कार्यपालिका के प्रतीक होते हैं क्योंकि उनका कार्यकाल सीमित तथा कभी-कभी भी होता है।

जब प्रशासनिक सेवा के अधिकारी जो विशेष प्रकार की नियुक्ति से चयनित होते हैं तथा जिनका लम्बा कार्यकाल होता है वे स्थायी कार्यपालिका कहलाते हैं ये नौकरशाही के नाम से भी जाने जाते है। मंत्रियों द्वारा बनाई गई नीतियों तथा कार्यक्रमों का इसी स्थायी कार्यपालिका द्वारा किया जाता है।

5.3.2 कार्यपालिका का कार्यकाला

कार्यपालिका के कार्यकाल के सम्बन्ध में विश्व के देशों में पाई जाती है। यथार्थ में कार्यकाल न तो इतना अधिक लम्बा होना चाहिए कि शासन में शक्ति केन्द्रीकरण हो जाय न इतना छोटा होना चाहिए कि शासन को ठीक प्रकार से कार्य करने का ही न मिल पाये। सामान्यतया 4-5 वर्ष के कार्यकाल को कार्यपालिका के लिए आदर्श जाता है। भारत में कार्यकालिका का कार्यकाल 5 वर्ष तथा फ्रांस में यह समय 7 वर्ष का है।

5.3.3 कार्यपालिका के कार्य

कार्यपालिका का प्रमुख कार्य जन-कल्याण व विकास के लिए बनाये गये कानून व उनके अन्तर्गत बनाई गई योजनाओं व नीतियों को कार्यरूप में परिवर्तित करना है। आधुनिक राज्य का

स्वरूप जनकल्याणकारी होने के कारण कार्यपालिका के कार्य में बढ़ोतरी हुई है। कार्यपालिका के कार्यो को निम्नलिखित रेखाचित्र के माध्यम से समझा जा सकता है:

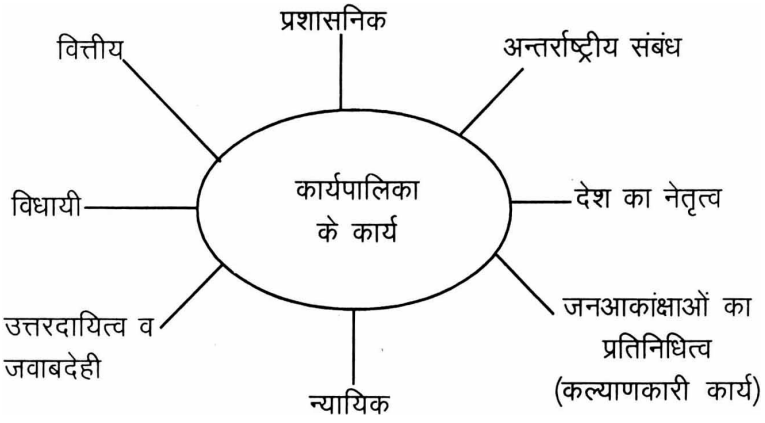

उपरोक्त कार्यो को एक-एक कर विस्तार से समझना आवश्यक है।

i. प्रशासनिक कार्य

- कार्यपालिका का सबसे महत्वपूर्ण कार्य व्यवस्थापिका द्वारा बनाये कानूनों को लाग करना है, तथा उन कानूनों की नागरिकों द्वारा अनुपालना को सुनिश्चित करना है।
- देश में शान्ति व्यवस्था बनाये रखना तथा नागरिकों के लिए स्वतंत्र व सुरक्षित वातावरण प्रदान करना कार्यपालिका का उत्तरदायित्व है।
- कार्यपालिका द्वारा प्रशासनिक विभागों को गठित करके, सेवा संबंधी शर्तो का निर्माण व उनका क्रियान्वयन करना है।
- सभी देशों में महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ कार्यपालिका द्वारा की जाती हैं, जैसे विदेशों में राजदूत, विभिन्न आयोगों के अध्यक्षों आदि की नियुक्तियाँ। भारत में राज्य के राज्यपालों सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों 'के न्यायाधीशों सेना प्रमुखों आदि की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है।

ii. अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का उत्तरदायित्व

- सम्पूर्ण विश्व में अपने देश का प्रतिनिधित्व करना तथा अन्य देशों के साथ अपने व्यवहार के लिए नियम व सिद्धान्त निश्चित करना कार्यपालिका का काम है।
- कार्यपालिका द्वारा अपने पड़ोसी देशों से संबंधों के बारे में नीति तय की जाती है।
- विश्व में घट रही घटनाओं के संबंध में देश की सोच व भावनाओं को कार्यपालिका द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।
- बाहरी आक्रमण से देश व देशवासियों की सुरक्षा का कर्त्तव्य 'कार्यपालिका द्वारा निभाया जाता है।
- दूसरे देशों के साथ युद्ध तथा संधि के संबंध में निर्णय कार्यपालिका द्वारा लिया जाता है।

iii. विधायी कार्य

कानून बनाना व्यवस्थापिका का मुख्य दायित्व है, लेकिन इस क्षेत्र में भी कार्यपालिका द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है जैसे:

- व्यवस्थापिका के अधिवेशन कार्यपालिका की सलाह पर बुलाये हैं।
- प्रमुख विधेयक कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किये हैं।

- व्यवस्थापिका में अन्य सदस्यों द्वारा विधेयक भी तभी पारित हो पाते हैं जब उसे कार्यपालिका का समर्थन प्राप्त हो, क्योंकि सदन में कार्यपालिका का दल बहुमत में होता है।
- अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था में भी राष्ट्रपति द्वारा व्यवस्थापिका को ३. भेजा जा सकता है, जिसका सामान्यतया आदर किया जाता है।
- कार्यपालिका द्वारा ऐसे समय अध्यादेश जारी किया जा सकता है व्यवस्थापिका सत्र में न हो। इन अध्यादेशों को बाद में व्यवस्थापिका की स्वीकृति अवश्य होती है। ये अध्यादेश कानून के समान प्रभावी होते हैं।
- ज्ञान तथा उत्तरदायित्व के विस्तार के साथ प्रदत्त व्यवस्थापन का प्रचलन बढा है। व्यवस्थापिका द्वारा मुख्य रूप से कानून बना दिया जाता है लेकिन उनकी विस्तृत व सूक्ष्म व्याख्या का उत्तरदायित्व कार्यपालिका को सौंप दिया जाता है।

iv. वित्तीय कार्य

धन के संबंध में निर्णय व नियंत्रण व्यवस्थापिका का ही उत्तरदायितात्व है, लेकिन इस क्षेत्र में भी कार्यपालिका द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जाती है:

- बजट कार्यपालिका द्वारा बनाया जाता है, जिसे सामान्यतया थोड़े परिवर्तन कटौती के साथ व्यवस्थापिका द्वारा पारित कर दिया जाता है।
- संसदीय व्यवस्थापिका में वित्त विधेयक राष्ट्रपति, जो कि कार्यपालिका की सलाह के अनुसार कार्य करता है, के पूर्व हस्ताक्षर के बाद सदन में प्रस्तुत किया है।
- आकस्मिक निधि के संबंध में निर्णय कार्यपालिका द्वारा लिया जाता।
- देश की आर्थिक व्यवस्था पर कार्यपालिका की सजग दृष्टि रहती है। योजनाओं व कार्यक्रम का निर्माण व संचालन कार्यपालिका का उत्तरदायित्व है।

v. न्यायिक भूमिका

न्यायिक कार्य न्यायपालिका का उत्तरदायित्व है पर कार्यपालिका द्वारा भी विभिन्न प्रकार के न्यायिक कार्य किये जाते हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति इसी प्रकार का काम है। सभी देशों में न्यायपालिका द्वारा दिये गये दण्ड को कम करने का अधिकार कार्यपालिका है। विशेष मामलों में दण्ड बिलकुल समाप्त किया जा सकता है। कार्यपालिका द्वारा अर्द्धन्यायिका कार्य भी किये जाते हैं। प्रशासनिक न्यायालयों द्वारा किये जाने वाले कार्य इसी श्रेणी में आते हैं

vi. जनआकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व

संविधानिक भूमिकाओं के साथ-साथ कार्यपालिका देश की जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है, उन आकांक्षाओं व उम्मीदों पर खरा उतरने की ज़िम्मेदारी निभाना आवश्यक होता है नही तो चुनावों के समय जनता के प्रश्नों का उत्तर देना कठिन होता -। जनता द्वारा सत्ता से हटा देने का भय कार्यपालिका को जनता की इच्छाओं का आदर करने के लिए प्रेरित भी करता है, बाध्य भी करता है।

vii. देश का नेतृत्व

कार्यपालिका द्वारा देश का नेतृत्व; आन्तरिक व बाहरी, दोनो स्तर पर किया जाता है। संघीय व्यवस्था में विभिन्न राज्यों को केन्द्रीय कार्यपालिका से कई अवसरों पर मार्गदर्शन व नेतृत्व की अपेक्षा होती है। ऐसे समाज जहाँ कई प्रकार के धर्म, जातियाँ, भाषाएँ आदि होती हैं, वहाँ सभी में समन्वय व सन्तुलन बैठाते हुए देश को विकास के मार्ग पर आगे ले जाने के लिए नेतृत्व प्रदान कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है।

viii. उत्तरदायित्व व जवाबदेही

कार्यपालिका चुंकी सम्पूर्ण सरकार का प्रतिनिधित्व जनता के समक्ष व अन्तर्राष्ट्रीय जगत में करती है इसलिए किसी भी स्तर पर किये जाने कार्य के लिए उसकी जवाबदेही व उत्तरदायित्व होता है। संचार साधनों की गहरी व व्यापक पैठ के कारण सरकारी मशीनरी व उसकी गतिविधियों पर मीडिया की तीखी व पैनी नजर रहती है। अमर्यादित या अवांछनीय कदम तुरन्त अखबारों व टी. वी. चैनलों की सुर्खियाँ व ब्रेकिंग न्यूज़ बन जाती हैं। ऐसे में प्रश्न उठाये जाते है, व स्पष्टीकरण माँगे जाते हैं। कार्यपालिका को सरकार के सभी अंगों की ओर से सचेत रहते हुए विभिन्न कार्यवाहियों के लिए जवाब देना पड़ता है, तथा उसका उत्तरदायित्व उठाना पडता है।

5.3.4 कार्यपालिका : वर्तमान स्थिति

सरकार के सभी अंगों की -शक्तियों में संतुलन बना रहे इसके लिए उनके बीच शक्तियों को बांटा गया तथा उनके कार्यक्षेत्र निश्चित कर दिये गये, पर कई कारणों से धीरे-धीरे कार्यपालिका की शक्तियाँ लगातार बढती रही हैं व सरकार या शासन के अन्य दूसरे अंग उसकी तुलना में कमजोर हुए हैं। ऐसी स्थिति के कारणों का विश्लेषण आवश्यक है:

लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श को अपनाने के कारण सरकार/शासन के कार्य बढ गये हैं। बच्चे के जन्म, टीकाकरण, पोषाहार, शिक्षा, विवाह पंजीकरण, पेन्दान तथा मृत्यु तक मनुष्य के जीवन में किसी न किसी रूप में शासन के साथ सहयोग व भागीदारी है। अतीत में राज्य सीमित कार्य करते थे, उनकी तुलना में काम बढे हैं जिन्हें कार्यपालिका ही कार्यरूप में परिणत करती है। कार्यपालिका के काम में बढोतरी अन्ततः उसकी शक्ति में वृद्धि का कारण बन जाती है।

प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण एक ओर व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी आई है तो दूसरी ओर कार्यपालिका की शक्तियाँ बढी हैं। व्यवस्थापिका के पास समय की कमी व विशेषज्ञता के अभाव के कारण, कानूनों की विस्तृत व्याख्या व विवेचना का समय नही होता। ऐसे में कानूनों की मोटी रूपरेखा पारित कर दी जाती है। सूक्ष्म विवेचन व कानून की बारीक व्याख्या करते समय कार्यपालिका के पास यथार्थ समय व अवसर होता है, जब वह कानून को अपने अनुकूल व्याख्यायित कर सके।

सिद्धान्त रूप में वित्त पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण होता हैं पर बजट तथा वित्त विधेयक के माध्यम से कार्यपालिका ही वित्त को नियंत्रित करती है।

संकटकाल में तुरन्त निर्णय लेने होते हैं जो कार्यपालिका द्वारा लिये जाते हैं। संकट की घड़ी में लिए निर्णय पर बाद में व्यवस्थापिका की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है, पर निर्णय की क्रियान्विति तो हो ही चुकी होती है।

व्यवस्थापिका में कानून भी वे ही पारित हो पाते हैं जो द्वारा समर्थित हों क्योंकि बहुमतदल द्वारा कार्यपालिका का गठन किया जाता है तथा व्यवस्थापिका में निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं।

- अन्तर्राष्ट्रीय जगत में देश का प्रतिनिधित्व कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। विदेशों में सम्मानित राष्ट्रप्रमुख नागरिकों के सम्मान का पात्र बनता है, धीरे-धीरे उसकी शक्तियाँ बढती जाती हैं।
- संचार माध्यम व टेलीविजन ने कार्यपालिका व जनता को आमने सामने ला खडा कर दिया है यदि कार्यपालिका जनता की अपेक्षाओं पर खरी उतरती है उसे अपने प्रति भरोसा दिला सकती है तो उसकी शक्तियाँ निश्चित रूप से बढ हैं।
- धीरे-धीरे यह भावना मजबूत हो रही है कि कार्यपालिका होनी चाहिए तभी निर्णय जल्दी लिये जा सकेंगे व उन्हें तुरन्त लाग किया जा सकेगा। इससे कार्यपालिका की शक्तियाँ बढ़ रही हैं।

कुल मिलाकर वर्तमान में कार्यपालिका की शक्तियों में बढ़ोतरी है तथा उसी अनुपात में व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी आयी है।

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. कार्यपालिका का क्या अर्थ हैं?

उत्तर: ……..…

.....…….

2. संसदीय व कार्यपालिका में क्या अन्तर है?

उत्तर: ……..

.....…….

3. कानून बनाने में कार्यपालिका किस प्रकार भूमिका निभाती है ?

उत्तर: ……..

.....……

5.4 न्यायपालिका : अर्थ

शासन का तीसरा अंग न्यायपालिका है जो शासन रूपी व्यक्तित्व sए सजग आंखें व चैतन्य कान है। व्यवस्थापिका द्वारा कानून संविधान की भावना के अनुरूप बनाये जायें और उसी भावना के अन्तर्गत कार्यपालिका द्वारा लागू किया जायें, यही सुनिश्चित करना न्यायपालिका का कार्य है। इस अर्थ में न्यायपालिका द्वारा कानून की. व्याख्या की जाती है,

पालन न करने वाले को दण्ड दिया जाता है, समाज के विवादों का हल प्रदान किया जाता है तथा नागरिकों व राज्य के मध्य भी यदि कोई विवाद हो तो उसे दूर करने का प्रयास किया जाता है। ऐसा करने का अधिकार कानून द्वारा न्यायाधीशों को प्रदान किया जाता है। लार्ड ब्राइस के अनुसार "न्यायपालिका राज्य के लिए आवश्यकता ही नही है, अपितु उसकी क्षमता से बढ़ कर सरकार की क्षमता की कोई कसौटी नही है।

5.4.1 न्यायपालिका का संगठन

सामान्यतया सभी राजनीतिक व्यवस्था में न्यायपालिका के शीर्ष पार एक सर्वोच्च न्यायालय होता है, उसके नीचे कुछ छोटे और अन्ततः अनेक छोटे-छोटे न्यायालय होते हैं। भारत में शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय, प्रत्येक राज्य में एक न्यायालय, कहीं दो राज्यों में एक उच्च न्यायालय तथा हर जिले में एक जिला एवं सत्र न्यायालय होते हैं। हर जिले में मुन्सिफ न्यायालय होते हैं। इसके अतिरिक्त गाँवों की अपनी न्याय पंचायतें भी होती हैं, जो ग्रामीण व्यवस्था में परम्परागत रूप से चली आ रही हैं।

5.4.2 न्यायाधीशों की नियुक्ति

विश्व के विभिन्न देशों में न्यायाधीशों को निम्नलिखित पद्धति से नियुक्ति किया जाता है:

i. व्यवस्थापिका द्वारा

अमरीका के कुछ राज्यों तथा स्विट्जरलैण्ड के संघीय न्यायाधिकरण में न्यायाधीशों का चयन व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन के आधार पर किया जाता है। इस व्यवस्था में दलीय प्रभाव के कारण न्यायाधीशों की निष्पक्षता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है।

ii. कार्यपालिका द्वारा

सामान्यतया देशों में कार्यपालिका प्रमुख द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है। इस पद्धति में निर्धारित योग्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर न्यायाकर्मियों की नियुक्ति की जाती है जो धीरे-धीरे योग्यता व सेवा अवधि के आधार पर पदोन्नति पाते हैं। इस व्यवस्था में चूंकि योग्यता ही नियुक्ति का आधार होती है अतः निष्पक्षता व तटस्थता की सम्भावना अधिक रहती है।

iii. जनता द्वारा

अमरीका के कुछ राज्यों तथा स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैण्टनों में न्यायाधीशों की नियुक्ति जनता निर्वाचन द्वारा करती है।. ऐसी व्यवस्था में राजनीतिक हस्तक्षेप की सम्भावना सबसे ज्यादा रहती है तथा निष्पक्षता संदिग्ध हो जाती है।

वस्तुतः न्यायाधीशों की नियुक्ति में योग्यता व अनुभव को महत्व देना आवश्यक है।

न्यायाधीशों को पद के दुरूपयोग के आधार पर महाभियोग लगा कर पद से हटाया जा सकता है जिसमें व्यवस्थापिका की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। भारत में न्यायाधीशों को समय पूर्व पद विमुक्त करने के लिए इसी पद्धति के प्रयोग की व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है।

5.4.3 न्यायाधीशों का कार्यकाल

न्यायाधीशों का कार्यकाल छोटा होगा तो उनकी विशेषज्ञता का लाभ थोड़े समय तक ही मिल पायेगा लेकिन यदि कार्यकाल लम्बा हो तो उनमें अधिकारों के दुरूपयोग की सम्भावना बढ़ जाती है। सामान्यतया एक निश्चित कार्यकाल अच्छा माना जाता है जो न अधिक छोटा हो तथा न बहुत अधिक लम्बा हो।

5.4.4 न्यायपालिका के कार्य

विभिन्न देशों में न्यायपालिका सामान्यतया निम्नलिखित कार्य करती है:

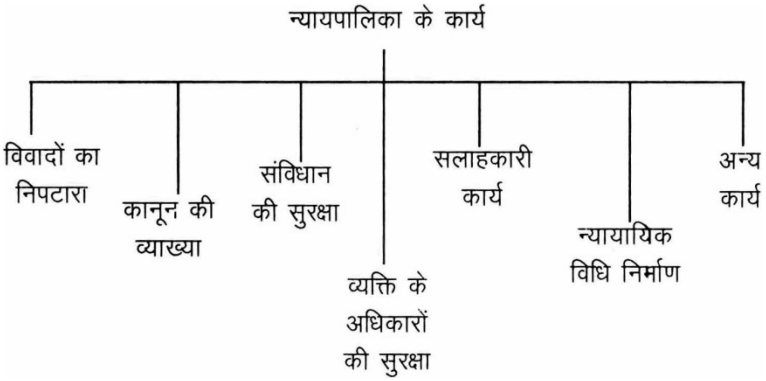

न्यायापालिका द्वारा किये जाने वाले उपरोक्त कार्यो का विस्तृत इस प्रकार है:

i. विवादों का निपटारा

न्यायपालिका का सबसे महत्वपूर्ण कार्य व्यक्तियों या संस्थाओं के हुए हागड़ों का निपटारा करना है। ये झगड़े दीवानी तथा फौजदारी हो सकते हैं। ऐसा समय न्यायालय कानून की अच्छाई या बुराई पर विचार नही करती बल्कि राज्य द्वारा बनाये के आधार पर निर्णय देती है तथा दण्ड निश्चित करती है। न्यायालय द्वारा दिये निर्णयों की आवश्यक है अन्यथा न्यायालय की मानहानि का मामला बन जाता. है।

ii. कानून की व्याख्या

मुकदमों की सुनवाई करते समय न्यायालयों द्वारा कानून की व्याख्या भी जाती है, इसका उद्देश्य वर्तमान कानून में निहित अर्थ व भावना को स्पष्ट करना है।।

iii. संविधान की सुरक्षा

न्यायपालिका संविधान के संरक्षक की भूमिका भी निभाती है। यदि ऐसे कानून बनाये जो संविधान के अनुकूल न हों या कार्यपालिका ऐसे आदेश दे जो संविधान की भावना के प्रतिकूल हों तो न्यायपालिका को विचार करने व निर्णय देने का अधिकार है। संघीय शासन व्यवस्था में विभिन्न राज्यों या केन्द्र तथा राज्यों के मध्य यदि विवादास्पद स्थिति पैदा। है तो न्यायालय द्वारा संवैधानिक स्थिति स्पष्ट की जाती है।

iv. नागरिकों के अधिकारों की रक्षा

न्यायपालिका का सबसे महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व संविधान द्वारा दिये गये नागरिक अधिकारों की रक्षा करना है। व्यक्ति की स्वतंत्रता व अधिकारों का हनन यदि किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किया जाये या शासन द्वारा किया जाये तो न्यायपालिका द्वारा उसे सुरक्षा प्रदान

की जाती है। भारत में नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालय द्वारा अनेक प्रकार आदेश जारी किये जाते है, जैसे : बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश-लेख आदि।

v. सलाहकारी कार्य

न्यायपालिका द्वारा व्यवस्थापिका या कार्यपालिका को महत्वपूर्ण कानूनी विषय पर सलाह देने की भूमिका भी निभाई जाती है, भारत में राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय से सलाह लेने का प्रावधान संविधान द्वारा किया गया है। अन्य देशों में भी इस प्रकार की व्यवस्था है। इंग्लैण्ड में प्रिवी कौंसिल की ज्यूडीशियल कमिटी सरकार को कानूनी विषयों पर सलाह देने का काम करती है।

vi. घोषणात्मक निर्णय

अनेक देशों में व्यक्तियों को बिना किसी विशेष मुकदमे के किसी कानून के औचित्य-अनौचित्य तथा अभिप्राय: के संबंध में न्यायालय से निर्णय प्राप्त करने का अधिकार है। ऐसा तब होता है जब कोई कानून पूरी तरह स्पष्ट न हो या पहले के कानून से विरोधी प्रतीत होता हो तब न्यायालय द्वारा ऐसे कानून के संबंध में घोषणात्मक निर्णय देने का अधिकार होता है।

vii. न्यायिक विधि निर्माण

न्यायालय द्वारा कानून को ध्यान में रखते हुए विवादों को सुलझाया जाता है, पर कभी-कभी वर्तमान कानून अपर्याप्त होता है तब न्यायालय द्वारा औचित्य के आधार पर निर्णय दिया जाता है, जो आगे आने वाले उसी प्रकार के मामलों में "उदाहरण' बन जाता है। इस अर्थ में न्यायपालिका व्यवस्थापिका द्वारा बनाये कानून के पूरक की भूमिका निभाती है तथा कानून के निर्माण व विकास में सहायक होती है।

अन्य कार्य

न्यायलय द्वारा किये जाने वाले अन्य कार्य इस प्रकार हैं:

- अधिवक्ताओं, ओथ कमिश्नर आदि को अनुज्ञा पत्र जारी करना;
- न्यायालय के पदाधिकारियों की नियुक्ति तथा निचली अदालतों का निरीक्षण;
- विदेशियों को नागरिकता प्रदान करना;
- वसीयतनामों को प्रमाणित करके आज्ञापत्र जारी करना;
- संरक्षकों व न्यासियों की नियुक्ति।

5.4.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका को स्वतंत्र रूप से कार्य करने, विवेकपूर्ण निर्णय देने व शासन के दबाव से मुक्त रहने के लिए पर्याप्त वातावरण चाहिए तभी नागरिकों को न्याय मिल पायेगा, अन्यथा लोकतंत्र व जन सामान्य को विकास का लाभ पहुँचाने की भावना का सम्मान नही हो सकेगा। इसके लिए आवश्यक है :

- कानून का ज्ञात व अनुभवी व्यक्ति ही न्यायाधीश के रूप में नियुक्त हो।
- न्यायाधीशों का निश्चित व लम्बा कार्यकाल हो।

- न्यायाधीशों को पर्याप्त वेतन व अन्य सुविधाएँ प्राप्त हो ताकि प्रलोभनों से बचा जा सके।
- न्यायाधीशों को पदविमुक्त करने के लिए महाभियोग जैसी प्रक्रिया को ही अपनाया जाये ताकि राजनीतिक दबाव का कम से कम प्रभाव हो।
- न्यायपालिका को अपने कार्य करने के लिए कार्य प्रक्रिया स्वयं निर्धारित की जानी चाहिए।

सिद्धान्त रूप में कई प्रकार की व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं लेकिन उनको व्यावहारिक रूप देने के लिए आवश्यक है कि शासन की तीनों अंगों द्वारा एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करने की परम्परा व संस्कृति का लगातार विकास किया जाए।

5.4.6 न्यायिक पुनरावलोकन

न्यायिक पुनरावलोकन - जैसा कि शब्द से स्पष्ट है न्यायपालिका की कानून को पुन: देखने की शक्ति से सम्बन्धित है। न्यायपालिका की वह शक्ति, जिसके द्वारा वह व्यास्थापिका द्वारा बनाये गये तथा कार्यपालिका द्वारा लागू किये गये ऐसे कानून को असंवैधानिक घोषित कर सके जो संविधान की धाराओं व भावनाओं के विरूद्ध हो, को न्यायिक पुनरावलोकन कहा जाता है। इसके लिए लोकतांत्रिक व्यवस्था, लिखित व कठोर संविधान तथा वादयोग्य मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की आवश्यकता है, साथ ही न्यायपालिका की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित होनी चाहिए। न्यायिक पुनरावलोकन सीमित वहाँ होता है जहाँ कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिद्धान्त को अपनाया जाता है तथा कानून की शाब्दिक व्याख्या ही की जा सकती है। लेकिन जब कानून की उचित प्रक्रिया के सिद्धान्त को अपनाया जाता है तब कानून की भाषा के साथ भावना व उद्देश्य की भी व्याख्या की जा सकती है।

न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार से संविधान का संरक्षण, नागरिकों के भूल अधिकारों की रक्षा तथा कुछ सीमा तक व्यवस्थापिका व कार्यपालिका पर नियंत्रण भी रहता है। लेकिन इसकी भी सीमा होनी चाहिए अन्यथा शासन के तीनों अंगों में संघर्ष व गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

5.4.7 न्यायिक सक्रियता

न्यायिक सक्रियता भारतीय न्यायव्यवस्था का एक नवीन पहलू है जिसके अन्तर्गत न्यायधीशों ने ऐतिहासिक व साहसिक निर्णय दिये हैं जिसमें जनसामान्य का न्याय व्यवस्था में विश्वास बढ़ा है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आवश्यक नहीं कि पीड़ित व्यक्ति स्वयं ही अभियोग प्रस्तुत करे, अपितु जनहित में अन्य व्यक्ति, समुदाय या स्वैच्छिक संस्था आदि द्वारा न्यायालय में अभियोग प्रस्तुत दिया जा सकता है। एक पोस्टकार्ड द्वारा की गई प्रार्थना को भी याचिका के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जस्टिस पी.एन भगवती का मानना है कि जब कार्यपालिका अपने संवैधानिक और कानूनी उत्तरदायित्व को पूरा न करे व विधायिका भी निक्रिय भूमिका अपनाये तो न्यायपालिका को सक्रिय होना आवश्यक है। इस नई प्रवृत्ति के अन्तर्गत कई महत्त्वपूर्ण निर्णय दिये गये। ताजमहल को प्रदूषण से सुरक्षा देने का आदेश न्यायिक सक्रियता का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

उपरोक्त प्रवृत्ति में अति सक्रियता का भय रहता है जो अन्ततः कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप की ओर बढ़ सकता है, लेकिन अपनी सीमाओं के रहते हुए यह कदम भारतीय न्याय व्यवस्था के प्रति जनता का विश्वास बढ़ाता है।

न्यायपालिका, कार्यपालिका व व्यवस्थापिका वस्तुतः स्वतंत्र रूप से कार्य करें यह तो अच्छा है व आवश्यक भी है, पर इनकी एक दूसरे पर निर्भरता की जरूरत को भी कम करके नहीं आँका जा सकता। वस्तुतः ये शासन रूपी शरीर के तीन महत्वपूर्ण अंग हैं, जिनका वास्तव में उद्देश्य जनहित व जनविकास के लिए मिलजुल कर कार्य करना है।

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. न्यायपालिका का प्रमुख कार्य क्या हैं?

उत्तर: ……..

.....……..

2. न्यायपालिका की स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है

उत्तर: ……..

.....…….

5.5 सारांश

राज्य की अभिव्यक्ति सरकार के द्वारा होती है। सरकार का कार्य शासन संचालन होता है। सरकार के तीन अंग - व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं नगरपालिका होते हैं। व्यवस्थापिका का कार्य शासन संचालन के लिये कानून निर्माण करना होता है। व्यवस्थापिका एक सदनात्मक एवं द्विसदनात्मक दोनों तरह की हो सकती है। कार्यपालिका के बढ़ते प्रभाव के कारण व्यवस्थापिका का महत्व घटता जा रहा है। व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों के क्रियान्वयन का दायित्व कार्यपालिका का होता है। आज कार्यपालिका की शक्तियां काफी बढ़ गयी हैं, एवं यह एक सरकार के शक्तिशाली अंग के रूप में उभरकर सामने आया है। न्यायपालिका सरकार का तीसरा अंग होता है, जिसका कार्य कानूनों की व्याख्या करना होता है। न्यायपालिका को यह अधिकार होता है कि वह संविधान की परिधि से बाहर बनाये गये कानूनों को अवैध घोषित कर सकती है। लोकतंत्र की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता बनी रहे। समकालीन समय में भारत में न्यायिक सक्रियता काफी बढ़ गयी है, तथा इससे व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप को संभावना बढ़ती दिखायी प्रतीत होती है। किसी देश में लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था की सफलता के लिये सरकार के तीनों अंगों को स्वतंत्रता के साथ- साथ इन तीनों अंगों में परस्पर सामंजस्य का होना भी अतिआवश्यक है।

5.6 अभ्यास प्रश्न

1. व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्यो का वर्णन कीजिए तथा दूसरे सदन के पक्ष विपक्ष में तर्क दीजिए।
2. कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्तियों की विवेचना उसके विविध कार्यो के संदर्भ में कीजिए।
3. लोकतंत्र में न्यायपालिका के महत्व को स्पष्ट कीजिए। न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए क्या कदम उठाये जाने चाहिए?
4. शासन के तीनों अंगों के प्रमुख कार्यो का उल्लेख करते हुए उनकी पारस्परिक निर्भरता की आवश्यकता का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

5.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. व्हेयर के.सी. – लेजिस्लेटर्स, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1963
2. बार्बर जे.डी. – दि लॉमेकर्स, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, 1965
3. किर्चहाईमर ओ. – पोलिटिकल जस्टिस, प्रिन्सटन, 1961
4. मार्विक डी. – पोलिटिकल डिसीशन- मेकर्स, प्रेस, न्यूयॉर्क, 1961
5. ब्लॉन्डेल जे. – एन इंट्रोडक्शन टू कम्पेरेटिव गवर्नमेन्ट, वीडेर्न फील्ड एण्ड निक्ल्सन, लंदन, 1969

इकाई-6

राजनीतिक व्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 व्यवस्था सिद्धान्त के कारण

6.3 व्यवस्था सिद्धान्त का विकास

6.4 सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की अवधारणात्मक रूपरेखा

6.4.1 स्वरूप

6.4.2 संगठन

6.4.3 गतिशीलता

6.5 ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था की विशेषताएँ

6.5.1 राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ

6.5.2 पर्यावरण

6.5.3 निवेश

6.5.4 मागों का रूपान्तरण

6.5.5 निर्गत

6.5.6 प्रतिसम्मरण

6.6 मूल्यांकन

6.6.1 उपयोगिता

6.6.2 आलोचना

6.7 सारांश

6.8 अभ्यास प्रश्न

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे कि:

- राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का उद्भव व विकास कैसे और क्यों हुआ।
- राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का अर्थ क्या है।
- राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का क्षरण या पतन तथा विकास कब और कैसे होता है।

6.1 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान की विषयवस्तु का उद्भव राजनीतिक प्रक्रिया से होता है। राजनीतिक प्रक्रिया से ही प्रघटनायें, संस्थायें व नियम तथा सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव होता है।

राजनीतिक प्रक्रिया एक सत्त प्रक्रिया है जिसका मूल आधार व्यक्ति की क्रिया (**Human Action**) है अर्थात् यदि हमें राजनीतिक विज्ञान में राज्य, सरकार, राजनीतिक दल एवं दबाव समूह आदि का अध्ययन करना है तो हमारे अध्ययन का केन्द्र मानव व्यवहार और अंतोगत्वा राजनीतिक प्रक्रिया होगी।

पूर्व में हम परम्परागत राजनीतिक अवधारणायें यथा-राज्य सरकार आदि का अध्ययन करते थे। किन्तु परम्परागत उपागम के तहत इस प्रकार के अध्ययन राजनीतिक यथार्थ का सही व सटीक जानकारी प्रदान करने में सक्षम नहीं थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास व प्रयोग के बाद राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन में वैज्ञानिक व अन्त: अनुशासनात्मक उपागम अपनाया जाने लगा तथा मूल्यात्मक अध्ययन की जगह यर्थाथवादी अध्ययन किया जाने लगा। जू कारण परंपरागत विषयवस्तु का प्रतिस्थापन नई विषयवस्तु रो होने लगा। उदाहरण के रूप ' मूल्य की जगह तथ्य राज्य की जगह राजनीतिक व्यवस्था आदि।

आज प्रत्येक राज्य में राजनीतिक व्यवस्था कार्यशील है। राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों हुई? कौन से कारण इसके लिये उत्तरदायी थे तथा इसकी विकास प्रक्रिया क्या रही, इस इकाई में इनकी जानकारी प्राप्त करते हुये यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ क्या है? इसके प्रमुख तत्व क्या है और यह किस प्रकार कार्य करती है। इस संबंध में डेविड ईस्टन का विशेष योगदान का भी अध्ययन करेंगे।

वर्तमान युग में राज्य का अस्तित्व अर्थात उसका स्थायित्व, विकास या पतन राजनीतिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। यदि राजनीतिक व्यवस्था क्षमता युका है तो सातत्य बना रहेगा, अत: हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि व्यवस्था में किन परिस्थितियों में सातत्य बना रहता है। इन परिस्थितियों को जानने के बाद हम यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि राजनीतिक व्यवस्था का विकास या पतन के लिये जिम्मेदार कारक कौन कौन से है।

6.2 व्यवस्था सिद्धान्त के उद्भव के कारण

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं में जटिलता उत्पन्न होती गई, अत: प्रचलित अवधारणायें-कानूनी व संस्थागत अर्थो में ही सीमित हो गये, अनेकार्थों में इनका प्रयोग होने लगा तथा अपनी प्रकृति में आदर्शवादी व मूलयात्मक होने के कारण राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन करने में सक्षम नहीं थे।
2. आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के उदय के साथ राजनीतिक यथार्थ के पर बल दिया जाने लगा यह आवश्यकता महसूस की जाने लगी कि प्रक्रिया का अध्ययन राजनीतिक व्यवहार के आधार पर किया जाये, जिससे क्या, क्यों कैसे आदि प्रश्नों का उत्तर मिल सके।
3. 1945 के बाद से सामाजिक-विज्ञान के विद्वानों में दो बातों को असंतोष था। प्रथम, सामाजिक विज्ञान के सभी अध्ययनशास्त्रो के मध्य ज्ञान के आदान- की व्यवस्था नहीं थी व अन्त: अनुशासनात्मक अध्ययन के लिए कोई पद्धत्यात्मक सा?न नहीं था। द्वितीय, प्रत्येक अध्ययनशास्त्रों में हो रहे शोधों में विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों।का अभाव

था, अगर इनका प्रयोग हो भी रहा था तो यह अलग-अलग थे जिसके कारण ज्ञान का समुचित समन्वय नहीं हो पाता था। अत: ऐसी विश्लेषणात्मक सिद्धान्त की महसूस की जाने लगी जो सभी अध्ययनशास्त्रों में सभी विषयों के अध्ययन के लिए विश्लेषणात्मक साधन या पद्धति के रूप में प्रयोग की जा सके।

4. सामान्यत: सभी विषयों में और विशेषकर राजनीतिक विज्ञान में -प्रक्रिया के यथार्थवादी अध्ययन के लिए वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ पद्धति का अभाव,।

उपरोक्त सभी कारणों की अनुक्रिया स्वरूप सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त का उद्भव एक वैज्ञानिक यथार्थपरक, विश्लेषणात्मक सिद्धान्त के रूप में हुआ।

6.3 व्यवस्था सिद्धान्त का विकास

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात आधुनिक राजनीतिक विज्ञान तथा अन्त: अनुशासनात्मक उपागम के विकास के साथ-साथ व्यवस्था सिद्धान्त का भी विकास हुआ। व्यवस्था सिद्धान्त का सर्वप्रथम विकास प्राणीविज्ञान में हुआ, तत्पश्चात इसे भौतिकी व अभियान्त्रिकी में भी अपनाया गया। इसके उपरान्त समाजशास्त्र व अन्य सामाजिक अनुशासनों में इसका विकास हुआ।

1932 में कैनन ने पहली बार होमोस्टेसिस अवधारणा को, जैविक व्यवस्था के आवश्यक गुण के रूप में विकसित किया। वीन बर्टेलफी, प्रसिद्धि प्राणीशास्त्री ने सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के विकास का प्रयास किया। राजनीतिशास्त्रियों पर सीधा प्रभाव समाजशास्त्र के टेलकॉट पार्न्सन रोथेल्सबर्जर, डिक्सन और लोक-प्रशासन के चेस्टर आइ बनार्ड और हर्बट यू साइमन का पडा।

राजनीति विज्ञान में "शिकागो स्कूल" से प्रभावित विद्वानों का परस्पर विचार-विमर्श चलता रहा, कुछ सम्मेलनों का आयोजन भी किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप 1956 में रॉय ग्रिनकर की सम्पादित पुस्तक "अनइफाइड थ्योरी ऑफ जनरल बिहेवियर" प्रकाशित हुई। कुछ समय बाद "सोसाइटी फॉर द एडवानसमेन्ट ऑफ जनरल सिस्टम रिसर्च" की स्थापना की गई। जिसके द्वारा कई लेखों व पुस्तकों का प्रकाशन व इसके साथ में सम्मेलनों का आयोजन भी किया गया। इसी समय व्यवस्था अध्ययन का विकास सिद्धान्त के रूप में हुआ और इस पहलू पर भी ध्यान दिया गया कि क्या व्यवस्था सिद्धान्त प्रायोगिक व व्यावहारिक है इसकी क्या उपयोगिता है व सीमायें है?

6.4 सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त की अवधारणात्मक रूपरेखा

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त निम्नलिखित तीन बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है-

6.4.1 स्वरूप-सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के स्वरूप को निम्न अवधारणाओं से समझा जा सकता है-

1. व्यवस्था का अर्थ

ऑक्सफोर्ड शब्द कोष के अनुसार व्यवस्था "एक जटिल सम्पूर्णता, भौतिक व अभौतिक तत्वों की सावयवी इकाई, भागों या तत्वों का सम्बन्धित समुच्चय..... है" व्यवस्था का केन्द्रीय

तत्व सम्बद्धता और संगठनात्मकता है। **बर्टलेन्फी** के अनुसार यह अन्तक्रियाशील तत्वों का समूह है **"हाल एवं फैगन के अनुसार"** "वस्तुओं में परस्पर और वस्तुओं तथा उनके लक्षणों के मध्य सम्बन्धों सहित वस्तुओं का समूह है।" कॉलन चेरी के मत में "व्यवस्था ऐसी सम्पूर्णता है जो संघटक लक्षणों के विभिन्न निर्माणक भागों से सम्मिलित रहता है।" एस.पी. वर्मा ने स्पष्ट किया है कि "व्यवस्था में वस्तुओं और समूहों का ऐसा विचार सविहित है जो विशिष्ट संरचनात्मक सस्कधों और निश्चित प्रक्रियाओं के आधार पर एक दूसरे के साथ अन्त: क्रियाशील और सम्बन्धित रहती है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि व्यवस्था ऐसी पृथक और समग्रपूर्ण स्थिति है जिसमें संगठन सम्बन्धी एकता पाई जाती है, क्योंकि वह तत्व जिनसे मिलकर वह बनती है वह परस्पर सम्बन्धित है, अन्त: क्रियाशील है। उसके अस्तित्व का उद्देश्य तथा होता है और उसके निर्माण व कार्यकलापों का एक या अनेक सिद्धान्तों के रूप में आधार भी होता है। व्यवस्था में तीन गुण पाए जाते हैं:

(i) व्यवस्था अन्त: क्रियाओं या तत्वों का समुच्चय है। एक क्रिया का प्रभाव दूसरी क्रिया या तत्वों पर होता जिससे उनमें परिवर्तन होता है और पूरी व्यवस्था इससे प्रभावित होती है।

(ii) अन्त: सम्बन्धित क्रियाओं या तत्वों की एक सीमा होती है। एक सह एक निश्चित बिन्दु से प्रारम्भ होती है और एक निश्चित बिन्दु पर समाप्त होती है, जहां से दूसरी व्यवस्था प्रारम्भ होती है।

(iii) प्रत्येक व्यवस्था एक पर्यावरण के अन्तर्गत कार्य करती है।

2. उप-व्यवस्था

प्रत्येक व्यवस्था में एक साथ कई उप-व्यवस्थायें भी पाई जाती व। उप-व्यवस्थायें अपना पृथक अस्तित्व रखती हैं परन्तु यह स्वतन्त्र होकर व्यवस्था पर निर्भर होती है। व्यवस्था स्वतंत्र परिणामों व तथ्यों से निर्मित होता है। वहीं उप-व्यवस्था निर्भर परिणामों व तथ्यों से निर्मित होती है। उदाहरण स्वरूप सामाजिक व्यवस्था के साथ आर्थिक सांस्कृतिक प्रभावित भी कार्य करती है।

3. पर्यावरण

प्रत्येक व्यवस्था एक पर्यावरण से घिरी रहती है और उसी में कार्य करती है पर्यावरण कई तत्वों-आर्थिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, भौगोलिक, जन सांख्यिकीय आदि इकाइयों से मिलकर बनता है जो व्यवस्था को प्रभावित करता है। व्यवस्था और पर्यावरण में निरन्तर अन्त: क्रिया होती रहती है, व्यवस्था पर्यावरण से प्रभावित होती है और उसे प्रभावित भी करती है।

पर्यावरण और व्यवस्था में निरन्तर अन्तःक्रिया होती है। पर्यावरण के प्रभाव के कारण निवेश (Input) उत्पन्न होते है व्यवस्था इन निवेशों का रूपान्तरण (Conversion) करती है जो निर्गत (Out Put) के रूप में सामने आते हैं इसका प्रभाव पर्यावरण पर भी पड़ता है इस प्रक्रिया को प्रतिसम्मरण (Feedback) कहते हैं। इस प्रकार से निवेश-निर्गत व प्रतिस्म्भरण की प्रक्रिया निरन्तर रूप से चलती रहती है, जब तक यह प्रक्रिया रहती है व्यवस्था का असितत्व बना रहता है।

6.4.2. संगठन

प्रत्येक व्यवस्था में सम्बन्धों का एक संगठनात्मक ढांचा होता है, जिसे निम्न तीन अवधारणाओं से समझा सकते है:

(1) पृथकरणीयता

प्रत्येक संगठन में संरचनात्मक इकाईयाँ होती है जो पृथक अस्तित्व है और कार्य करती है। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि व्यवस्था या राज्य में प्रायः तीन संरचनात्मक स्तर-केन्द्रीय (केन्द्र सरकार) प्रान्तीय (प्रान्त सरकार) व स्थानीय (स्थानीय शासन) पाये जाते है। तीनों इकाइयाँ के पृथक-पृथक अंग होते हैं, निश्चित संरचना होती है व होते हैं। बहुधा यह इकाइयाँ अपना-अपना कार्य करती है परन्तु कई बार एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप भी करती है, जिससे कार्यो का दोहराव देखने को मिलता है जिसे परस्पर व्यापी क्षेत्र (Overlapaing zone) कहते हैं।

(2) अन्योन्याश्रितता

व्यवस्था की इकाइयां, पृथक, स्वतन्त्र होते हुए भी यह एक दूसरे से नहीं परन्तु परस्पर सम्बन्धित, परिपूरक व सहायक होती है। इस स्थिति को अन्योनाश्रिता करते है। जैसे विकास या कल्याण के लिये बहुधा सभी इकाईयाँ मिलकर काम करती है और सामूहिक-समन्वित प्रयासों से ही इन क्षेत्रों में सकारात्मक परिणामों को प्राप्त किया जा सकता है।

(3) एकीकरण

जब व्यवस्था में पृथकरणीयता के साथ अन्त: निर्भरता व अन्योन्याश्रितता पाई जाती है तो इसका स्वाभाविक परिणाम एकीकरण है। व्यवस्था में निश्चित सरंचनाये कार्यात्मक रूप से परस्पर सम्बन्धित व निर्भर रहती है और व्यवस्था को एक निश्चित एकीकृत स्वरूप प्रदान करती है। इस संदर्भ में व्यवस्थाओं के परस्पर सम्बन्धों की दृष्टि से तीन अवधारणायें सामने आती है-

- **(i)** समाकृतिकता (Isomorphisan) -जब दो व्यवस्थायें एक दूसरे के समान है।
- **(ii)** असमाकृतिकता (Non– Isomorphisan) -जब दो व्यवस्थायें असमान है।
- **(iii)** अन्त: पाषन यान्त्रिकता (Interocking mechanisam) -दो व्यवस्थायें परस्पर किस प्रकार संरचनात्मक या कार्यात्मक रूप से जुडी हुई है।

6.4.3 गतिशीलता

व्यवस्था निरन्तर गतिशील रहती है अर्थात व्यवस्था में निवेश-निर्गत-प्रतिसम्भरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इस निरन्तर प्रक्रिया या गतिशीलता का अध्ययन तीन बिन्दुओं के तहत किया जा सकता है :-

(1) सातत्य स्थापना व विनियमन

व्यवस्था निरन्तर गतिशील रहेगी तभी उसका अस्तित्व बना रहेगा। व्यवस्था का अस्तित्व तब तक बना रहेगा जब तक व्यवस्था में सन्तुलन रहेगा। सन्तुलन से अभिप्राय यह है

कि पर्यावरणीय प्रभाव के कारण उत्पन्न निर्गतों का दबाव व्यवस्था के सामर्थ्य के अनुकूल होना चाहिए। यदि दबाव ज्यादा है तो व्यवस्था में उसे संभालने की क्षमता होनी चाहिये।

(2) परिवर्तन

गतिशीलता के साथ परिवर्तनों का होना आवश्यक है। व्यवस्था में निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। यह परिवर्तन दो प्रकार के होते है:-

(3) शान्तिपूर्ण परिवर्तन

परिवर्तन-प्रक्रिया तब शान्तिपूर्ण होती है, जब व्यवस्था में व्यवधान उत्पन्न नहीं होता है। यह तभी संभव है जब व्यवस्था में-

(i) ग्रहणता (Adapation) का गुण हो अर्थात बदलती परिस्थितियों में अपने को अनुकूल ढालने की क्षमता हो।

(ii) सीखना (Learning) अपने अनुभवों से या दूसरी व्यवस्थाओं के अनुभवों से सीखने का गुण हो।

(iii) विकास (Growth) का गुण हो अर्थात बदलती परिस्थितियों में अपनी क्षमता का प्रयोग माँगों की पूर्ति व परिवर्तनों के निष्पादन में इस तरह करे कि अन्ततः परिणाम विकास के रूप में सामने आये।

(b) **विनाशकारी परिवर्तन :-** परिवर्तन-प्रक्रिया तभी व्यवस्था में व्यवधान, बिखराव उत्पन्न करती है जब व्यवस्था में माँगों का दबाव उसकी क्षमता से ज्यादा होता है तथा व्यवस्था में सन्तुलन बिगड़ने लगता है और वह पतन की ओर उन्मुख होती है। इस संदर्भ में तीन अवधारणायें महत्वपूर्ण हैं

(i) भार (Load) व्यवस्था में मांगों का भार क्षमता से ज्यादा होता है।

(ii) संकट (Crises) ऐसी समस्या उत्पन्न हो जो तुरन्त चाहती हो, या नेतृत्व समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता और यदि समाधान है तो नहीं कर पाता, अत: व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगती है।

(iii) पतन (Decay) व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों के कारण उसकी क्षमता निरन्तर कम होती है। सुधारात्मक उपाय किये नहीं जा रहे या अप्रभावी है। ऐसी अवस्था का परिणाम अन्ततः व्यवस्था का विघटन होता है।

बोध प्रश्न- 1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

(1) सामाजिक विज्ञान के विद्वानों में किन बातों को लेकर असंतोष था कि व्यवस्था सिद्धान्त के उद्भव का कारण बने?

उत्तर: .....

(2) व्यवस्था सिद्धान्त का सर्वप्रथम विकास किस अनुशासन में हुआ, इसके प्रणेता कौन थे?

उत्तर: .....

(3) उप व्यवस्था क्या है?

उत्तर: .....

(4) व्यवस्था सिद्धान्त में परिवर्तन कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर: .....

6.5 ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त की विशेषतायें

डेविड ईस्टन ने 1935 में प्रकाशित पुस्तक "द पोलिटिकल सिस्टम" में राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का विचार प्रस्तुत किया। 1956 में "ए फ्रेमवर्क फॉर एनालिसिस" में उन अवधारणाओं को प्रस्तुत किया जिसके आधार पर सिद्धान्त निर्माण किया सके।

6.5.1 राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ -

"राजनीतिक व्यवस्था", ईस्टन के अनुसार, "मूल्यों का अधिकृत वितरण है"। यह वितरण अन्तःक्रियाओं के ऐसे समूह द्वारा होता है जिसके अन्तर्गत मांगों (Inuts) को निर्गत (Output) में बदला जाता है। ईस्टन के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था में सदस्यों के मध्य मूल्यों-हितों, लक्ष्यों, वस्तु की मूल्यात्मक (कीमत के संदर्भ में) प्राथमिकता, का अधिकृत वितरण-निर्णय/नीति की बाध्यकारिता तथा स्वीकृति या वैधता, किया जाता है।

6.5.2. पर्यावरण -

प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के बाहर अन्य व्यवस्थायें जैसे-सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, जैविक आदि कार्य करती है। यह सभी मिलकर पर्यावरण का निर्माण करती है जिसका प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ता है और राजनीतिक व्यवस्था भी इसे प्रभावित करती है। पर्यावरण को दो भागों में बांट सकते है-

(a) **अन्त: सामाजिक पर्यावरण -** एक समाज मैं- कार्य कर रही सभी व्यवस्थायें, यथा- मनोवैज्ञानिक, वैयक्तिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि, शामिल है। यह उन परिस्थितियों पर प्रभाव डालती है और उनका निर्माण भी करती है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्था कार्य करती है।

(b) **बाह्य सामाजिक पर्यावरण -** सामाजिक परिवेश से बाहर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थित राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, पारिस्थितिकी व्यवस्था आदि इसमें शामिल है जो कि राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करती है।

6.5.3 निवेश

राजनीतिक व्यवस्था में पर्यावरण के प्रभाव के कारण निवेश उत्पन्न होते हैं। निवेश माँग के रूप में सामने आते हैं। माँग सदस्यों की वह आकांक्षाएँ व अपेक्षायें हैं जो वह राजनीतिक व्यवस्था से करते है। यह चार प्रकार की होती है-

वस्तुओं व सेवाओं की,

सामूहिक व्यवहार (षादी, बाजार, स्वस्थ्य)

राज. व्यवस्था में सहभागिता और

सूचना व सम्प्रेषण की।

माँग व्यवस्था पर दो प्रकार से दबाव उत्पन्न करती है

(i) आयतनीय दबाव (volume stress) जब व्यवस्था में मांगों की संख्या व्यवस्था की पूर्ति क्षमता से अधिक बढ जाती है और

(ii) मात्रात्मक दबाव (Content Stress) जब मांगों को पूरा करने का व्यवस्था के पास समय नहीं रहता है।

समर्थन को ईस्टन ने निवेश का दूसरा पक्ष माना है यह चार तरह का होता है-भौतिक समर्थन (कर चुकाना), कानून व नियमों का पालन, सहभागी समर्थन (वोट देना आदि) व सार्वजनिक सत्ता का सम्मान। समर्थन, सत्ता व मांगों के प्रति होता है। समर्थन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष और पूर्ण या आशिक प्रकार के हो सकते है। समर्थन, शासकों, सत्ता, मुख्य व्यवस्था व अधिकारियों के प्रति "समुदाय की वह प्रतिक्रिया है जो राजनीतिक व्यवस्था को मांगों से निपटने की क्षमता प्रदान करती है राजनीतिक व्यवस्था में समर्थन के तीन आधार हैं -

(i) राजनीतिक समुदाय-लोगों का वह समूह जो स्वेच्छा से व्यवस्था की समस्या समाधान प्रक्रिया में सहयोग करते है।

(ii) शासन-संवैधानिक व्यवस्था अर्थात राज्य का संविधान कानून ००" आदि जिस पर शासन संरचना आधारित है।

(iii) अधिकारी-व्यक्तियों का वह समूह जो शासन चलाते है तथा मूल्यों का अधिकृत वितरण करते है।

ईस्टन ने कहा है कि माँगें, " कच्चा माल है जिसमें से परिष्कृत उत्पादन निर्णयों का निर्माण होता है' ' और 'क्रियाओं ओर अभिमुखीकरण के रूप में वह ऊर्जा हैं जो राजनीतिक व्यवस्था को प्रोत्साहित या उसका प्रतिरोध करता है: इसी से मांगे बनती है निर्णय दिये जाते है। "

राजनैतिक व्यवस्था

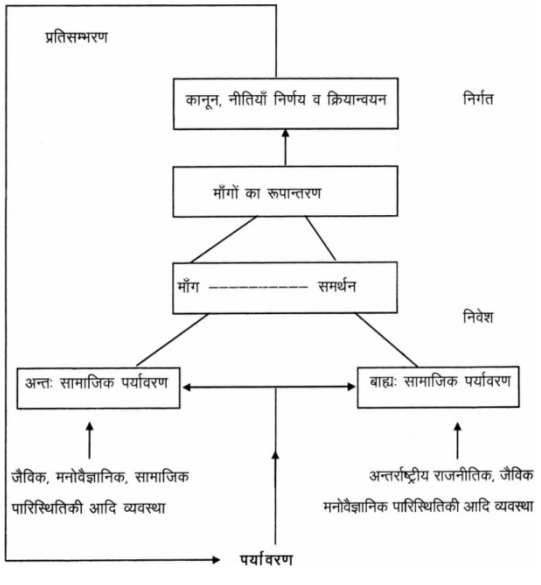

6.5.4. माँगों का रूपान्तरण

माँगों के रूपान्तरण की प्रक्रिया उन तरीकों को कहा जाता है 'जिनके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था में माँगों को स्वीकार, अस्वीकार या उनमें परिवर्तन किया जाता है व्यवस्था में उठने वाली माँगों पर नियन्त्रण कई तरीकों से किया जाता है :-

(i) द्वारबन्दी-कुछ माँगें उठने के बाद दरवाजे द्वारा जैसे-राजनीतिक दल, दबाव समूह आदि जो दरवाजे का कार्य करते है के द्वारा पर्यावरण से उत्पन्न माँगों की छँटनी की जाती है तथा निर्णय लिया जाता है कि किस मांग पर कार्य करना है व पूरा करना है।

(ii) कुछ माँगों को सामाजिक-सांस्कृतिक आदर्शो के अनुकूल न होने के कारण अस्वीकृत कर देते है।

(iii) राजनीतिक व्यवस्था, सम्प्रेषण के विभिन्न माध्यमों से माँगों में बिखराव उत्पन्न करके उन्हें समाप्त कर देती है।

(iv) राजनीतिक व्यवस्था न्यूनीकरण प्रक्रिया द्वारा कई माँगों को एक सामान्य माँग या मुद्दों में बदल देते हैं और उसका समाधान करते है।

अन्ततः राजनीतिक व्यवस्था, व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली माँगों की संख्या अपनी क्षमतानुकूल कर लेता है जिसे वह पूरा कर सके।

6.5.5 निर्गत

निर्गत उन निर्णयों को कहा जाता है जो राजनीतिक व्यवस्था माँगों का रूपान्तरण करके लेती है। माँगों को पूरा करने के लिए निर्णय लेकर, नीतियों व कानूनों का निर्माण किया जात है, जो चार प्रकार के होते है-

1) वसूली निर्णय-कर आदि लेना
2) व्यवहार का नियमितिकरण
3) वस्तु, उपाधि, अवसरों का अधिकृत वितरण करना
4) प्रतीकात्मक निर्गत - नीति वक्तव्य, मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता आदि।

6.5.6. प्रतिसम्भरण

प्रतिसम्भरण पर्यावरण व राजनीतिक व्यवस्था के मध्य हो रही अन्तः क्रिया है। यह एक सम्प्रेषण प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक व्यवस्था व सदस्यों के मध्य सम्प्रेषण कायम होता है। एक तरफ व्यवस्था द्वारा लिये गये निर्णय व नीतियों और उनके क्रियान्वयन का प्रभाव व सूचना, पर्यावरण व जनता तक पहुंचती है और साथ ही दूसरी तरफ पर्यावरण व सदस्यों की प्रतिक्रिया व्यवस्था तक भी पहुंचती है।

ईस्टन सन्तुलन की अवधारणा के विरूद्ध थे। उनका मत है कि यदि व्यवस्था की क्षमता, मांगों को पूरा करने के लिये सक्षम है तो माँग (निवेश) पूर्ति (निर्गत)-प्रतिसम्भरण-पर्यावरण-पुन मांग की प्रक्रिया चलती रहेगी तथा राजनीतिक व्यवस्था में सातत्य बना रहेगा, जो सभी पर्यावरणीय दबावों का सामना कर सकती है।

6.6 मूल्यांकन Evaluation

6.6.1 उपयोगिता

व्यवस्था सिद्धान्त द्वारा राजनीतिक व्यवस्था की स्वायत्तता पर बल देते हुए ज्ञान के विभाजन को रोकने का प्रयास किया गया तथा राजनीतिक प्रक्रिया का सम्पूर्णता में अध्ययन करने पर भी बल दिया गया है।

राबर्ट सी. बोन का मत है कि "यह तुलनात्मक विश्लेषण की श्रेष्ठतम प्रविधि है प्रत्यय, प्रवर्ग व अवधारणा आदि तत्व तुलना को आसान बना देते है।"

व्यवस्था सिद्धान्त में राजनीतिक व्यवस्था में सन्तुलन-विश्लेषण नकारते हुए महत्व इस बात पर दिया गया है कि व्यवस्था की निरन्तरता कैसे कायम रखी जा सके, इसके लिये कौन से तत्व उत्तरदायी हैं? व्यवस्था सातत्यता के लिये आदर्श परिस्थितियां, हो सकती है।

आंरन यंग का मत है कि "राजनीति शास्त्रियों द्वारा विशिष्ट रूप में राजनीतिक रूप से राजनीतिक विश्लेषण के लिये अभी तक की निःसंदेह सर्वाधिक अर्न्तविष्ट व्यवस्था उपागम है। " यह इसकी उपयोगिता रो स्पष्ट होता है जो निम्न है :-

(1) राजनीतिक व्यवस्था विश्लेषण सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित करता है न कि भागों या उपभागों पर।

(2) यह गत्यात्मक विश्लेषण का मार्ग खोल देता है।

(3) इस उपागम के द्वारा सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था का अ'स किया जा सकता है। इसका प्रयोग उनके मध्य तुलना व विश्लेषण करने के लिए भी किया जा सकता है।

(4) राजनीतिक व्यवस्था उपागम के प्रयोग से किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता, संभावित स्थायित्व का संकेत मिल जाता है और साथ ही राजनीतिक व्यवस्था की गतिशीलता का अध्ययन करके व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों का आकलन सकते है।

(5) यह उपागम परिवर्तनों के साथ विकास की दिशा व गति का भी संकेत देने में समर्थ है।

6.6.2 आलोचना

पॉल एफ.क्रेस ने व्यवस्था सिद्धान्त की आलोचना करते हुए स्पष्ट किया है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह सिद्धान्त अत्यधिक अमूर्त है जिसमें **(i)** सार का अभाव है **(ii)** व्यवस्था की प्रकृति व सदस्यता कृत्रिम है **(iii)** अविस्थितिकर्ता द्वारा कर्ता का प्रतिस्थापन है तथा **(iv)** इतना सूक्ष्म व निम्निष्ठ है कि यह अव्यवहारिक बन जाता है।

व्यवस्था सिद्धान्त की मुख्य कमियां निम्न है :-

(1) व्यवस्था सिद्धान्त अनुदारवादी व यथास्थितिवादी है। तृतीय विश्व के सभी पक्ष-सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि में परिवर्तन चाहते हैं। यह सिद्धान्त इन में हो रहे परिवर्तन की गति, मात्रा व प्रकृतियों को समझने में सक्षम नही हैं।

(2) व्यवस्था सिद्धान्त पूर्णत: व्यक्ति व उसके व्यवहार के अध्ययन पर आधारित है अर्थात राजनीतिक प्रक्रिया का अध्ययन अत्यधिक समष्टिवादी हैं। जो सिद्धान्त सब कुछ समझने का प्रयास करता है वह कुछ नहीं समझ पाता है।

(3) निवेश-रूपान्तरण-निर्गत-प्रतिसम्भरण के रूप में व्यवस्था ने आधारभूत अवधारणायें व सिद्धान्त दिये है कि इनके आधार पर विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में अन्तर नहीं कर सकते क्योंकि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के मूल तत्व एक है।

(4) व्यवस्था अन्त: क्रियाशील तत्वों का समूह है अर्थात यदि एक से, परस्पर संबंधित तत्व, परस्पर क्रियाशीलता की अवस्था में है तो व्यवस्था का निर्माण। इस दृष्टिकोण से सामाजिक विद्वानों में सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, आदि कई व्यवस्थायें राजनीतिक व्यवस्था के साथ कार्य करती है। इस सिद्धान्त में व्यवस्था को स्वायत्तता प्रदान की और अन्य व्यवस्थाओं से प्राथमिकता माना है। ऐसा क्यों किया गया स्पष्ट नहीं है।

(5) यह सिद्धान्त राजनीतिक व्यवस्था में हो रहे या होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तन का स्पष्टीकरण देने में सक्षम नहीं है।

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. ईस्टन ने पर्यावरण के कितने प्रकार बताये है?

उत्तर: ……..…….

……..

2. प्रतिसम्भरण को परिभाषित कीजिये।

उत्तर: …….

……..……..

3. व्यवस्था सिद्धान्त विश्लेषण की श्रेष्ठ प्रविधि कैसे हैं?

उत्तर: ……..…….

…….

4. पोल एफ. क्रेस ने व्यवस्था सिद्धान्त की क्या आलोचना की है।

उत्तर: ……..….

……..

8.7 सारांश

परम्परागत राजनीतिक विज्ञान की कमियों व अव्यवहारिकता के कारण तथा राजनीति का यर्थाथवादी वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता के कारण राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का आर्विभाव एक विश्लेषणात्मक सिद्धान्त के रूप में हुआ है। राजनीतिक व्यवस्था अर्न्तसंबधित तत्वों का समूह है जो कि एक निश्चित पर्यावरण में कार्य करता है जिसमें प्रक्रियात्मक रूप से निवेश- (मागं व समर्थन) -रूपान्तरण-निर्गत-प्रतिसम्भरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इसी के

माध्यम से व्यवस्था को स्थायित्व गतिशीलता प्राप्त होती है यह प्रक्रिया व्यवस्था द्वारा अनुरक्षित व नियन्त्रित की जाती है जिसके परिणाम स्वरूप सकारात्मक परिवर्तन व्यवस्था का विकास करते है तथा नकारात्मक परिवर्तन व्यवस्था को पतन की तरफ उन्मुख करते है।

6.8 अभ्यास प्रश्न

(I) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 150 शब्दों में दीजिये-

(1) राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

(2) पर्यावरण को परिभाषित कीजिये। पर्यावरण व राजनीतिक व्यवस्था में क्या सम्बन्ध है।

(3) राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालिये

(4) ईस्टन द्वारा प्रतिपादित निवेश की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।

(II) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 500 शब्दों में दीजिये-

राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त के विकास का वर्णन कीजिये।

सामान्य राजनीतिक व्यवस्था सिद्धान्त का वर्णन कीजिये।

ईस्टन के व्यवस्था सिद्धान्त का वर्णन कीजिये।

ईस्टन के व्यवस्था सिद्धान्त का मूल्यांकन कीजिये।

6.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

(1) ऑमण्ड एण्ड पॉवल, – "कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स, ए डवलपमेन्टल एप्रोच", लिटिल ब्राउन एण्ड कम्पनी, बोस्टन, 1966

(2) डेविड ईस्टन, – "द पोलिटिकल सिस्टम", न्यूयार्क, नोफ 1953 "ए फ्रेमवर्क फार द पोलिटिकल एनालिसिस", प्रेन्टिस हॉल, ईगलबुड क्लिफस्, न्यूजर्सी, 1965

(3) सी.बी. गेना, – "तुलनात्मक राजनीतिक एवं राजनीतिक संस्थाएं", विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1978

(4) जे.सी. जौहरी, – "तुलनात्मक राजनीति", विशाल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2000

इकाई- 7

राजनीतिक विकास

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 राजनीतिक विकास का अर्थ और परिभाषा

7.3 लूसियन डब्ल्यू पाई के विचार

7.4 आल्मंड और पावेल के विचार

7.5 राजनीतिक विकास के संकट

7.6 राजनीतिक विकास के चरण

7.7 राजनीतिक विकास के साधन

7.8 राजनीतिक विकास की अवधारणा का मूल्यांकन

7.9 सारांश

7.10 अभ्यास प्रश्न

7.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे -

- राजनीतिक विकास का अर्थ और परिभाषा
- राजनीतिक विकास के बारे में लूसियन डब्ल्यू पाई, आमंड और पावेल के विचार
- राजनीतिक विकास के समक्ष संकट और राजनीतिक विकास के चरण
- राजनीतिक विकास के साधन
- राजनीतिक विकास की अवधारणा का मूल्यांकन

7.1 प्रस्तावना

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लातीन अमरीका के नव स्वतन्त्र देशों ने राजनीतिक शास्त्रियों के समक्ष नई चुनौतियाँ प्रस्तुत की थीं। ये चुनौतियाँ इन गैर-पश्चिमी देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं और उनकी प्रक्रियाओं के अध्ययन पर जोर दिये जाने से उत्पन्न हुई थीं।

गैर-पश्चिमी देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन पर पश्चिम की स्थिर और निश्चित राजनीतिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं सम्बन्धी राजनीतिक व्यवस्था अवधारणा एवं संचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम लागू नहीं किये जा सकते थे। इनका यथार्थ अध्ययन सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में ही किया जा सकता था। इसका कारण यह था कि इन गैर-पश्चिमी देशों की राजनीतिक व्यवस्थायें और प्रक्रियायें (1) विकास की स्थिति में

थी, (2) इनमें अनिश्चितता और अस्थिरता पाई जाती थी, (3) इन पर संस्कृति और तिहासिक पर्यावरण का निर्णायक प्रभाव और दबाव था, आदि। अत: राजनीतिक शास्त्रियों ने इन देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं और प्रक्रियाओं को समझने के लिए जिस शब्दावली का प्रयोग किया उसे राजनीतिक विकास कहते हैं।

विकासशील राज्यों में अस्थायित्व, अस्तव्यस्तता और अनिश्चितता के घटनाक्रम चल रहे हैं। इन घटनाक्रमों को समझने के लिए कोलमैन, रिंग्स, बिण्डर, पाई, वीनर, ऐप्टर आदि ने नाइजीरिया श्रीलंका, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया, बर्मा, भारत, घाना आदि विकासशील राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया। अलग-अलग विद्वानों ने विभिन्न देशों के राजनीतिक विकास का अलग-अलग अध्ययन किया। इन सभी अध्ययनों को परस्पर मिलाकर निकालने का प्रयास करने के लिए नवीन अध्ययन-दृष्टिकोण की आवश्यकता स्पष्ट होने।

'राजनीतिक विकास' अवधारणा के संबंध में 'सिद्धान्त निर्माण' की प्रक्रिया का प्रारंभ प्राय: 196० से माना जाता है जब आमण्ड और कोलमैन की कृति 'दि पालिटिक्स ऑफ दि डेवलेपिंग एरियाज' प्रकाशित हुई। राजनीतिक विकास के क्षेत्र में सिद्धान्त निर्माण की खोज का काम वास्तव में 1963 में प्रारंभ हुआ जब आमण्ड की अध्यक्षता में 'तुलनात्मक राजनीति की समिति की स्थापना की गई जिसका कार्य राजनीतिक विकास और उससे संबंधित अध्ययनों के क्षेत्र में काम करने वाले प्रमुख सिद्धांतों को एकजुट करना था। इस समिति के तत्वावधान में प्रिंसटन विश्वविद्यालय प्रेस से राजनीतिक विकास के विभिन्न पक्षों पर छ: मानक ग्रंथ प्रकाशित हुये संबंध राजनीतिक विकास के विविध आयामों से था। इस विषय के प्रारंभिक लेखकों में लूसियान पाई वह व्यक्ति था जिसने राजनीतिक विकास की संकल्पना का वैज्ञानिक विश्लेषण किया और विषय पर प्रकाशित समस्त साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित किया।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. विकास की संपूर्णता के सन्दर्भ में विकासशील राज्यों की राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने में सहायक उपागम है।

उत्तर: .....
.....

2. राजनीतिक विकास उपागम पर विचार करने वाले विद्वानों में विद्वान हैं-

उत्तर: .....
.....

3. राजनीतिक विकास अवधारणा की आवश्यकता क्यों पड़ी?

उत्तर: .....
.....

7.2 राजनीतिक विकास का अर्थ और परिभाषा

राजनीतिक विकास के अर्थ को लेकर अभी भी विचारकों में मतभेद बना हुआ है।

ल्यूशियन पाई ने राजनीतिक विकास की सर्वप्रथम परिभाषा इस समय दी जब इस अवधारणा का विकास हो रहा था। उसके द्वारा दी गई परिभाषा इस प्रकार है-: " राजनीतिक विकास संस्कृति का विवरण और जीवन के पुराने प्रतिमानों को नई माँगों के अनुकूल बनाने, उन्हें उनके साथ मिलाने या उनके साथ सामंजस्य बैठाना है।"

ऐलफ्रेड डायमेंट ने राजनीतिक विकास की परिभाषा सामान्य रूप में देते हुए लिखा है कि राजनीतिक विकास एक ऐसी प्रक्रिया है, जिससे एक राजनीतिक व्यवस्था में नवीन लक्ष्यों को निरन्तर सफल रूप में प्राप्त करने की क्षमता रहती है।"

आमन्ड और पावेल ने राजनीतिक विकास की परिभाषा इस प्रकार दी है- " राजनीतिक विकास राजनीतिक संरचनाओं का अभिवृद्धि विभेदीकरण तथा राजनीतिक संस्कृति का बढा हुआ लौकिकीकरण है।"

जे.एम.मेकेन्जी के अनुसार, " राजनीतिक विकास उच्चस्तरीय अनुकूलन को प्राप्त करने की क्षमता है।"

रिग्स के अनुसार, " राजनीतिक विकास मूल्य-चयनों पर आधारित संगठनात्मक निर्णय ले सकने की बढ़ी हुई योग्यता है।"

केनेथ ऑरगेन्स्की के अनुसार, " राजनीतिक विकास राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र के मानवीय एवं भौतिक स्रोतों का उपयोग करते हुए शासन की कार्यकुशलता एवं दक्षता बढ़ाने का नाम है।"

7.3 लूसियन डबल्यू.पाई के विचार

लूसियन डबल्यु.पाई ने अपनी पुस्तक " **आस्पेक्ट्स ऑफ पॉलिटिकल डवलपमेंट**" में राजनीतिक विकास के विभिन्न पक्षों की आलोचनात्मक चर्चा की है। राजनीतिक विकास के प्रचलित विभिन्न अर्थ निम्नांकित है जिन्हें पाई अमान्य करता है:-

1. **आर्थिक विकास की राजनीतिक पूर्वदशा-** इस दृष्टिकोण की धारणा है कि राजनीतिक विकास को आर्थिक विकास का परिणाम माना जाना चाहिए। उदाहरणत: यदि राजनीतिक व्यवस्था के व्यक्तियों की आय में वृद्धि होती है तो उसे राजनीतिक विकास माना जाना चाहिए।

   लूसियन पाई का मत है कि आर्थिक विकास को राजनीतिक विकास का एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता। प्रथम, यह एक नकारात्मक दृष्टिकोण है। यह कहना तो सरल है कि किरन प्रकार का राजनीतिक विकास आर्थिक विकास में बाधक होता है, परन्तु यह कहना कठिन है कि किस प्रकार के राजनीतिक विकास में अधिकतम आर्थिक विकास सम्भव हो सकता है। दूसरे, प्रत्येक देश के राजनीतिक विकास की समस्याएँ उसकी विशिष्ट आर्थिक समस्याओं के अनुसार भिन-भिन्न होती हैं। तीसरे, अनेक निर्धन देशों में राजनीतिक विकास या परिवर्तन के बावजूद आर्थिक विकास नहीं हो सका अथवा वही

आर्थिक विकास की सम्भावनाएँ धूमिल पड़ गई हैं। चौथे, अनेक विकासशील देशों ने आर्थिक विकास के स्थान पर स्वतंत्र राजनीतिक विकास पर बल दिया है। इन देशों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं को खर्चीला समझा जाता है।

2. **औद्योगिक समाजों की विशिष्ट राजनीति-** इस दृष्टीकोण की धारणा है कि राजनीतिक विकास को औद्योगीकरण की गति के साथ जोडा चाहिए। इसका मानना है कि " औद्योगिक समाज चाहे प्रजातान्त्रिक हो अथवा अप्रजातंत्र राजनीतिक व्यवहार और कार्य संचालन के विशेष मानदण्ड प्रस्तुत करता है जो राजनीतिक विकास में सहायक होते हैं और सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए विकास के समुचित लक्ष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं।डब्ल्यू.डब्ल्यू.गेस्तोव जैसे अर्थशास्त्री इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

   लूसियन पाई राजनीतिक विकास के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता। उसका कहना है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण शासन के उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार, व्यवस्थित कानूनी और प्रशासनिक प्रक्रियाओं, औद्योगिक स्वतंत्रता, समस्याओं के, लोक कल्याणकारी प्रोग्रामों आदि की अवहेलना करता है।

3. **राजनीतिक आधुनिकीकरण-** इस दृष्टिकोण की धारणा है कि विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण समानार्थक शब्द हैं अर्थात् जितना आधुनिकीकरण होगा उतना ही राजनीतिक विकास होगा। यह दृष्टिकोण सम्पन्न, औद्योगिक राष्ट्रों को विशेषकर पश्चिमी राष्ट्रों को सामाजिक और आर्थिक जीवन को " फैशन निर्माता" या निर्धारक मानता है। इसका मानना है कि विकासशील देश जितनी मात्रा में पश्चिमी आधुनिक देशों का अनुसरण करते हैं उतनी मात्रा में वही राजनीतिक विकास होता है अर्थात् प्रजातन्त्र, प्रजातान्त्रिक संस्थाओं, योग्यता पर आधारित व्यवस्थाओं, स्वतंत्रता और समानता का विकास होता है। जेम्स एस.कोलमैन, कार्ल डायश और एस.एम.लिप्सेट जैसे समाजशास्त्री इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

   लूसियन पाई इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका है कि यह दृष्टिकोण न तो " पश्चिम' को और न " आधुनिक" शब्द को स्पष्ट करता है न ही उनमें भेद को बताता है। दूसरे, यह दृष्टिकोण विकासशील देशों की ऐतिहासिक परम्पराओं की अवहेलना करता है जिन्हें ये देश छोड़ने के लिए तैयार नहीं। तीसरे, ये देश प्रत्येक 'पश्चिमी' व ' आधुनिक' चीज का अन्धानुकरण नहीं करते हैं।

4. **राष्ट्रीय राज्य का संचालन-** इस दृष्टिकोण की धारणा है कि राजनीतिक विकास को राजनीतिक जीवन के संगठन और आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों से उपेक्षित मानकों के अनुसार कार्यो के निष्पादन से जोड़ा जाना चाहिए। इसका मानना है कि आधुनिक युग की राजनीति की मांग राष्ट्रीय राज्य की उत्पत्ति की मांग है, यह साम्राज्यीय या उपनिवेशी या कबीलाई की मांग नहीं। दूसरे शब्दों में, यह दृष्टिकोण " राष्ट्रवाद की राजनीतिक" का समर्थन करता है अर्थात् राजनीतिक विकास और " राष्ट्रवाद की

राजनीति" में तादात्म्य स्थापित करता है। के.एचसिल्वर्ट, एडवर्ड ए.शिल्स और विलियम मैक्कोर्ड जैसे समाजशास्त्री इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

लूसियन पाई इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि राष्ट्रवाद आवश्यक होते हुए भी सुनिश्चित राजनीतिक विकास की पर्याप्त नहीं। राजनीतिक विकास राष्ट्रीय राज्य के स्थान पर राष्ट्र निर्माण से अधिक सम्बन्धित है। पाई ने कहा है कि "राजनीतिक विकास राष्ट्र निर्माण कार्य है।"

5. **प्रशासनिक एवं वैधानिक विकास-** इस दृष्टिकोण की धारणा है कि राजनीतिक विकास और प्रशासनिक एवं वैधानिक विकास में गहरा सम्बन्ध है। विकास प्रक्रिया के लिए जहाँ शक्तिशाली एवं प्रभावशाली नौकरशाही की आवश्यकता है वहाँ प्रशासनिक विकास के लिए बुद्धिसंगतता के प्रसार और लौकिक एवं वैधानिक अवधारणाओं को सुदृढ़ करने की आवश्यकता है। इसके साथ मानवीय मामलों में विशिष्ट एवं तकनीकी ज्ञान को उन्नत करने की भी आवश्यकता है। मैक्स वैबर, टैल्काट पार्सन्स, ए.एम. हैंडरसन, जोसेफ ला पालोम्बारा जैसे समाजशास्त्री इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

   लूसियन पाई इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका मानना है कि शक्तिशाली एवं प्रभावशाली नौकरशाही राजनीतिक विकास का प्रतीक नहीं हो सकती। उसका कहना है कि प्रशासन पर आवश्यकता से अधिक बल राजनीतिक व्यवस्था में असन्तुलन पैदा कर सकता है। इसके अतिरिक्त यह दृष्टिकोण नागरिक प्रशिक्षण और जनसहभागिता की अवहेलना करता है।

6. **जन संगठन एवं सहभागिता-** इस दृष्टिकोण की धारणा है कि राजनीतिक विकास और राजनीतिक दृष्टि से जागरूक नागरिक और राजनीतिक व्यवस्था में उनकी अत्यधिक सहभागिता में गहरा सम्बन्ध है। यह दृष्टिकोण मताधिकार के विस्तार, जनसहभागिता के माध्यम से निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के विसरण को राजनीतिक विकास मानता है। क्लिफर्ड गीर्त्ज, रूपर्ट एमर्सन और बर्ट एस.होजलिट्ज जैसे समाजशास्त्री इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

   लूसियन पाई का मानना है कि जोड-तोड़ की राजनीति, जन भडकावन और उत्तेजना भरे प्रदर्शन के विनाशकारी परिणाम हो सकते हैं।

7. **प्रजातन्त्र का निर्माण-** इस दृष्टिकोण की धारणा है कि राजनीतिक विकास और प्रजातन्त्र के निर्माण एवं प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के मूल्यों की स्थापना में गहरा सम्बन्ध है। जोसेफ ला पालोम्बारा जे.रोनाल्ड पेन्नाक जैसे षोधकर्त्ताओं का यही दृष्टिकोण है।

   लूसियन पाई इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि अनेक विकासशील देशों में प्रजातन्त्र विद्यमान नहीं। अनेक में सर्वसत्तावादी व्यवस्थायें विद्यमान हैं फिर भी वहाँ राजनीतिक विकास हुआ है। दूसरे, प्रजातन्त्र एक "मूल्य-युक्त" अवधारणा है जबकि विकास एक "मूल्य-मुक्त" अवधारणा है। पाई का यह मानना है कि प्रजातन्त्र को राजनीतिक विकास की बुनियाद मानना विकासशील देशों पर पश्चिमी अथवा अमरीकी मूल्यों को थोपना है।

8. **स्थायित्व अथवा सुव्यवस्थित परिवर्तन-** यह दृष्टिकोण राजनीतिक विकास और स्थायित्व को अर्थात् सुव्यवस्थित परिवर्तन को समानार्थक मानता है। इसका मानना है कि निश्चितता के वातावरण में ही अर्थात् जहाँ अनिश्चिततायें कम से कम होती हैं वहीं पर सामान्यत: सामाजिक और आर्थिक विकास होता है अर्थात् योजनाओं और युक्तियुक्त पूर्वानुमानों के अनुसार विकास होता है। **कार्ल डायश और एम.डब्ल्यू.रिग्स** जैसे समाजशास्त्री इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

   लूसियन पाई इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि राजनीतिक विकास उसे ही माना जा सकता है जब राजनीतिक प्रक्रियायें सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों को विवेकपूर्ण व उद्देश्यपूर्ण ढंग से निर्देशित व नियन्त्रित करें। यदि सामाजिक और आर्थिक शक्तियाँ या परिस्थितियाँ राजनीतिक प्रक्रियाओं को निर्देशित व नियन्त्रित करती हैं तो उसे राजनीतिक विकास नहीं कहा जा सकता। दूसरे, यह निर्धारित करना कठिन है कि विकास के लिए कितनी स्थिरता की आवश्यकता है और परिवर्तन किस दिशा की ओर होना चाहिए। तीसरे, विकास और स्थिरता कहीं उस मध्य वर्ग का स्वप्न तो नहीं जो ऐसे समाज में रहता है जिसकी स्थिति अधिकांश विकासशील समाजों की स्थिति से कहीं अधिक अच्छी है।

9. **संघटन एवं सत्ता-** यह दृष्टिकोण राजनीतिक विकास के स्तर या अंश का अनुमान राज्य के ज्ञात संसाधनों के अधिकतम अथवा सम्भावित दोहन या उपयोग से लगाता है।

   लूसियन पाई राजनीतिक विकास के इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओ पर लागू होता है। यह उन व्यवस्थाओं में हो रहे विकास की अवहेलना करता है जिसमें सत्ता के संघटन को जानबूझकर सीमित रखा जाता है।

10. **सामाजिक परिवर्तन न की बहु आयामी प्रक्रिया का एक हिस्सा या पहलू-** यह दृष्टिकोण राजनीतिक विकास को कुछ अंशों में समाज का एक क्षेत्र मानता है परन्तु इसका यह भी कहना है कि इसे विकास के अन्य क्षेत्रों से पृथक् या अलग करना अनावश्यक और अनुपयुक्त है। यह इस बात पर जोर देता है कि राजनीतिक विकास या परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की बहु- आयामी प्रक्रिया का ही एक हिस्सा है और इसे उसी सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए। मैक्स एफ.मिलिकान और डेनियल लर्नर जैसे विद्वानों का यही दृष्टिकोण है।

    लूसियन पाई राजनीतिक विकास के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। यह दृष्टिकोण विकास के विविध रूपों को एक-दूसरे से सम्बद्ध करता है। समाज के विविध रूपों में आये परिवर्तन एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

11. **अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राष्ट्रीय सम्मान की भावना-** इस दृष्टिकोण के अनुसार यद्यपि राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की भावना अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र को प्रभावित करती रहेगी किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में राजनीतिक जीवन की बुनियादी इकाई के रूप में राष्ट्रीय राज्यों को स्वीकार नहीं किया जायेगा। जेम्स एस.कोलमैन और मायरन वीनर जैसे विद्वान

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। लूसियन पाई विकास के इस दृष्टिकोण "विकास संलक्षण" की संज्ञा देता है।

लूसियन पाई द्वारा दी गई इन व्याख्याओं के संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक विकास की अवधारणा की अत्यधिक पर मतभेद हैं।

लूसियन पाई के अनुसार राजनीतिक विकास की विशेषताएँ -

(1) **सम्पूर्ण जनसंख्या के संदर्भ में -** इस दृष्टि से राजनीतिक विकास का अर्थ कि राजनीतिक व्यवस्था की जनता की प्रकृति में कोई मौलिक परिवर्तन हुए हैं या नहीं। व्यवस्था में उदासीन है अथवा सहभागी, जनता नौकरशाही पर निर्भर है अथवा प्रशासन में सहभागी आदि। अगर किसी व्यवस्था की जनता में अभिवृत्तात्मक व व्यावहारिक परिवर्तन हो जाए तो आधार पर राजनीतिक व्यवस्था को राजनीतिक दृष्टि से विकसित कहा जायेगा।

(2) **शासकीय और सामान्य व्यवस्थायी निष्पादन के स्तर के संदर्भ में-** शासकीय और सामान्य व्यवस्थायी निष्पादन के स्तर पर राजनीतिक विकास का अर्थ " व्यवस्था की उस अभिवृद्ध क्षमता से लिया जाता है जिससे वह सार्वजनिक मामलो को अधिकाधिक और अच्छी तरह से निष्पादित करने लगती है। इस दृष्टि से राजनीतिक व्यवस्था के विकसित का पता इस बात से लगाया जाता है कि क्या राजनीतिक व्यवस्था मामलों का प्रबंध कर पाती है, क्या राजनीतिक विवादों को नियंत्रित रख पाती है, और क्या जनता की माँगों उचित निबटारा कर पाती है?

(3) **राजनीति के संगठक के संदर्भ में-** राजनीति के संगठक के रूप में राजनीतिक विकास वाली राजनीतिक व्यवस्थाओं में तीन बातें पाई जाती है-संरचनात्मक विभिन्नीकरण बढ जाता है, रचनाओं में बहुत अधिक प्रकार्यात्मक विशेषीकरण हो जाता है, सहभागी संस्थाओं और संगठनों में अधिकाधिक एकतामयी समन्वय स्थापित हो जाता है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के संगठन के संदर्भ में राजनीतिक विकास संरचनात्मक विभिन्नीकरण और कार्यात्मक विशेषीकरण का संकेतक है।

लूसियन पाई ने राजनीतिक विकास से संबंधित इन तीनों लक्षणों को समानता, क्षमता तथा विभेदीकरण कहा है।

7.4 आमण्ड और पावेल के विचार

आमण्ड और पावेल ने राजनीतिक विकास की तीन विशेषताओं को प्रमुख माना है। यह विशेषताएँ हैं- (1) भूमिका विभेदीकरण, (2) उप-व्यवस्था स्वायत्तता, और (3) लौकिकीकरण।

(1) आमण्ड और पावेल राजनीतिक विकास की प्रमुख विशेषता भूमिका विभिन्नीकरण को मानते हैं। यह विशेषता लूसियन पाई के द्वारा दी गई विभिन्नीकरण की विशेषता का पर्याय ही है। पाई राजनीतिक विकास के लक्षण के रूप में संरचनात्मक विभिन्नीकरण की बात करता है जबकि ये भूमिका-

विभिन्नीकरण की बात कहते हैं। इस लक्षण में आमण्ड और पावेल यह मानते हैं कि संरचनाओं का विभिन्नीकरण इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि भूमिका का विभिन्नीकरण। अनेक देश, विशेषकर साम्यवादी और विकासशील राज्य ऐसे हैं जहाँ संरचनात्मक विभिन्नीकरण की विस्तृत व सुनिश्चित व्यवस्थाएँ की जाती है किन्तु जब वास्तविक व्यवहार की बात आती है तो इन देशों में एक ही संरचना के द्वारा अन्य संस्थाओं के कार्यो का निष्पादन भी होता है। सोवियत रूस में संरचनात्मक विभिन्नीकरण है किन्तु भूमिका का विभिन्नीकरण नहीं पाया जाता है। इस कारण आमण्ड और पावेल पाई से एक कदम आगे जाकर राजनीतिक विकास के लिए ऐसा संरचनात्मक विभिन्नीकरण आवश्यक मानते हैं जो यथार्थ में भूमिकाओं का विभिन्नीकरण भी हो। उदाहरण के लिए, कार्यपालिका के रूप में केवल कार्यपालिका की ही भूमिका का निष्पादन करे और व्यवस्थापिका या न्यायपालिका की भूमिका का निष्पादन नहीं करे तो इसको भूमिका-विभिन्नीकरण माना जाएगा। इसका अर्थ शक्तियों के पृथक्करण से नहीं लेना है। भूमिका-विभिन्नीकरण शक्तियों के पृथक्करण की अवस्था में ही सम्भव हो यह आवश्यक नहीं है। अत: आमण्ड और पावेल राजनीतिक विकास का प्रमुख लक्षण भूमिका-विभिन्नीकरण मानते हैं।

(2) उप-व्यवस्था स्वायत्तता राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता के साथ जुडी हुई है। पाई जिसे राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता कहते हैं, आमण्ड और पावेल उसे उप-व्यवस्था की स्वायत्तता कहते हैं। इनका मत है कि भूमिका- विभिन्नीकरण तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक राजनीतिक व्यवस्था की उप - व्यवस्थाओं को स्वायत्तता प्राप्त नहीं हो। इसका सीधा सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता से इसलिए होता है क्योंकि उप व्यवस्था स्वायत्तता शक्ति के एक स्थान पर केन्द्र के स्थान पर विकेन्द्रीकरण का संकेत है। इससे राजनीतिक व्यवस्था की माँगों की कांट-छॉट करके उनमें से ठीक और उचित को पूरा करने की क्षमता बढती है। उप-व्यवस्था स्वायत्तता वाली राजनीतिक व्यवस्था में सारी माँगे सीधे एक केन्द्र पर स्थित सरकार के पास नहीं आती हैं, अपितु अन्य संरचनाओं को तथा उप-व्यवस्थाओं को स्वायत्तता प्राप्त होने के कारण उनके निर्णयों में रूपांतरण की व्यवस्था अनेक स्तरों पर हो जाती है। इससे राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, उप-व्यवस्थाओं की अधिक स्वायत्तता तभी सम्भव हो सकती है जबकि विभिन्नीकरण का ऊँचा स्तर स्थापित हो गया हो। इससे यह स्पष्ट है कि आमण्ड और पावेल उप-व्यवस्था के स्वायत्तता की बात करते हैं तो यह राजनीतिक व्यवस्था की क्षमता और कार्यक्षमता का बढ़ना ही है।

(3) आमण्ड और पावेल ने राजनीतिक विकास की तीसरी लौकिकीकरण की बताई है। लौकिकीकरण का सम्बन्ध सही रूप में संस्कृति से ही है। से दूर हटने और

धर्मनिरपेक्षता की तरफ समाज तभी बढ सकते हैं जबकि व्यक्तियों में वह आये जिसकी बात पाई ने राजनीतिक विकास की विशेषता के रूप में की है। पाई ने समानता सम्बन्ध औचित्यपूर्ण तथा व्यवस्था के प्रति निष्ठा बढ़ाने वाली राजनीतिक संस्कृति तथा भावनाओं बताया है। यही अर्थ लौकिकीकरण से लिया जाता है। केवल अन्तर है तो इतना ही समानता के पक्ष होते हैं। इस कारण यह व्यापक संदर्भ से सम्बन्धित है जबकि शायद लौकिकीकरण का सन्दर्भ इतना व्यापक नहीं है। किन्तु, यह भी ऊपर से देखने पर ही लगता है। लौकिकीकरण का अंतर्गत समानता का अर्थ सन्निहित है। किसी राजनीतिक समाज में लौकिकीकरण का सम्बन्ध लोगों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन आने से है। अभिवृत्तात्मक परिवर्तन समानता के साथ ही चलता है

बोध प्रश्न-2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. लूसियन पाई ने राजनीतिक विकास के क्या लक्षण बताये :-

उत्तर: ……..…….

……..…….

2. आमण्ड और पावेल ने राजनीतिक विकास के कौन से तीन लक्षण बताये हैं?

उत्तर: ……..……s…….

……..…….

3. एलफ्रेड डायमेंट ने राजनीतिक विकास की क्या परिभाषा है?

उत्तर: ……..…….

……..…….

7.5 राजनीतिक विकास के संकट

आमण्ड और पावेल के अनुसार राजनीतिक विकास को मुख्यत: चार समस्याओं का सामना करना पड़ता है (1) राज्य निर्माण की समस्या, (2) राष्ट्र निर्माण की समस्या, (3) सहभागिता की समस्या और (4) वितरण की समस्या।

लूसियन पाई ने राजनीतिक विकास की जिन समस्याओं की ओर इंगित किया है उन्हें वह उसके संकट कहता है। ये संकट मुख्यत: निम्न हैं :-

1. **पहचान का संकट -** यह राजनीतिक व्यवस्था के साथ लोगों की पहचान का संकट है। इसका अर्थ है कि लोगों को राष्ट्रीय क्षेत्र को अपनी मातृभूमि समझना चाहिए। उन्हें यह एहसास होना चाहिए कि उनकी अपनी पहचान आशिक रूप से देश की क्षेत्रीय सीमाओं की पहचान का ही एक हिस्सा या अंश है। पहचान का संकट तब उत्पन्न होता है जब परम्परागत राजनीतिक संस्कृति और आधुनिक संस्कृति में विरोध होता है।

2. **वैधता का संकट -** यह सत्ता की वैध प्रकृति और शासन के उचित उत्तरदायित्व में सहमति उत्पन्न करने का संकट है। यह केन्द्रीय और स्थानीय सत्ता के प्रतिमानों को निर्धारित करने, कार्यपालिका और नौकरशाही की सीमाओं को निर्धारित करने और स्वतन्त्रता के युग में औपनिवेशिक संरचनाओं को बनाये रखने का संकट है। यह संकट पिछड़े समाजों में अधिक पाया जाता है जहाँ धार्मिक मूल्य गहरे बैठे हुए हैं और लोग इस विचार से चिपके हुए हैं कि राजनीतिक संरचना धार्मिक उपदेशों के अनुरूप होनी चाहिए।

3. **अन्त: प्रवेश का संकट -** यह समाज के भीतर शासन की पहुँच और मूल नीतियों को प्रभावित करने का संकट है। इसका सम्बन्ध इस बात से है कि शासन को लोगों के कल्याण के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। संकट तब उत्पन्न होता है जब शासन के प्रयास "माँग विस्फोट" को पैदा करते हैं जिसका समाधान करने की स्थिति में वह नहीं होते।

4. **सहभागिता का संकट -** यह यथार्थ प्रजातान्त्रिक उद्देश्यों अथवा प्रदर्शन राजनीति में लोगों की सहभागिता में सुविधाओं का संकट है। इसका सम्बन्ध राजनीतिक पार्टियों व दबाव समूहों की स्वतन्त्रता से है। यह इस बात से सम्बन्धित है कि इन संगठनों या समूहों को कितनी स्वतन्त्रता दी जाये कि वे निर्णय निर्माण को प्रभावित कर सकें और उन पर कितनी सीमायें लगाई जायें कि वे निराश संगठन न बनें। यह संकट तब उत्पन्न होता है जब विस्तार की दर में अनिश्चितता आती है और नये सहभागियों की घुसपैठ विद्यमान संस्थाओं पर गम्भीर तनाव पैदा करती है।

5. **एकीकरण का संकट -** यह समग्र राजनीतिक व्यवस्था का संकट है। इसका सम्बन्ध अन्तःक्रियाओं या एकीकरण से है। यह पदाधिकारियों और शासन के अभिकरणों में अन्तःक्रियाओं का संकट है, यह विविध समूहों एवं हितों और व्यवस्था में अन्तःक्रियाओं का संकट है, यह पदाधिकारियों और मुखर नागरिकों में अन्त: क्रियाओं का संकट है।

6. **वितरण का संकट -** यह समस्त समाज में वस्तुओं, सेवाओं और मूल्यों के वितरण का संकट है। इस संकट का सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि शासन की शक्तियों का प्रयोग किरन प्रकार किया जाये कि वे समाज में वस्तुओं सेवाओं और मूल्यों के वितरण को प्रभावित कर सके। इसका सम्बन्ध धन के वितरण अथवा क्षतिग्रस्त समूहों के लिए सुविधाओं और सम्भावनाओं को सुदृढ़ करने से है।

7.6 राजनीतिक विकास के चरण

1. **आमण्ड** ने राजनीतिक विकास की चार अवस्थाएँ मानी हैं - (1) राज्य निर्माण का स्तर अर्थात् केन्द्रीय सत्ता का निर्माण तथा विभिन्न समूहों का केन्द्रीय सत्ता के अधिकार क्षेत्र में एकीकरण होना। (2) राष्ट्र-निर्माण का स्तर अर्थात् राष्ट्र के प्रति भक्ति व निष्ठा उत्पन्न होना। (3) सहभागिता का स्तर अर्थात् व्यक्ति एवं समूहों का राजनीतिक प्रक्रिया में व्यापक रूप से भागीदार होना। (4) वितरण का स्तर अर्थात् सामाजिक जीवन के लिए लाभों को पुन: निर्धारण की अनेक विधियों द्वारा सबकी

पहुँच में लाना सम्मिलित होता है। आमण्ड की मान्यता है कि जिन समाजों में राजनीतिक विकास का अंतिम स्तर आ गया है वे सब इसी अनुक्रम से एक स्तर के बाद दूसरे स्तर में पहुँचे हैं और विकासशील राज्यों में यही अनुक्रम रहना आवश्यक है।

2. **आरगेन्स्की** अनुसार राजनीतिक विकास के चार स्तर हैं -

(1) **राजनीतिक एकीकरण की राजनीति -** यह विकास का पहला चरण हैं। इस अवस्था में राष्ट्रीय सरकारें अपनी जनसंख्या पर राजनीतिक नियंत्रण स्थापित करती हैं। वस्तुत: यह चरण राज्य की सुस्थिरता का चरण हैं। राज्य के चारों तत्व-जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार और सम्प्रभुता- विद्यमान होते।

(2) **औद्योगीकरण की राजनीति -** राजनीतिक विकास का चरण औद्योगीकरण की प्रक्रियाओं तथा सामाजिक, राजनीतिक दृष्टि से ऐसे परिवर्तनों से संबंधित है जिसमें नये वर्ग निर्मित होते हैं, सहभागिता का विस्तार और अभिवृद्धि राष्ट्रीय एकीकरण होता है। इसके तीन मॉडल हैं - बुर्जुआ मॉडल, स्टालिन का मॉडल तथा समन्वयी मॉडल।

(3) **राष्ट्रीय लोक कल्याण की राजनीति -** इसमें जनता शोषण मुक्त रखा जाता है और पूँजी साधनों को व्यापक स्तर पर जनता में वितरित किया है।

(4) **समृद्धि की राजनीति -** समृद्धि की राजनीति का स्तर जो आजकल अमरीका, दक्षिण कोरिया आदि देशों में आने लगा है। यह स्तर वैज्ञानिक प्रविधियों अत्यधिक परिष्कृत उपकरणों से अत्यधिक उत्पादकता का है जिसमें हरेक के लिए वस्तुओं की सामान्य उपलब्धि रहती है। यह राजनीतिक विकास की सबसे जटिल अवस्था है।

3. **लूसियन डब्ल्यू.पाई के विचार -** लूसियन पाई ने अपनी " ऑरपेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल डेवलपमेंट में राजनीतिक विकास की अवस्थाओं को संकट को संज्ञा दी है। (इनका विस्तृत विवेचन राजनीतिक विकास के संकट शीर्षक के, किया जो_ चुका हे। अत: इनका अध्ययन उसी स्थान से कीजिए।)

4. **एडवर्ड शिल्स के विचार -** एडवर्ड शिल्स ने अपनी रचना " नये राज्यों में राजनीतिक विकास' ' में राजनीतिक विकास की जिन पाँच अवस्थाओं का वर्णन या है वे निम्न हैं-

(1) **राजनीतिक प्रजातन्त्र -** इसमें व्यवस्थापिका की स्थिति होती है। इसकी कुछ पूर्व शर्ते हैं जैसाकि स्थायित्व, शासक-अभिजन प्रयोग की व्यापक संरचनाये, प्रभावशाली, जनमत, नागरिक शासन की सर्वोच्चता, आदि।

(2) **संरक्षण अथवा निर्देशित प्रजातन्त्र -** इसमें राजनीतिक प्रजातन्त्र की सभी संस्थायें विद्यमान होती हैं परन्तु कार्यपालिका की स्थिति अन्य संस्थाओं की तुलना में सुदृढ़ या मजबूत होती हैं। वह प्रभावशाली होती है। इसमें कड़ा अनुशासन होता है अभिजन स्थायी, सम्बद्ध और प्रभावशाली होता है।

(3) **आधुनिक अल्पतन्त्र -** इसमें एक अत्यधिक अल्पतन्त्र वर्ग जीवन को शुद्ध करने और व्यवस्था को लाने की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर लेता है। इसमें

परम्परा और आधुनिकता में गहरा अन्तर होता है। इसमें शासन वर्ग एक बन्द और सुसंगति समूह होता है। इसमें राजनीतिक संस्थाओं की स्थिति एक परामर्शदाता की होती है। इसमें : सैनिकतन्त्र अथवा एक दलीय व्यवस्था होती है। इसमें सेवीवर्ग और गुप्तचर विभाग होते हैं। इसमें विरोधियों को देशद्रोहियों या शत्रु की संज्ञा दी जाती है।

(4) सर्वाधिकारवादी अल्पतन्त्र - इसमें प्रजातान्त्रिक भावनाओं ढोंग रचना जाता है जबकि वास्तविक शक्ति पूर्णाधिकार सम्पन्न अल्पतन्त्र में-साम्यवादी, या शिंटोवादी दल में-निहित होती हैं। यह प्राय: एक पुलिस राज्य होता है जो दमनात्मक उपायों व्यवस्था बनाये रखता है। यह मात्र एक सर्वाधिकारवादी निरंकुश शासन होता है।

(5) परम्परागत अल्पतन्त्र - यह वंश पर आधारित रूढ़िगत शासन होता है।

6. सैमुअल पी. हन्टिंगटन के विचार - हन्टिगटन ने राजनीतिक विकास सम्बन्धी अपने विचारों का विवेचन "राजनीतिक विकास और राजनीतिक हास" के शीर्षक के अन्तर्गत लिखे गये एक निबन्ध में किया है। निबन्ध के शीर्षक से स्पष्ट है कि हन्टिंगटन राजनीतिक विकास को एकमार्गीय प्रक्रिया नहीं मानता बल्कि उसका मानना है कि यह प्रक्रिया प्रतिवर्ती भी हो सकती हैं अर्थात् राजनीतिक विकास आगे की ओर बढने के स्थान पर वह पीछे पलट सकता है अर्थात् उसका हास भी हो सकता है। हन्टिंगटन के विवेचन की दूसरी विशेषता यह है कि वह राजनीतिक विकास के हास (पतन) को रोकने के लिए संस्थायीकरण पर जोर या सुझाव देता है।

हन्टिंगटन ने राजनीतिक विकास की तीन अवस्थाओं की चर्चा की है। ये निम्न हैं-

(1) **सत्ता की बुद्धिसंगतता अथवा केन्द्रीकरण -** इसमें राजनीतिक व्यवस्था में अनेक स्थानीय सत्ताओं के स्थान पर एक केन्द्रीय सत्ता की स्थापना की जाती है।

(2) **विभिन्नीकरण -** इसमें राजनीतिक कार्यो का विभिन्नीकरण किया जाता है और नये कार्यो के निष्पादन के लिए विशिष्ट संरचनाओं का निर्माण या विकास किया जाता है।

(3) **बढ़ती हुई सहभागिता -** इसमें समाज के समूह, उपसमूह एवं व्यक्ति सत्ता में सक्रिय भाग लेते हैं। यह समूहों और व्यक्तियों को सत्ता में भागीदार बनाने वाली अवस्था है।

राजनीतिक हास के कारण - हन्टिंगटन ने राजनीतिक विकास की अवस्थाओं का विवेचन करते हुए उनके क्रमबद्ध विकास पर अत्यधिक बल दिया है। अर्थात् पहले के बाद दूसरी ओर फिर तीसरी अवस्था का विकास होना चाहिए अन्यथा परिणाम विपरीत होने की सम्भावना है। यदि अवस्थायें एक दूसरे के ऊपर-नीचे अथवा एक साथ विकसित होती हैं तो विकास का हास होता है। हटिंगटन का मानना है कि तीसरी दुनिया के अनेक देशों में राजनीति के हास का यही मुख्य कारण है अर्थात् राजनीतिक विकल्प आगे बढने के स्थान पर उल्टा, पलटा या पीछे की ओर मुड़ा है। राजनीतिक विकास अवस्थायें अनुक्रम में प्रचलित नहीं हुई और अन्य अनेक तत्त्वों और चरों ने ऐसा होने नहीं दिया।

राजनीतिक विकास प्रक्रिया को हास (पतन) से रोकने के उपाय - हन्टिंगटन ने राजनीतिक विकास प्रक्रिया को हास से बचाने के लिए निम्न सुझाव दिये हैं -

संगठनात्मक प्रक्रिया को धीमा करना - इसका अर्थ है कि सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रक्रिया (गति) को धीमा कर दिया जाये। परिसर से केन्द्र की ओर आने की प्रक्रिया तभी हो जब व्यक्ति उसके साथ पूर्ण रूप से आत्मसात हो जाये।

संस्थाओं का निर्माण अर्थात् राजनीतिक विकास. की प्रक्रिया को संस्थाओं के निर्माण द्वारा किया जाये।

हन्टिंगटन ने कहा है कि सामाजिक निराशा और रिक्ति की स्थिति तभी पैदा होती है जब माँगों का अम्बार लग जाता है और पूर्ति का अभाव होता है। उसका यह भी कहना है कि व्यक्ति को सहभागिता का अवसर देकर विघटनात्मक दुष्परिणामों को रोका जा सकता है और यह कार्य संस्थानीकरण के बिना हो नहीं सकता।

7.7 राजनीतिक विकास के साधन

निम्न अभिकरण राजनीतिक विकास की प्रक्रिया में मुख्य रूप से भाग लेते हैं- (1) क्रान्तिकारी राजनीतिक नेता, (2) राजनीतिक दल, (3) सेना, (4) आधुनिक नौकरशाही का विकास, (5) राष्ट्रीय भावना का विकास, (6) लोकप्रिय राजनीतिक सहभागिता का विस्तार।

(1) **क्रान्तिकारी नेता :-** क्रान्तिकारी नेता किसी संकट की स्थिति में सत्ता में आते हैं लेकिन सत्ता में आते ही उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें विकास की दृढ़ तथा चिरस्थायी नीतियाँ तुरन्त लाग करने की आवश्यकता होती है, उन्हें सम्भवत: राष्ट्रीय एकता की स्थापना करने की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। क्रान्तिकारी नेताओं में कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है। यदि उनका व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावशाली है तो ये अवश्य ही सफल होगे। ऐसे नेताओं को मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। उन्हें परम्परा और नवीनता दोनों के प्रति सद्भावना बरतनी चाहिए।

(2) **राजनीतिक दल :-** राजनीतिक दल राजनीतिक विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करते हैं। राजनीतिक दलों के माध्यम से राजनीतिक नेतृत्व का विकास किया जाता है। राजनीतिक दलों का महत्व प्रजातांत्रिक व्यवस्था तथा व्यवस्था दोनों में ही स्वयंसिद्ध है। लोकतांत्रिक पद्धति में राजनीतिक दल मतदान विस्तार कर राजनीतिक सहभागिता के अवसर प्रदान करते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में भी साम्यवादी दल का प्रयोग जनता में साम्यवादी विचारों की प्रतिष्ठा तथा उन्हें साम्यवादी ०ऐं के अनुरूप संगठित करने के लिए किया जाता है।

(3) **सेना :-** जब विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक दल राजनीतिक विकास को नेतृत्व प्रदान करने में असफल होते हैं तो विकासशील देशों के सामने केवल एक विकल्प रह जाता है कि सेना समस्त शक्तियों को अपने हाथों में ले ले। सेना के हरत्तक्षेप राजनीतिक विकास की प्रक्रिया तेज हो जाती है। किसी भी राष्ट्र के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सेना समाज के सर्वाधिक आधुनिक तत्वों का प्रतिनिधित्व करती है। सेना का उद्देश्य

राजनीतिक तंत्र को अधिक कार्यकुशल तथा आधुनिक बनाना होता है। विकासशील देश के शासन को स्थायित्व प्रदान करने का कार्य सेना द्वारा किया जाता है।

(4) **आधुनिक नौकरशाही :-** आधुनिक नौकरशाही द्वारा ही राजनीतिक विकास में परिवर्तन की भूमिका अदा की जाती है। नौकरशाही शासन को स्थिरता प्रदान करती है परम्परागत समाज को आधुनिक परिवेश में लाने का प्रयत्न करती है और कुशल नीतियों के माध्यम से राजनीतिक विकास का पथ प्रषस्त करती है।

(5) **राष्ट्रीयता की भावना का विकास :-** राष्ट्रीयता की भावना के विकास और एक राष्ट्रीय राज्य के निर्माण से भी राजनीतिक विकास होता है।

(6) **राजनीतिक सहभागिता में वृद्धि :-** राजनीतिक सहभागिता में अभिवृद्धि से भी राजनीतिक विकास होता है। विकासशील देशों में जनसहभागिता पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। सहभागिता के आधार पर देश में नागरिकता की स्थिति का पता लगाया जाता है।

7.8 राजनीतिक विकास को अवधारणा का मूल्यांकन

राजनीतिक विकास अवधारणा के विपक्ष और पक्ष में दिये जाने तर्को को मुख्यत: निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है-

अ. **विपक्ष में तर्क -** इन्हें मुख्यत: निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है-

1. **सिद्धान्त निर्माण में कठिनाई -** समाजशास्त्रों में विशेषकर तुलनात्मक राजनीति में, सिद्धान्त निर्माण न केवल कठिन है बल्कि जटिल भी है। सिद्धान्त निर्माण की कठिनाई का मूल कारण यह है कि राजनीतिक व्यवस्था संरचना और प्रक्रिया दोनों में जटिल है और वे अन्य व्यवस्थाओं और तथ्यों से निरन्तर प्रभावित, नियमित और नियंत्रित होती रहती है।

2. **राजनीति की आत्मनिर्भरता को समाप्त करना -** राजनीति को दूसरे चरों पर इतना अधिक निर्भर बना दिया गया है कि वे इसके विकास की अवस्थाओं को निर्धारित करने लगे हैं कि यह जान पाना कठिन हो गया है कि किस चर का कितना वजन या प्रभाव है। कुछ चर तो आनुभविक परीक्षण में खरे नहीं उतरते। परिणामस्वरूप राजनीतिक चर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और भूमिका खो बैठा है। वह वस्तुओं को स्वतन्त्र रूप में आकार प्रदान करने की स्थिति में नहीं रहा।

3. **एक समान मॉडल का अभाव -** समग्र अनुसन्धान किसी ऐसे स्वीकृत मॉडल को पेश नहीं कर सका जिसे सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं (विकसित अथवा विकासशील, आधुनिक अथवा परम्परागत राजनीतिक व्यवस्थाओं) पर समान रूप से लागू किया जा सके। यह अनुसन्धान न उदारवादियों को सन्तुष्ट कर सका है, न मार्क्सवादियों को और न ही मिश्रित विचार रखने वालों को ही सन्तुष्ट कर सका है। वस्तुत: यह विकासशील राजनीतिक व्यवस्थाओं को सही प्रकार से नहीं समझ सका। परिणामस्वरूप राजनीतिक विकास सम्बन्धी सभी सिद्धान्त ध्वस्त पड़े हैं।

4. **स्थिरता का अभाव -** राजनीतिक विकास के कुछ प्रतिपादकों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि विकास आगे बढ़ने की अवस्था है जबकि हन्टिगटन और रिग्स जैसे लेखकों का मत है कि यह केवल आगे बढने की अवस्था नहीं, यह उलट भी सकती है अर्थात् इसका हास हो सकता है। उदाहरणत: एशिया, अफ्रीका और लातीन अमरीका के अनेक देशों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं के विकास के स्थान पर उनका हास हुआ है। अनेक देश प्रजातान्त्रिक व्यवस्थाओं को खर्चीला समझते हैं। इन देशों ने आधुनिक संरचनाओं के स्थान पर एकदलीय व्यवस्था और केन्द्रीकरण पर अधिक जोर दिया है।

ब. **पक्ष में तर्क -** उपर्युक्त कमजोरियों के बाद भी आमण्ड और पावेल जैसे विद्वानों ने राजनीतिक विकास अवधारणा की उपयोगिता की मुख्यतःनिम्न प्रकार से व्याख्या की है-

1. इसने राजनीतिक व्यवस्थाओं के विवेचन, तुलना, स्पष्टीकरण और उनके बारे में भविष्यवाणियाँ करने के आधार स्थापित करने में सहायता की है।
2. इसने राजनीतिक व्यवस्थाओं के राजनीतिक अतीत के आधार पर वर्गीकरण और तुलना को सम्भव बनाया है। इससे भविष्य में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान ढूंढने में सहायता मिल सकती है।
3. इसने राजनीतिक व्यवस्थाओं के अर्थपूर्ण मानदण्डों के आधार पर तुलना को सम्भव बनाया है।
4. इसने राजनीतिक व्यवस्था के सामान्यीकरण में सहायता दी है।
5. इसने व्यवहारवादी अध्ययन और क्षेत्रीय अध्ययनों में तालमेल बिठाने का प्रयास किया है। इससे एक-दूसरे के परिणाम स्पष्ट हो जाते हैं।
6. इसने तीसरे विश्व के देशों को राजनीतिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर बल देकर आनुभविक शोध के क्षेत्र को व्यापक बनाया है।
7. इसने पश्चिम के अंधानुकरण के स्थान पर विकासशील देशों को अपने मार्ग (मॉडल) अपनाने
8. की प्रेरणा दी है।
9. इसने भिन्न-भिन्न समाजशास्त्रों के विद्वानों को एक-दूसरे के निकट ला दिया है। इससे तुलनात्मक राजनीतिक का क्षेत्र व्यापक बना है और उसे नये आयाम, नये क्षेत्र, नयी प्रविधियाँ और परिप्रेक्ष्य प्राप्त हुए हैं।

7.9 सारांश

इस इकाई में आपने राजनीतिक विकास के विषय में व्यापक. प्राप्त की। आपको यह ज्ञात हुआ है कि 1960 के दशक में आमण्ड व कोलमेन की कृति पालिटिक्स ऑफ दी डेवलपिंग एरियाज ने राजनीतिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार की जबकि उसके लूसियन पाई ने इसकी सैद्धान्तिक निर्मितियों में महती भूमिका का सूत्रपात किया। पाई कृति आस्पेरक्टस ऑफ पोलिटिकल डेवलमेन्ट राजनीतिक विकास की प्रमुख संकल्पनाओं में विकास, औद्योगिक समाज की दिशा-दशाओं, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राष्ट्रवाद की, प्रशासनिक-वैधानिक क्षमता,

जनसंगठन व सहभागिता, प्रजातंत्र स्थायित्व के साथ सुव्यवस्थित सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन इत्यादि को सम्मिलित करते हुए उन्हें राजनीति विकास के कारक-रूपों में प्रस्तुत करती है। विशिष्टत: लूसियन पाई राजनीतिक विकास में समानता क्षमता था विभेदीकरण को तीन प्रमुख लक्षणों के रूप में स्वीकार करता है। आमण्ड व पॉवेल राजनीतिक की तीन विशेषताओं में भूमिका विभेदीकरण, उप-व्यवस्था की रचायत्तता तथा लौकिकीकरण को सम्मिलित करते हैं। उन्होंने राजनीतिक विकास के प्रमुख संकटों में पहचान के संकट, वैधता संकट, अन्त: प्रवेश के संकट, सहभागिता के संकट, एकीकरण के सकट तथा वितरण के संकट पर्याप्त स्थान दिया है। आपने सेमुअल हंटिंगटन की राजनीतिक विकास सम्बन्धी संकल्पनाओं भी इस इकाई में पर्याप्त परिचय प्राप्त किया। इस दौरान आपने हंटिंगटन की केन्द्रीकरण, व संवर्द्धित सहभागिता की अवधारणाओं व प्रक्रियाओं पर अपना ध्यान केन्द्रित।

अत में आपने राजनीतिक विकास के छ: अभिकरणों को समझते उसके मूल्यांकन-क्रम में यह जाना कि राजनीतिक विकास का सिद्धान्त-निर्माण दुकर है, कोई सर्वमान्य मॉडल उपलव्य नहीं है तथा उसकी अवधारणा में प्रक्रिया में स्थिरता है। फिर भी राजनीतिक विकास ने राजनीतिक विश्लेषण को पर्याप्त सम्पन्नता प्रदान की है। की पर्याप्त संभावनाओं से जुड़ कर राजनीतिक विकास ने अन्तर्विषयक सामग्री उपयोग से आनुभविक अध्ययन को परिपुष्ट किया है।

7.10 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न1 - राजनीतिक विकास को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषताओं बतलाइये।

प्रश्न2 - राजनीतिक विकास की अवस्थाओं का विवेचन कीजिए।

प्रश्न3 - लूसियन डब्ल्यू पाई ने राजनीतिक विकास अवधारणा का जो किया है उसका मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न4 - राजनीतिक विकास के समक्ष उपस्थित होने वाली प्रमुख संकटों का विवेचन कीजिए।

7.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. वास्बी, स्टीफेन एल.	पोलिटिकल साइन्स, दी डिसिप्लिन एण्ड इट्ज बाउन्डरीज साइंटिफिक बुक एजेन्सी, कलकत्ता, 1970
2. एस.पी.वर्मा	आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त, विकास पब्टिकेशन्स, नई दिल्ली, 1975
3. एच.ऐकरिटन एंड डेविड ऐप्टर	कम्पेरेटिव पॉलिटिक्स, ए.रीडर न्यूयार्क, 1963
4. सी.बी.गेना	तुलनात्मक राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1978

इकाई-8

राजनीतिक आधुनिकीकरण

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 आधुनिकीकरण की परिभाषा

8.3 राजनीतिक आधुनिकीकरण का अर्थ

8.4 राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषतायें

8.5 राजनीतिक आधुनिकीकरण के मॉडल

8.6 राजनीतिक आधुनिकीकरण के नियामक तत्व

8.7 राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन

8.8 राजनीतिक आधुनिकीकरण के पक्ष और विपक्ष में तर्क

8.9 सारांश

8.10 अभ्यास प्रश्न

8.11 संदर्भ ग्रन्थ सूजी

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे-

- राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषा
- राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषताएं
- राजनीतिक आधुनिकीकरण के मॉडल
- राजनीतिक आधुनिकीकरण के नियामक तत्व
- राजनीतिक विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण की परस्पर तुलना; तथा
- राजनीतिक आधुनिकीकरण के पक्ष और विपक्ष में तर्क

8. प्रस्तावना

राजनीतिक विकास, आधुनिकीकरण और राजनीतिक आधुनिकीकरण को सामान्य तथा एक ही अर्थ वाली शब्दावली मान लिया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि आधुनिकीकृत समाज में अनिवार्यत: राजनीतिक व्यवस्था का आधुनिकीकरण होगा और वह राजनीतिक दृष्टि से विकसित व्यवस्था होगी। अधिकांश पाश्चात्य राजनीतिशास्त्रियों ने भी राजनीतिक विकास का अर्थ राजनीतिक आधुनिकीकरण से लिया है। अत: राजनीतिक आधुनिकीकरण की विस्तृत व्याख्या करने से पूर्व आधुनिकीकरण को और उनमें पाये जाने वाले भेद को समझ लेना अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी होगा।

8.2 आधुनिकीकरण का अर्थ, परिभाषा एवं प्रकृति

आधुनिकीकरण परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। यह समाज को की ओर धकेलने वाली प्रक्रिया है। यह कोई स्थैतिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि निरन्तर चलती रहने प्रक्रिया है। यह कोई सरल अथवा एकपक्षीय प्रक्रिया नहीं; यह एक जटिल एवं बहुपक्षीय प्रक्रिया। यह वस्तुत: परिवर्तनों की समग्रता है।

लरनर ने अपनी पुस्तक " पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसाइटी" इसका अर्थ करते हुए केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझा है कि " आधुनिकीकरण विवेकपूर्ण की प्रक्रिया है।" अत: सामान्य अर्थो में आधुनिकीकरण के बारे में हंटिंग्टन का यह कहना ठीक लगता है कि यह " बहुपक्षीय प्रक्रिया है जिसमें मानव की गतिविधियों व विचारों के क्षेत्रों में परिवर्तन सम्मिलित रहता है।

इस प्रकार, आधुनिकीकरण का कोई एक पहलू नहीं होकर हंटिंग्टन की मान्यता के अनुसार अनेक पहलू हैं। इसको हम शहरीकरण, उद्योगीकरण,, शैक्षणिक और संचार सहभागिता इत्यादि में ही नहीं पाते हैं, अपितु इसको राष्ट्रीय अभिज्ञान,, एकीकरण आदि अनेक तत्वों से भी जोड़ सकते हैं। रॉबर्ट ई० वार्ड ने आधुनिकीकरण की। अधिक तर्कसंगत ढंग से दी है अत: हम इसे इसकी सही व्याख्या मानकर वर्तमान संदर्भ में पर्याप्त मानेंगे। वार्ड ने लिखा है, " आधुनिकीकरण, आधुनिक समाज की ओर ले जाने वाली ऐसी है जिसकी प्रमुख विशेषता इसके वातावरण की भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों को नियालेत और प्रभावित करने की अभूतपूर्व समर्थता है और जो मूल्य-व्यवस्था की दृष्टि से इस क्षमता की! वांछनीयता परिणामों के बारे में आशावादी है। "

8.3 राजनीतिक आधुनिकीकरण की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषा

जेम्स एस.कोलमैन के अनुसार, " राजनीतिक आधुनिकीकरण, समाजो की राजनीतिक व्यवस्थाओं में होने वाले संरचनात्मक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों का समूह है। इन परिवर्तनों का सम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित संस्थाओं, संरचनाओं, प्रक्रियाओं त व्यवहार प्रतिमानों से होता है। "

एक अन्य स्थान पर कोलमैन ने कहा है कि " राजनीतिक आधुनिकीक ऐसे संस्थागत ढाँचे का विकास है जो पर्याप्त लचीला और शक्तिशाली हो ताकि उसमें उठने - माँगों का मुकाबला किया जा सके।" संस्थागत ढांचा इतना लचीला अवश्य होना चाहिए कि मांग को प्रस्तुत करने का न केवल अवसर उपलब्ध हो बल्कि उसमें उचित मांग को स्वीकार करने हुये अनुचित मांग को ठुकराने की क्षमता भी हो।

क्लॉड ई.वेल्व जूनियर के अनुसार, " राजनीतिक आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग पर आधारित है और जिसका उद्देश्य आधुनिक समाज की स्थापना करना हो।"

बेन्जेमिन श्वार्टज के अनुसार, " राजनीतिक आधुनिकीकरण विविध मानवीय उद्देश्यों के लिए, मानव के भौतिक और सामाजिक पर्यावरण के विवेकपूर्ण नियन्त्रण के लिए मानवीय ऊर्जा का व्यवस्थित, सतत् और शक्तिशाली उपयोग है।" इस शब्द का प्रयोग राजनीतिक संस्कृति में

परिवर्तनों के लिए किया जाता है जो अपनी बारी में सामाजिक और भौतिक पर्यावरण में हुए परिवर्तनों के जवाब होते हैं। यह सब इस आवश्यक तत्व से सम्बन्धित होते हैं कि राजनीतिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक और आर्थिक कारकों के व्यापक प्रसंग से होता है।

हन्टिगटन के अनुसार, राजनीतिक आधुनिकीकरण एक ऐसी बहुपक्षीय प्रक्रिया है जिसमें मानवीय विचार और क्रियाओं के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन शामिल होते हैं।" राजनीतिक आधुनिकीकरण की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यह एक अत्यधिक व्यापक अवधारणा है। इसमें वह सब कुछ आ जाता है जो राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि क्षेत्रों के अन्तर्गत आता है।

8.4 राजनीतिक आधुनिकीकरण की विशेषताएं

राजनीतिक आधुनिकीकरण के लक्षणों के बारे में लेखकों में न तो एक मत पाया जाता है और न ही इसके लक्षणों की कोई एक सुनिश्चित सूत्री तैयार की जा सकती है। इसका कारण यह है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का एक हिस्सा होते हुए भी, स्वयं में एक व्यापक अवधारणा है। दूसरे, सकारात्मक राज्य के उदय और लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास ने राज्य या राजनीतिक व्यवस्था में सरकार के कार्यो का इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि मानव जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र या पहलू ही नहीं रहा जहां वह जुडा न हो।

राजनीतिक आधुनिकीकरण के लक्षणों को मुख्यत: निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है-

1. केन्द्र में शक्ति का केन्द्रण - जब राज्य या राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति का केन्द्रण होना शुरू हो जाता है, उसका महत्व बढने लगता है और वह समाज में विद्यमान अन्य शक्तियों, विशेषकर वश, धर्म, सम्पत्ति, रूढि आदि की परम्परागत शक्तियों की नियामक व संचालक बनने लग जाती हैं तो वह राजनीतिक आधुनिकीकरण का संकेत व निशानी होती है। राजनीतिक शक्ति के केन्द्रण का रूप केन्द्रीकृत अथवा विकेन्द्रीकृत कुछ भी हो सकता है। मूल बात यह है कि राजनीतिक शक्ति सर्वोपरि और नियामक हो और समाज उसे ऐसा स्वीकार करता हो। राजनीतिक शक्ति को सर्वोपरि बनाने, उसके महत्व को बढ़ाने व उसे नियामक बनाने में जिन तत्त्वों के विकास ने सहयोग दिया है, वे हैं तकनीकी प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यताये, प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकतायें, संचार साधनों का विकास, आदि।

2. लोक-कल्याणकारी कार्यो की ओर उन्मुख - राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक है कि राज्य या राजनीतिक व्यवस्था का समाज में प्रवेष या पहुँच अधिकाधिक हो। राज्य या राजनीतिक व्यवस्था केवल सुरक्षा या व्यवस्था अर्थात् नकारात्मक कार्यो तक सीमित नहीं होनी चाहिए बल्कि उसके कार्यो का विस्तार पोषण और विकास अर्थात् सकारात्मक कार्यो तक होना चाहिए। राजनीतिक व्यवस्था लोक-कल्याणकारी कार्यो में जितना लगी हुई होगी उतना ही वह राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रतीक या निशानी होगी। राज्य या राजनीतिक व्यवस्था का सामाजिक सुरक्षा व समाजोपयोगी सेवाओं में लीन होना ही राजनीतिक आधुनिकीकरण है।

आधुनिक राज्य या राजनीतिक व्यवस्थायें जनतन्त्र पर आधारित हैं और उनके लिए जन इच्छाओं, आकांक्षाओं और मांगों को पूरा करना आवश्यक है। जन संचार के साधनों के विकास ने जहां सरकार के लिए साधारण जन से सम्पर्क करना सम्भव बना दिया है वहां इन्हीं साधनों के माध्यम से जनसाधारण भी अपनी मांगों को सरकार तक पहुँचा सकते हैं। यह दोहरा आदान-प्रदान है जो राजनीतिक आधुनिकीकरण का लक्षण है। इस दोहरे आदान-प्रदान में नौकरशाही की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है और इस व्यवस्था में उसका अत्यधिक विस्तार होता है।

3. दोहरी प्रक्रिया - दोहरी प्रक्रिया राजनीतिक आधुनिकीकरण का मूल लक्षण ही नहीं, यह उसकी आवश्यकता है। यही वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से केन्द्र और परिसर में स्थित राजनीतिक शक्ति के विभिन्न केन्द्रों में आपस में अधिकाधिक अन्त: क्रिया होती है। इसी से सरकारें जनसम्पर्क में आती हैं और राजनीति में जनसाधारण की सहभागिता बढ़ती है। इसे ही सरकार और जनसाधारण के बीच सम्पर्कता कहा जाता है। व्यवहारवादी इसे आगत-निर्गत का नाम देते हैं। यही सरकार और समाज को एक-दूसरे के साथ जोड़ती है। इस जुड़ाव में राजनीतिक दलों, दबाव समूहों, नौकरशाही, निर्वाचन, संचार साधनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

4. परम्परागतता का लोप होना - यह राजनीतिक आधुनिकीकरण की सबसे महत्वपूर्ण एवं मूलभूत विशेषता है। इसके अभाव में राजनीतिक आधुनिकीकरण के अन्य लक्षण प्रभावहीन या महत्वहीन हो जाते हैं। परम्परागतता से मुक्ति का अर्थ है कि सत्ता के परम्परागत स्रोतों का, जैसाकि वंश परम्परा पर आधारित राजा-महाराजाओं की सत्ता का, जाति पर आधारित जातीय नेताओं की सत्ता का, कबीलावाद पर आधारित कबीले या परिवार के मुखिया को सत्ता का, धर्म पर आधारित धर्म गुरूओं की सत्ता का हास होकर लोप या नष्ट हो जाना और नवीन राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता द्वारा उनका स्थान ले लेना। परम्परागत सत्ताओं का विलोपन और नवीन राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता का स्थानापन्न राजनीतिक आधुनिकीकरण की निशानी है।

5. राजनीतिक संस्थाओं का विभेदीकरण एवं विशेषीकरण - आधुनिक राजनीतिक समाजों में सरकारों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में प्रवेश पा जाने से उनके कार्यो का क्षेत्र न केवल बहुत अधिक बढ़ गया है बल्कि वे विविध एवं विशिष्ट प्रकार के भी हो गये हैं। कार्यो की इस अनेकता, विविधता और विशेषीकरण के कारण ही संस्थागत व्यवस्थाओं का विभेदीकरण करना एवं कार्यात्मक कुशलता के लिए उनका विशेषीकरण करना आवश्यक हो गया है। राजनीतिक आधुनिकीकरण की ये दोनों आवश्यकतायें हैं।

6. राजनीति में जनसाधारण की बढ़ी हुई सहभागिता - यह राजनीतिक आधुनिकीकरण की पूर्व शर्त है। इसके अभाव में राजनीति में की निष्क्रियता या उदासीनता से अन्य विकास निरर्थक हो जाते हैं। राजनीति में की सक्रिय एवं उत्तरदायित्वपूर्ण सहभागिता से ही राजनीतिक व्यवस्था के लाभ समाज सभी वर्गो तक पहुँच सकते हैं अन्यथा वे इनसे वंचित रह जायेंगे और समाज के ऊपर के तबके के लोग ही उन लाभों को झपट लेंगे। अधिकांश

विकासशील देशों में वस्तुत: यही हो रहा है। इन व्यवस्थाओं में संस्थागत व्यवस्थाओं और प्रक्रियात्मक विकास के कारण जनसाधारण को राजनीति। में सहभागी बनने का अवसर तो मिल गया है परन्तु राजनीति के प्रति जनसाधारण की निष्क्रियता उदासीनता के कारण उसके लाभ समाज के सभी वर्गो तक नहीं पहुँच पाये। सामान्य निर्वाचनों में लोग मताधिकार का प्रयोग नहीं करते। इन व्यवस्थाओं में राष्ट्र के प्रति निष्ठा या राष्ट्रीय विचार का प्राय: अभाव रहा है। इन व्यवस्थाओं में राजनीतिक अस्थिरता का एक मूल कारण यही है। इन व्यवस्थाओं में जनसाधारण की अभिवृत्तियों में परिवर्तन आने पर ही और व्यापक या दृष्टिकोण अपनाने पर ही राजनीतिक आधुनिकीकरण के निकट आ सकती है।

7. व्यापक आधार वाली नौकरशाही - राजनीतिक आधुनिकीकरण के लिए केवल इतना होना ही पर्याप्त नहीं कि सरकार के बढ़ते हुए कार्यो के निष्पादन के नौकरशाही का वृहद् आकार हो, उसके लिए यह भी आवश्यक है कि नौकरशाही की भर्ती का भी वृहद् अर्थात् व्यापक हो। दूसरे शब्दों में, सेवाओं में भर्ती के लिए न केवल प्रक्रियात्मक व्यवस्थायें हों बल्कि पदाधिकारियों एवं प्रशासकों को वास्तव में समाज के सभी वर्गो से लिया जाए। ये पद समाज के ऊपर के तबकों तक सीमित नहीं रहने चाहिए बल्कि इनकी भर्ती समाज के साधारण और मध्यम वर्गो से भी होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही आधुनिक राजनीतिक समाज राजनीतिक आधुनिकीकरण के निकट होंगे।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. राजनीतिक आधुनिकीकरण की तीन विशेषतायें बताइये।

उत्तर: ... ...

... ...

2. राजनीतिक आधुनिकीकरण से क्या तात्पर्य है?

उत्तर: ... ...

... ...

8.5 राजनीतिक आधुनिकीकरण के मॉडल

राजनीतिक आधुनिकीकरण के मॉडल का अभिप्राय इस बात से है कि क्या राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक दृष्टि से आधुनिकीकरण का कोई ऐसा मॉडल है जो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में एक जैसा लाग हो या जिसे लाग किया जा सके। वर्तमान में इस सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण का न कोई सुनिश्चित अथवा सर्वव्यापी मॉडल है और न कोई अनुक्रम मॉडल तैयार किया जा सकता है। वस्तुत : राजनीतिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक आधुनिकीकरण के उतने ही मॉडल हैं जितनी कि राजनीतिक व्यवस्थायें हैं। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में अनोखी और विचित्र है और वह स्वयं में अपना अलग मॉडल प्रस्तुत करती है।

राजनीतिक आधुनिकीकरण के सर्वव्यापी एवं अनुक्रम मॉडल में आने वाली उपर्युक्त कठिनाइयों के बावजूद एडवर्ड ए. शिल्स ने अपने लेख "पोलिटिकल मॉडर्नाइजेशन" में पाँच मॉडलों का वर्णन किया है। उनका मानना है कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं को राजनीतिक आधुनिकीकरण की निरन्तर रेखा पर कहीं न कहीं अंकित किया जा सकता है। शिल्स द्वारा वर्णित पाँच मॉडल निम्न प्रकार से हैं-

1. राजनीतिक लोकतन्त्र - शिल्स इसे राजनीतिक व्यवस्था का श्रेष्ठतम रूप मानता है। उसके अनुसार "यह प्रतिनिधिपूर्ण संस्थाओं और सार्वजनिक स्वतन्त्रताओं के बीच असैनिक शासन है।" ब्रिटेन और अमरीका इसके उदाहरण हैं। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं-

(i) इसमें व्यवस्थापिका राजनीतिक व्यवस्था की केन्द्र- बिन्दु होती है, इसमें व्यवस्थापिका का गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है, व्यवस्थापिका अपनी पहल पर अथवा सम्प्रभु मतदाताओं की पहल पर अथवा सदन की समितियों की पहल पर कानून का निर्माण करती है। व्यवस्थापिका मन्त्रियों के आचरण की आलोचना करके, बजट प्रस्तावों में कटौती करके अथवा प्रशासकों के कार्यो की संवीक्षा करके सरकार पर नियन्त्रण रखती है।

(ii) इसमें राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था के अभिन्न अंग होते हैं। वे सरकार का निर्माण करते हैं और निर्वाचनों में विजय प्राप्त कर उनमें किए गए वायदों को पूरा करने के लिए अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को आग करते हैं।

(iii) इसमें देश के मूल कानून के अधीन सत्ता का उपयोग अपेक्षाकृत कम और निश्चित काल तक ही किया जा सकता है।

(iv) इसमें सत्ता के दुरूपयोग पर प्रभावी नियन्त्रण के लिए न केवल विमत की व्यवस्था होती है अपितु विपक्ष की व्यवस्था होती है। आलोचना स्वस्थ और लोकहित में हो।

(v) इसमें न्यायपालिका को स्वतन्त्र और निष्पक्ष बनाये रखा जाता है।

(vi) इसमें लोग लोकतान्त्रिक आत्म-नियन्त्रण का प्रयोग करते हैं और सरकार को सुधारने अथवा बदलने के लिए संवैधानिक साधनों का प्रयोग करते हैं।

(vii) इसमें लोगों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी सरकार पर विश्वास करे।

(viii) इसमें लोगों द्वारा चुने गए प्रशासकों के निर्णयों को करने के लिए एक प्रशिक्षित और संगठित नौकरशाही होती है।

(ix) इसमें कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए पुलिस और सशस्त्र सेनाओं की व्यवस्था होती है।

(x) इसमें लोग लोकतान्त्रिक व्यवस्था के मानकों और मूल्यों प्रति वचनबद्ध होते हैं। इसका अर्थ है कि चुनाव में अनुचित, भ्रष्ट एवं बहुबली साधनों का प्रयोग किया जाए और चुनाव में पराजित होने पर सत्ता का स्वेच्छा से परित्याग कर दिया जाए अर्थात् सत्ता से चिपके रहने की प्रवृत्ति का त्याग किया जाए।

2. संरक्षक लोकतन्त्र - यह दूसरे नम्बर की श्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था है। यह ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जो लोकतन्त्र के मानकों और मूल्यों का अनुपालन के लिए वचनबद्ध है। इस तरह यह उन लोगों के तरीकों का अनुसरण करने का प्रयास -ऐ है जहाँ राजनीतिक

लोकतन्त्र है। यह, जैसाकि डेविस और लेविस ने अपनी रचना "मॉडल्स पोलिटिकल सिस्टम" में बताया "वचनबद्ध लोकतन्त्रवादियों की ऐसी परिस्थितियों के प्रति व्यवहारिक जवाब है जो प्रभावकारी ढंग से लोकतान्त्रिक संस्थाओं को चलाने में सक्षम नहीं।" इरा मुख्य विशेषतायें निम्न हैं।

(i) इसमें कार्यपालिका शक्ति का वास्तविक केन्द्र होती है और वह व्यवस्थापिका की तुलना में अधिक शक्तिशाली होती है। केन्द्र में इसकी सत्ता को एक शक्तिशाली व्यक्तित्व अथवा समूह द्वारा बनाये रखा जाना है और वह पार्टी और सरकार पर नियन्त्रण रखता है।

(ii) इसमें व्यवस्थापिका कार्यपालिका के दृढ़ नियन्त्रण व पर्यवेक्षण में कार्य करती है। इसमें व्यवस्थापिका की भूमिका सीमित होती है।

(iii) इसमें विरोध के माध्यमों की व्यवस्था होती है यद्यपि राजनीतिक संचार के सभी साधनों पर कार्यपालिका का सुदृढ़ नियन्त्रण रहता है।

(iv) इसमें एक सक्षम और निष्ठावान नौकरशाही होती है प्रस्तावित नीतियों की निष्पक्ष और औपचारिक आलोचना करने में सक्षम होती है।

(v) इसमें विधि के शासन और नागरिक स्वतन्त्रताओं को हर कीमत पर बनाये रखा जाता है।

3. आधुनिकीकरणशील अल्पतन्त्र - इसमें राजनीतिक व्यवस्था परम्परागत अल्पतन्त्र से अधिक परन्तु राजनीतिक लोकतन्त्र से कम होती है। इसमें राजनीतिक व्यवस्था की बागडोर या तो असैनिकों के हाथ में हो सकती है जो सशस्त्र सेनाओं पर नियन्त्रण रखते हैं अथवा चह उच्चतर सैनिक अधिकारियों में हो सकती है जो असैनिक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं ताकि सत्तावादी शासन को औचित्य प्राप्त हो सके। इस राजनीतिक व्यवस्था की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं-

(i) इसमें संसद एक दिखावटी संस्था मात्र होती है और उसका कार्य प्रशासकों के निर्णयों का अनुसमर्थन करना होता है। इसे सार्थक विधायी सत्ता से वंचित रखा जाता है।

(ii) इसमें विपक्ष को गैर-कानूनी घोषित कर दिया जाता है, इसमें स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव नहीं कराये जाते, इसमें राजनीतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है और संचार के सभी साधनों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है।

(iii) इसमें नौकरशाही की स्थिति अत्यधिक मजबूत हो जाती है क्योंकि प्रशासक उसके समर्थन पर निर्भर करते हैं और उसे नियन्त्रित करने के लिए कोई लोकतान्त्रिक माध्यम नहीं होते।

(iv) इसमें विधि के शासन को लागू करने के लिए एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय का अभाव होता है।

4. सर्वाधिकारवादी अल्पतन्त्र - इसमें इटली में फासीवादी और जर्मनी में नाजीवादी जैसी सर्वशक्तिशाली दक्षिणपंथी सरकार लोकसत्ता में होती है। इसमें शासन विशेष विचारधारा के प्रति वचनबद्ध होता है। इसकी मुख्य विशेषतायें निम्न हैं-

(i) इसमें सत्ता का विकेन्द्रीकरण वर्ग जाति या अन्य विशेषता पर आधारित सत्तारूढ गुट के हाथों में होता है।

(ii) इसमें एक अत्यधिक अनुशासनबद्ध और सुसंगठित सम्प्रांत वर्ग होता है जिसके सदस्य पार्टी संस्था के माध्यम से विचारधारा की दृष्टि से एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं।

(iii) इसमें विधि के शासन, स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय और कानूनी तौर पर संगठित विपक्ष का कोई स्थान नहीं होता।

(iv) इसमें लोकतन्त्र के सभी उपकरण-सार्वभौम वयस्क मताधिकार, नियतकालिक चुनाव, द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका आदि-विद्यमान होते हैं परन्तु उनका उपयोग प्रचार के उद्देश्यों के लिए होता है।

(v) इसमें सरकारी विचारधारा का समर्थन करने के लिए एक बौद्धिक वर्ग का निर्माण किया जाता है जो देश में सतही सर्वसम्मति का वातावरण तैयार करता है।

5. परम्परागत अल्पतन्त्र - इसमें राजनीतिक व्यवस्था परम्परागत धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध एक शक्तिशाली वंशानुगत संविधान पर आधारित होती है। इसमें शासक रक्त सम्बन्धों से अथवा उस पर आधारित अनेक के मेल-मिलाप से उभर कर सामने आते हैं। इसमें शासक के सलाहकार और विश्वासपात्र शासक के अनुचर हो जाते हैं जिन्हें शासक रक्त सम्बन्धों अथवा अपनी पसन्द के आधार पर चुनता है। इसकी मुख्य विशेषतायें निम्न हैं-

(i) इसमें राजनीतिक सत्ता का उपयोग शासक और उसके द्वारा चुने गए परामर्शदाताओं के द्वारा किया जाता है।

(ii) इसमें राज्य की गतिविधियों का क्षेत्र अत्यधिक सीमित होता है। अत: इसमें कुशल नौकरशाही की आवश्यकता महसूस नहीं की जाती।

(iii) इसमें शासक अपने शासन को बनाये रखने के लिए एक छोटी और कुशल सशस्त्र सेना और पुलिस की व्यवस्था करता है।

(iv) इसमें सामन्तवादी व्यवस्था होती है। इसमें स्थानीय प्रादेशिक स्तरों पर नियन्त्रण के लिए रक्त सम्बन्धों के आधार पर छोटे-छोटे शासकों की जमात होती हैं।

(v) इसमें विपक्ष विद्यमान नहीं होता। इसमें जनमत की रचना नहीं की जाती। इसमें शासक समुदाय की परम्परागत संस्कृति की रक्षा के नाम पर अपने शासन के औचित्य का दावा करता है।

शिल्स द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक आधुनिकीकरण के उपर्युक्त मॉडल आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की कोई स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुए इस पर भी उनके द्वारा प्रस्तुत मॉडलों से प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में, चाहे वह पश्चिम के राजनीतिक लोकतन्त्र से सम्बन्ध रखती हो अथवा विकासशील देशों के राजनीतिक लोकतन्त्र से ना छ उन्हें किसी अन्य नाम से पुकारा जाए सम्भ्रान्त वर्ग की भूमिका की स्पष्ट झलक मिलती है और शिल्स के द्वारा प्रस्तुत मॉडल उसी के महत्व पर प्रकाश डालते हैं।

8.6 राजनीतिक आधुनिकीकरण के नियामक तत्व

राजनीतिक आधुनिकीकरण के लक्षणों की भांति राजनीतिक आधुनिक को प्रभावित करने वाले तत्त्वों की कोई सुनिश्चित सूची तैयार करना सम्भव नहीं हैं। लेखको ने राजनीतिक

आधुनिकीकरण को प्रभावित करने वाले जिन तत्वों की ओर संकेत किया उन्हें मुख्यत: निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अभिव्यक्त किया जा सकता है-

1. परम्परागतता - हन्टिगटन का कहना है कि "राजनीतिक आधुनिकीकरण परम्परागतता से मुक्ति है।" इसका अर्थ है कि एक राजनीतिक व्यवस्था की संरचनाये जितनी मात्रा में परम्परा से मुक्ति होगी उतनी मात्रा में वह राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक आधुनिकीकरण के निकट होगी। दूसरे ओर, राजनीतिक व्यवस्था की सरंचनायें जितनी मात्रा में परस्पर में जकडी हुई होगी जैसाकि नेपाल और भूटान में, उतनी मात्रा में वह राजनीतिक आधुनिकीकरण में बाधक होगी और राजनीतिक आधुनिकीकरण का विकास अत्यधिक धीमी गति से होगा।

2. संस्कृति - संस्कृति अथवा राजनीतिक संस्कृति स्वयं में जबरदस्त शक्ति होती है। राजनीतिक आधुनिकीकरण उसके प्रभाव से अछूता नहीं रह। यदि समाज की संस्कृति किसी परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती तो वह राजनीतिक में बाधक बन जाती है। उदाहरणत: स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक नेतृत्व के लिए भारत में संविधान द्वारा आधुनिक राजनीतिक संरचनाओं को स्थापित करना सरल था क्योंकि नेतृत्व के प्रति जनसाधारण की निष्ठा अद्य थी, परन्तु जब उसी नेतृत्व ने हिन्दू कोड बिल के माध्यम से समाज में परिवर्तन करने की कोशिश की तो भारतीय संस्कृति आड़े आ गई और नेतृत्व को उसे वत्स लेना पडा। अत: राजनीतिक संस्कृति की प्रकृति भी राजनीतिक आधुनिकीकरण में सहायक या बन सकती है।

समय विशेष - समय की प्रकृति दुधारी होती है, विशेषकर परिवर्तनों में उसका विशेष महत्व होता है। वह सहायक और बाधक दोनों हो सकता है। यदि को इतिहास की धारा के विपरीत लाने का प्रयास किया जाता है तो प्राय: विफलता हाथ है और परिवर्तन धराशायी हो जाते हैं। दूसरे ओर, यदि परिवर्तन का इतिहास की धारा के अनुकूल लाने का प्रयास किया जाता है तो परिवर्तन लाना न केवल सरल होता है बल्कि वे : ही होने लगते हैं। उदाहरण के लिए भारत के संविधान में किया गया 42वां संशोधन जिससे अनेक मौलिक और क्रान्तिकारी परिवर्तन संविधान में किये गए हैं, अगर 1976 के स्थान पर 1956 में किया गया होता तो इसे भारत का शायद कोई भी नागरिक स्वीकार नहीं करता।

4. सरकार की रूचि - अगर आधुनिकीकरण के अभिकरणों लें तो सरकार की भूमिका सर्वाधिक महत्व रखती है। अत: देश के नेता किस प्रकार विचार रखते हैं यह तथ्य आधुनिकीकरण में बहुत महत्व रखने लग जाते हैं। राजनीतिक नेतृत्व का अभिमुखीकरण आधुनिकता का है तो वे राजनीतिक व्यवस्थाओं को आधुनिक बनाने के लिए शक्ति का प्रयोग तक कर सकते हैं। अफ्रीका व एशिया में अनेक नेताओं ने ऐसा ही किया है। वर्तमान समय में भारत की भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी भी राजनीतिक आधुनिकीकरण की संरचनात्मक व्यवस्थाओं को समय की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के प्रयत्न में थी। बांग्लादेश के भूतपूर्व राष्ट्रपति शेख मुजीबुर्रहमान ने संविधान में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके संसदीय प्रणाली के स्थान पर अध्यक्षात्मक प्रणाली और अन्य दलों पर प्रतिबंध भी शायद आधुनिकीकरण की क्रियाओं में तेजी लाने के लिए ही लगाया था। पाकिस्तान में मोहम्मद

अयूबखाँ ने सैनिक शक्ति के आधार पर सत्ता सँभालकर राजनीतिक आधुनिकीकरण का जबर्दस्त प्रयत्न किया था। उन्होंने 1962 में नया संविधान लागू किया तथा चुनाव तक कराये जिससे राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं में तेजी आ सके।

दूसरी तरफ, ऐसा नेतृत्व भी हो सकता है जिसका दृष्टिकोण आधुनिकता विरोधी हो। अफ्रीका में ही नहीं लेटिन अमरीका और एशिया में अनेक राज्य ऐसे हैं जहाँ नेता ही राजनीतिक आधुनिकीकरण को अवरोधित कर रहे हैं। अनेक तानाशाह आर्थिक क्षेत्रों में प्रगति लाकर राजनीतिक आधुनिकीकरण के सब प्रयत्नों को बलपूर्वक दबा रहे हैं, जिससे उनकी सत्ता को चुनौती नहीं मिले। राजनीतिक आधुनिकीकरण में ही ऐसी प्रवृत्तियाँ निहित हैं जो तानाशाही व्यवस्था के प्रतिकूल जाती हैं। यही कारण है कि तानाशाहों को भी सत्ता का वैधीकरण करने के लिए और जनता को सहभागी बनाने का दिखावा करने के लिए चुनावों का सहारा लेना पडता है। अत: निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि राजनीतिक नेतृत्व की प्रकृति और आधुनिकीकरण के प्रति उनका रवैया राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं को सक्रिय बनाने वाला भी हो सकता है और उनमें शिथिलता लाने के लिए भी कार्य कर सकता है।

5. राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति - राजनीतिक आधुनिकीकरण में राजनीतिक व्यवस्था की निर्णायक भूमिका होती है। वह राजनीतिक आधुनिकीकरण में शिथिलता और तीव्रता कुछ भी ला सकती है। उदाहरणत: यदि राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति लोकतान्त्रिक और उत्तरदायित्वपूर्ण है और उसमें सरकार और समाज के बीच निरन्तर अन्तक्रिया होती रहती है तो राजनीतिक आधुनिकीकरण न केवल सरल होगा बल्कि उसे प्रोत्साहन भी मिलेगा। दूसरी ओर, यदि राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति निरंकुश, तानाशाही और सर्वाधिकारवादी है तो सरकार और समाज में सक्रिय अन्तक्रिया के अभाव में, राजनीतिक आधुनिकीकरण में कठिनाई होगी।

8.7 राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन

राजनीतिक विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण में कुछ समानतायें और कुछ असमानतायें पाई जाती हैं। इन्हें मुख्यत: निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है-

(अ) समानतायें - राजनीतिक विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण दोनों आधुनिक अवधारणायें हैं। दोनों का सम्बन्ध विकास की प्रक्रिया से है। दोनों के लक्षणों में मौलिक अन्तर नहीं। दोनों गतिशील अवधारणायें हैं। दोनों का तुलनात्मक राजनीतिक विश्लेषणों में प्रयोग उपयोगी निष्कर्षी तक पहुँचने में सहायक सिद्ध हुआ है। दोनों का प्रयोग विकासशील (नवोदित अथवा तीसरी दुनिया के) राष्ट्रों के तुलनात्मक अध्ययनों में अधिक किया गया है आदि। दोनों अवधारणाओं में समानताओं के कारण ही कुछ विद्वान राजनीतिक विकास, आधुनिकीकरण और राजनीतिक आधुनिकीकरण को समानार्थक समझते हैं।

(ब) असमानतायें या अन्तर - राजनीतिक विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण में समानताओं के बावजूद कुछ विद्वान ऐसे हैं, जैसा कि हन्टिंगटन, जाग्वाराइव आईजेन्सटाड, लूसियन पाई आदि, जो राजनीतिक विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण में असर करते हैं

और उन्हें असमान अवधारणायें समझते हैं। हन्टिंगटन को तो राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण से अलग करने का श्रेय प्राप्त है। वह राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण के समान विकास प्रक्रिया नहीं मानता। उसका कहना है कि " राजनीतिक विकास राजनीतिक संगठनों और प्रक्रियाओं का संस्थाकरण है। उसका यह भी कहमा है कि " अच्छी तरह संस्थाकृत राजनीतिक व्यवस्था में अधिक अनुकूलता, जटिलता, स्वायत्तता और क्रमिकता आ जाती है।" जाग्वाराइब राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण की। अवधारणा से अधिक व्यापक और सर्वग्राही अवधारणा मानता है। उसका कहना है कि " राजनीतिक विकास राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक संस्थापन का जोड़ है।" लूसियन पाई ने राजनीतिक विकास के जो तीन लक्षण बतायें हैं-समानता, क्षमता और विभिन्नीकरण- वे उसे आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक अवधारणा बनाते हैं।

दूसरी ओर आधुनिक विद्वानों में कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो विकास को एक स्थैतिक और सीमित अवधारणा मानते हैं। उनका कहना है कि विकास का सम्बन्ध मुख्यत: संरचनाओं के संस्थाकरण से है जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण सम्बन्नध सांस्कृतिक परिवर्तनों से है। इस दृष्टिकोण से राजनीतिक विकास का सम्बन्ध से अधिक है जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण का सम्बन्ध वास्तविकताओं से है।

एक उदाहरण लेकर इन दोनों के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट जा सकता है। राजनीतिक आधुनिकीकरण, आधुनिकीकरण रूपी नदी में एक लकड़ी के समान है। यह लकड़ी का लट्ठा नदी के पानी के बहाव के साथ हो, पानी की गति से ही ही बहता है। इसकी गति को पानी के बहाव की गति से कम या अधिक नहीं किया जा सकता है ना ही इसके बहाव को उलटा जा सकता है। इस लट्ठे का नदी के पानी के साथ, उसी के गति बहना बराबर चलता रहता है। ठीक यही बात राजनीतिक आधुनिकीकरण के बारे में सही है। यहौ आधुनिकीकरण की समग्र प्रक्रिया के साथ न केवल आबद्ध रहता है वरन् उनके साथ-साथ चलता रहता है।

राजनीतिक विकास में स्थिति इससे भिन्न होती है। यह विकास रूपी की धारा में रखी नाव की तरह है। इस नाव की गति को बढ़ाया व घटाया जा सकता है। इसे की धारा से उलटी दिशा में भी ले जाया जा सकता है। यहाँ नाव की गति या उनके चलने दिशा नदी के पानी के बहाव से बहुत कुछ भिन्न की जा सकती है। यह सब नाव को चलाने वालों की सामर्थ्य या इसमें लगे ईंजन की अश्व शक्ति पर निर्भर करता है। इस तरह राजनीतिक विकास, विकास, की सामान्य प्रक्रिया से स्वायत: होता है जबकि राजनीतिक आधुनिकीकरण की धारा के साथ-साथ ही, आगे पीछे नहीं, प्रवाहित होता है।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. एडवर्ड.ए.शिल्स ने राजनीतिक आधुनिकीकरण के कौन से पाँच मांडलों का वर्णन किया है?

उत्तर: ... ...

... ...

2. राजनीतिक आधुनिकीकरण का दृष्टिकोण प्रतिपादित करने वाले दो प्रमुख विद्वानों के नाम बताइये?

उत्तर: ... ...
... ...

8.8 राजनीतिक आधुनिकीकरण के पक्ष - विपक्ष में तर्क

अ. पक्ष में तर्क

1. इसने आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत और व्यापक कर दिया। राजनीतिक विकास उपागम राजनीतिक संरचनाओं के अधिकाधिक विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण पर बल देता है। अनेक राजनीतिशास्त्री यह महसूस करने लगे कि केवल संरचनाओं पर बल देने से राजनीतिक व्यवस्थाओं की गत्यात्मक शक्तियों को समझने में सहायक अनेक तत्व छूट जाते हैं अत: कुछ विचारक यह मानने लगे कि राजनीतिक व्यवस्थाओं को विकास के परिप्रेक्ष्य में देखने की बजाय आधुनिकीकरण के एक पक्ष के रूप में देखने से राजनीतिक प्रक्रियाओं की वास्तविकताओं की तह तक पहुँचना सम्भव होगा।

2. इसने आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं के वर्गीकरण एवं उनके अध्ययन के लिए नये उपकरण उपलव्य कराये हैं! इस उपागम में राजनीतिक व्यवस्थाओं की क्षमता को मापने के लिए आधुनिकीकरण के प्रवर्गो का प्रयोग किया जाता है। आधुनिकीकरण के विभिन्न पहलुओं-शहरीकरण, उद्योगीकरण, लौकिकीकरण लोकतन्त्रीकरण शैक्षणिकता और सहभागिता में आने वाले परिवर्तनों का राजनीतिक व्यवस्था पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। अत: राजनीतिक विकास अपने आप में स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं है। इसलिए इसको समझने के लिए व्यापक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है। आधुनिकीकरण का परिप्रेक्ष्य इसी प्रकार की व्यापकता रखता है। अत: तुलनात्मक विश्लेषणों में इनका उपयोग अधिक गहराई तक ले जाने में सहायक समझा गया है।

3. राजनीतिक आधुनिकीकरण समाज की वैज्ञानिक और आर्थिक अवधारणा है। इसने राजनीतिक विज्ञान की समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के साथ अत्यधिक निकटता को दर्शाया है 1 इसने इस बात पर बल दिया है कि राजनीति के विद्यार्थी को अपने सहयोगी विषयों से, जिनसे वह पर्याप्त और उपयोगी सामग्री (जानकारी) प्राप्त करता है, अलग नहीं रहना चाहिए।

इस उपागम के आधार पर राजनीतिक आधुनिकीकरण की समस्याओं राष्ट्रीय अभिज्ञान, सत्ता, वैधता, प्रवेशन, सहभागिता, एकीकरण, वितरण, शिक्षण और संचालन को समझना भी सरल हो जाता है। हर समस्या की जड़ में अनेक तथ्य और शक्तियाँ कार्यरत रहती हैं। अगर समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में समझना है तो उसका व्यापक संदर्भ लेना अनिवार्य है। राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक व्यवस्था की समस्याओं को ऐसे ही आधुनिकीकरण के वृहत्तर संदर्भ में समझने का प्रयास होने के कारण, अत्यधिक उपयोगी दृष्टिकोण बन गया है।

ब. विपक्ष में तर्क

राजनीतिक आधुनिकीकरण के विपक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं, वे मुख्यत: निम्न हैं। ये तर्क ही राजनीतिक आधुनिकीकरण की सीमाओं को प्रकट करते हैं-

1. **पराश्रित परिवर्त्य -** राजनीतिक आधुनिकीकरण ने राजनीतिक विज्ञान के स्वतन्त्र स्वरूप को नष्ट कर दिया है। इसने राजनीतिक विज्ञान को अन्य सामाजिक शक्तियों, जैसाकि आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि शक्तियों पर " आश्रित" या उनकी " दासी" या " उपकरण" बना दिया है। इसने राजनीति को अन्य विषयों के समुद्र में डुबो दिया है। इसने डेविड ईस्टन, डेविड एप्टर और एडवर्ड ए. शिल्स जैसे राजनीतिक वैज्ञानिकों को टैल्कोट, पार्सन्स, राबर्ट के. मर्टन जैसे समाजशास्त्रियों के अनुचर बनाकर रख दिया है।
2. **लक्षणों के मापन की समस्या -** राजनीतिक आधुनिकीकाण के लक्षणों के बारे में ही इसके समर्थकों में एकमत नहीं पाया जाता और यदि उनमें इसके ल पर सहमति हो भी जाए तो उनके मापन की समस्या उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणत: अभिज्ञान, सत्ता की बुद्धिसंगतता, सहभागिता और संस्थाओं के विभेदीकरण एवं विशेषीकरण को किन मापदण्डों के आधार पर आका जाए। पश्चिम के विकसित राज्यों के मापदण्डों को लेने पर भी निष्कर्ष निकाल पाना कठिन है। सहभागिता के लक्षण में तो अनेक भिन्नतायें पायी जाती हैं। जिन मन्तव्यों को, जैसाकि लोकतन्त्र, स्थायित्व, संरचनात्मक विभेदीकरण, उपलव्यि, प्रतिमान राष्ट्रीय एकीकरण आदि को राजनीतिक आधुनिकीकरण के साथ जोड़ा जाता है उन्हें विकासशील राज्यों में व्यावहारिक बनाना एक टेढ़ी खीर है। कैसे और किस मापदण्ड के आधार पर आँका जाप' पश्चिम के विकसित राज्यों के मापदण्ड अनेक मौलिक व्यवस्थायी भिन्नताओं के बावजूद अपना लिए जाएँ तो भी इससे निष्कर्ष नहीं निकलते हैं। सहभागिता का ही उदाहरण लें तो अमरीका में शत प्रतिशत किसी भी राष्ट्रीय स्तर के निर्वाचन से आठ तक नहीं पहुँच पाता है जबकि श्रीलंका आठवें आम चुनाव में मत प्रतिशत 858 था। इसी तरह, राजनीतिक आधुनिकीकरण से जोड़े वाले अनेक गन्तव्यों लोकतंत्र, स्थायित्व, संरचनात्मक विभिन्नीकरण उपलब्धि प्रतिमान, राष्ट्रीय को विकासशील समाजों में तो शायद ही कभी व्यावहारिक बनते देखा जा सकेगा। तब यह उठता है कि तुलना किस आधार पर केन्द्रित की जाए और उस आधार पर ही क्यों केन्द्रित जाए? यह ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना वर्तमान ज्ञान की अवस्था में तो कठिन ही लगता है

अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि राजनीतिक आधुनिकीकरण के आधार पर किए जाने वाले राजनीतिक विश्लेषण और तुलनाएँ उन्हीं सामान्य सीमाओं में जकड़ी लगती हैं जिनमें अन्य उपागमों को भी बन्धित पाया गया है। फिर भी इसकी यह विलक्षणता है यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के संदर्भ में राजनीतिक आधुनिकीकरण का आधार राजनीतिक व्यवस्थाओं की क्षमताओं के सम्बन्ध में उपयोगी सामान्यीकरण तक ले जाने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है।

8.9 सारांश

आधुनिकीकरण का तात्पर्य एक विवेकपूर्ण परिवर्तन से है। इसमें, औद्योगिकीकरण, संचार सहभागिता आदि कई तत्वों का समावेश होता है। साथ ही, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा संसाधनों के विवेकपूर्ण उपयोग पर भी बल दिया जाता.। परम्परा, संस्कृति सामयिक संदर्भ, राजनीतिक -अवस्था की प्रकृति आदि राजनीतिक के नियामक तत्व होते है। राजनीतिक आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा एक तरफ का लोप होता है, तो दूसरी तरफ राजनीतिक व्यवस्था लोककल्याणकारी कार्यो की उन्मुख होती है। राजनीतिक आधुनिकीकरण के उपागम के द्वारा राजनीति विज्ञान का दायरा होता है, किन्तु साथ ही राजनीतिक आधुनिकीकरण के लक्षणों के बारे में एकमतता नहीं होने कारण उनके मापन की समस्या उत्पन्न होती है।

8.10 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न1 - राजनीतिक आधुनिकीकरण को परिभाषित कीजिए। आधुनिकीकरण को प्रभावित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न2 - राजनीतिक विकास और राजनीतिक आधुनिकीकरण की समानताओं और असमानताओं का वर्णन कीजिए।

8.11 संदर्भ ग्रन्ध सूची

1. एप्टर, डेविड – दि पॉलिटिक्स ऑफ मोडर्नाइजेशन फ्री प्रेस, न्यूयॉर्क, 1965
2. एप्टर, डेविड – इंट्रोडक्शन टु पोलिटिकल एनालिसिस, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली 1978
3. एस.पी.वर्मा – मॉडर्न पोलिटिकल थ्योरी, विकास, नई दिल्ली, 1975
4. सी.बी.गेना – तुलनात्मक राजनीति विकास, नई दिल्ली, 1978

इकाई-9

लोकतंत्र एवं अधिनायकतंत्र

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 लोकतंत्र का अर्थ

9.3 मुख्य विशेषतायें

9.4 प्रकार

9.4.1 प्रत्यक्ष

9.4.2 अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक

9.5 गुण एवं दोष

9.5.1 गुण

9.5.2 दोष

9.6 लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक परिस्थितियाँ

9.7 अधिनायकतंत्र का अर्थ

9.8 मुख्य विशेषतायें

9.9 प्रकार

9.9.1 प्राचीन

9.9.2 नवीन

9.10 गुण एवं दोष

9.10.1 गुण

9.10.2 दोष

9.11 लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र में अन्तर

9.12 सारांश

9.13 शब्दावली

9.14 अभ्यास प्रश्न

9.15 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे कि:-

- शासन व जीवन प्रणाली के रूप में लोकतंत्र।
- लोकतंत्र का अर्थ एवं विशेषताएं
- अधिनायकतंत्र का अर्थ एवं विशेषताएं; तथा
- लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र का मूल्यांकन

9.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग लोकतंत्र का युग हैं। विश्व की सभी सरकारें अपने को लोकतांत्रिक कहलाना ही पंसद करती हैं, चाहे वे स्वरूप में अधिनायकीय साम्यवादी हो या स्वेच्छातंत्रवादी। वर्तमान में शासन के एक स्वरूप की दृष्टि से यह विश्वव्यापी हो चुका है। प्लेटो से लेकर आज तक राजनीति शास्त्र में लोकतंत्र चर्चित विषय रहा है। सामान्यतया लोकतंत्र बहुमत का शासन हैं। ऐसी सरकार या शासन करने की प्रणाली जिसमें बहुसंख्यक जनता की भागीदारी है। इसे बहुमत शासन प्रणाली भी कहा जाता है।

प्राचीन यूनान में प्लेटो ने इसे बहुमत के शासन होने के कारण अज्ञानियों द्वारा शासन कार्य करने पर आपत्ति थी। इसी प्रकार बाद में अरस्तु की लोकतंत्र के विरूद्ध यह आपत्ति थी कि लोकतंत्र में गरीब और सभी प्रकार के नागरिक भाग लेते है, इसलिये यह अच्छी शासन प्रणाली नही हो सकती है। किन्तु बाद की शताब्दियों में यह विचार धीरे-धीरे लोकप्रिय होने लगा कि शासन वही अच्छा है जिसमें बहुसंख्यक जनता की भागीदारी या सहमति हो।

लोकतंत्र के विपरीत अधिनायकतंत्र भी ऐसे शासन का एक रूप है जिसमें शासन का संचालन किसी एक व्यक्ति या संस्था द्वारा किया जाता है। इस प्रकार का शासन अपने उपर किसी नियम, संविधान या समाज का कोई बंधन स्वीकार नही करता हैं। ऐसे शासन में नेता या नेतृत्व की आज्ञात ही कानून होती है, सम्पूर्ण व्यवस्था उसी नेतृत्व की सत्ता को ही स्वीकार करने को मजबूर रहती हैं। इसमें बल शक्ति का प्रयोग अधिक मात्रा में होता है। इटली, जर्मनी तथा पूर्व सोवियत संघ में प्रथम महायुद्ध के बाद स्थापित शासन का स्वरूप इसी प्रकार का था।

9.2 लोकतंत्र का अर्थ

लोकतंत्र से आशय जनता का शासन जिसमें नागरिकों की सहभागिता होती है। पारपंरिक रूप से अब्राहम लिंकन के अनुसार शासन का वह स्वरूप जो जनता द्वारा, जनता के लिये संचालित होता है, लोकतंत्र कहलाता है। लोकतंत्र का अर्थ साधारणतया दो तरह से जाना जा सकता हैं, एक सीमित दूसरा व्यापक। सीमित अर्थ में लोकतंत्र को शासन या सरकार का एक रूप माना जाता है। प्राचीनकाल से लेकर आज तक बहुत से विचारको ने इसी को लोकतंत्र माना हैं। प्लेटो, अरस्तु सिसरो, सर हेनरीमेन लावेल तथा लिंकन आदि ने इसे शासन का एक प्रकार माना हैं। व्यापक अर्थ लोकतंत्र शासन का एक रूप ही नहीं वरन यह राज्य तथा समाज का रूप भी हैं। गिंडिग्स के अनुसार लोकतंत्र केवल शासन का ही एक स्वरूप नहीं हैं, वरन् यह राज्य या समाज व्यवस्था का अथवा तीनों का मिश्रण हैं।

लोकतंत्र का वास्तविक स्वरूप इससे भी अधिक व्यापक हैं। यह केवल सरकार, राज्य तथा समाज के आदर्श स्वरूप का ही द्योतक नही अपितु यह एक जीवन पद्धति भी है। लोकतंत्र को समझने कि लिये उसके विभिन्न स्वरूपों को जानना आवश्यक है- लोकतंत्र

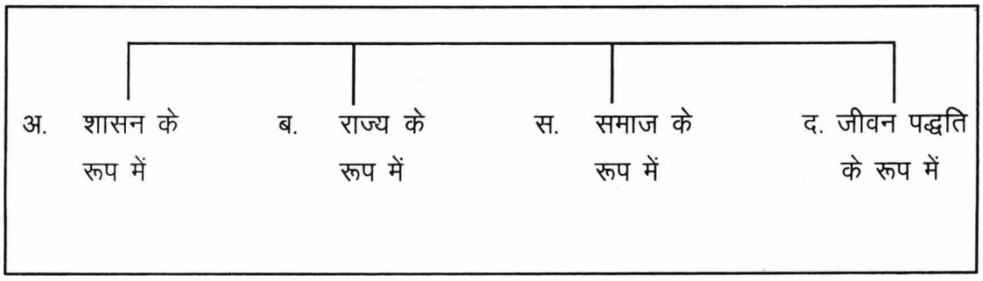

अ. शासन के रूप में- लोकतंत्र का अंग्रेजी शब्द Democracy ग्रीक भाषा के दो शब्दों डेमोस' (Demos) और क्रेशिया (Kratia) से मिल कर बना है जिनका अभिप्राय क्रमश: जनता और शक्ति होता है। इस प्रकार शाब्दिक उत्पति के अनुसार लोकतंत्र का जनता की शक्ति या शासन से हैं। **सीले** के अनुसार लोकतंत्र वह शासन प्रणाली है जिसमें प्रतेक व्यक्ति का भाग होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकतंत्र ऐसी शासन व्यवस्था है जिसमें जनता द्वारा सरकार की स्थापना की जाती है, वह सरकार को संचालित करती है तथा उसकी इच्छापर्यन्त ही वह सरकार अपने पद पर आसीन रह सकती हैं।

ब. राज्य के रूप में- लोकतंत्रात्मक शासन की अनिवार्यता यह भी है कि राज्य का स्वरूप भी लोकतांत्रिक होना चाहिये। लोकतांत्रिक राज्य से अभिप्राय हैं ऐसा राज्य जिसकी सम्प्रभुता जनता में निहित हो अर्थात् राज्य की इच्छा जनता ही इच्छा हो। राज्य के लिये अन्तिम निर्णय की शक्ति जनता को प्राप्त हो।

स. समाज के रूप में- लोकतंत्र एक सरकार और राज्य का विशिष्ट रूप होने के साथ-साथ विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था भी है। एक ऐसा समाज बिसमें सब व्यक्ति बराबर समझे जाते हो तथा उनमें नस्ल, रंग, धर्म, जाति, लिंग या सम्पति के आधार पर कोई भेदभाव नही किया जाता हो। सभी व्यक्ति समान अधिकारों और अवसरों का उपभोग कश्ते हो। प्रो. आर्शीवादम् के अनुसार एक लोकतंत्रिय समाज वह है जिसमें समानता और भ्रातृत्व की1 भावना पायी जाती हैं।

द. जीवन पद्धति के रूप में- लोकतंत्र शासन, राज्य समाज व आर्थिक व्यवस्था का ही एक प्रकार नहीं है, अपितु यह तो जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण भी हैं।, इसके अन्तर्गत मनुष्य का स्वभाव तथा व्यवहार लोकतंत्रवादी होना चाहिये अर्थात् 'सबके हृदय में क्षमा, सेवा, समन्वयता, सहिष्णुता, परोपकार, समझौते की प्रवृत्ति, विरोधी दृष्टिकोण के प्रति आदर १? मानवीय व्यक्तित्व के प्रति सम्मान की भावना आदि भाव भी विद्यमान हो।

9.3 लोकतत्र की विशेषतायें

लोकतंत्र को भली-भांति समझने के लिये के लिये इस प्रणाली की मुख्य विशेषताओं को जानना होगा। लोकतंत्र की निम्न विशेषतायें है-

अ. मानवीय गरिमा और व्यक्तित्व में विश्वास

ब. स्वतंत्रता और समानता में विश्वास

स. संविधानवाद और कानून के शासन में विश्वास

द. लोकप्रिय जनसम्प्रभुता में विश्वास

य. शक्तियों के विकेन्द्रीकरण में विश्वास

र. शातिंपूर्ण और नियतकालिक सत्ता परिवर्तन में विश्वास

इन मूलभूत तथा अनन्य लक्षणों से ही किसी देश को लोकतांत्रिक जा सकता हैं। इनमें से किसी एक लक्षण या विशेषता की अनुपस्थिति में लोकतंत्र साकार नहीं जा सकता हैं।

9.4 लोकतंत्र के प्रकार व रूप

लोकतंत्र के दो मुख्य प्रकार प्रचलित रहे हैं। ये निम्नानुसार है-

9.4.1 प्रत्यक्ष लोकतंत्र

9.4.2 अप्रत्यक्ष लोकतंत्र

9.4.1 प्रत्यक्ष लोकतंत्र

प्रो. हर्नशा. " शुद्ध रूप से लोकतंत्रात्मक शासन वह शासन होता है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना अपने प्रतिनिधियों के शासन सत्ता का प्रयोग करती हे।"

प्रत्यक्ष लोकतंत्र शासन करने की वह प्रणाली है जिसमें प्रभुसत्तावान जनता शासन के कार्यो में स्वयं भाग लेती हैं। प्राचीन ऐथेंस और स्पार्टा जैसे ग्रीक नगर राज्यों एवं कुछ सीमा तक आधुनिक स्विट्जरलैण्ड के केण्टनों में भी यह प्रणाली कार्य करती हैं। इस प्रणाली में जनता अपनी सत्ता को प्रतिनिधियों को नहीं सौंपती वरन् स्वयं सभा के रूप में एकत्र होकर सार्वजनिक मामलो पर विचार-विमर्श कर, कानून के मसौदे बना कर, नीति निर्धारण कर प्रयोग करती हैं। कतिपय अन्य आधुनिक राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र के कुछ तरीके जैसे लोक निर्णय, उपक्रम एवं प्रत्यावर्तन आदि प्रचलित है।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्रणाली छोटे और कम जनसंख्या वाले राज्यों में ही संभव है। आज के विशाल राजनीतिक प्रणाली वाले राज्यों के लिये व्यावहारिक नहीं हैं।

9.4.2. अप्रत्यक्ष लोकतंत्र या प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र

मिल के अनुसार, " अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र वह होता है जिसमें सम्पूर्ण जनता या उसका बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का प्रयोग अपने द्वारा समय-समय पर चुने हुये प्रतिनिधियों द्वारा करती है।"

इस प्रकार की शासन प्रणाली में जनता अपनी सम्प्रभु शासन शक्ति का प्रयोग अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है। इसमें शासन की शक्ति का प्रयोग करने के लिये जनता द्वारा नियत कालिक अन्तराल पर निश्चित अवधि के लिये अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती हैं। ऐसा इसलिये किया जाता है कि आधुनिक विशाल राज्यों में सभी नागरिकों का एक स्थान पर एकत्र होना, सभी के द्वारा कानून निर्माण तथा नीति निर्धारण में भाग लेना व्यावहारिक रूप से संभव नहीं है। अत: जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन कार्य में अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है।

वर्तमान में विश्व के बहुसंख्यक राज्यों में अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र का ही प्रचलन हैं।

इसके अलावा लोकतंत्र के कतिपय रूप भी प्रचलित है। जिन्हें लोकतंत्र को ठीक ढंग से समझने के लिये जानना आवश्यक हो जाता हैं। ये निम्न प्रकार से है-

अ. लोकतंत्र का शास्त्रीय रूप (Clasical democracy) - लोकतंत्र का यह रूप यूनानी नगर राज्यों 'पोलिस' (*Polis*) पर आधारित है। यह प्रत्यक्ष लोकतंत्र का ही एक रूप है जो प्राचीन ऐथेंस के नागरिकों के द्वारा शासन कार्य संचालन हेतु अपनायी जाती थी। इसमें सभी नागरिकों की सत्ता में भागीदारी होती थी। शासन के इस स्वरूप को बाद में रूसो और मार्क्स के विचारों ने पुष्ट किया। इस प्रकार की शासन प्रणाली में सभी निर्णय एक सभा, जिसमें सभी नागरिक सदस्य होगें, एक्लेशिया (Ecclesia) द्वारा लिये जाते हैं। किन्तु इस प्रणाली की प्लेटो जैसे विचारको ने आलोचना की थी, वे इसे सभी ज्ञानी और अज्ञानी नागरिकों में भेद नहीं करने वाली शासन प्रणाली कहा। इसके अलावा लोकतंत्र के शास्त्रीय रूप की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इसमें भाग लेने वाले नागरिकों की संख्या नगण्य होती है, उसमें गुलाम व स्त्रियाँ शामिल नहीं की जाती थी। किन्तु फिर भी आज न्यू इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के शहरी कमेटी तथा कतिपय स्विस केन्टन्स में यह प्रचलन में हैं।

ब. लोकतंत्र का संरक्षित रूप (Protective democracy) - मध्यकाल में जब सभी ओर नवजागरण का दौर चल रहा था। तब लोकतंत्र का नया विचार जे ने प्रस्तुत किया जो बाद में लोकतंत्रात्मक शासन प्रणालियों का एक प्रमुख आधार बन। वह आधार था प्राकृतिक अधिकारों का। इसका अभिप्राय था शासन में जनता की सहमति हो तथा (शासन जनता के प्रति अपने कुछ उत्तरदायत्वों को निभाये। यही कालांतर में इंग्लैण्ड में 'प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं' के आन्दोलन के रूप में लोकप्रिय हुआ था। इसी प्रकार का योगदान जेरमी बेन्थम और जेम्स मिल ने राज्य के उपयोगितावादी स्वरूप को प्रस्तुत कर दिया। कुल मिला कर। सोलहवीं से अठारहवीं सदी तक यूरोप में लोकतंत्र के संरक्षित और सीमित स्वरूप पर बल दिये जाने का विचार लोकप्रिय हुआ।

स. लोकतंत्र का विकासशील रूप (Devlopmental democracy) - यह लोकतंत्र का उदारवादी स्वरूप हैं। वर्तमान विश्व के अधिसंख्यक देश लोकतंत्र बे इसी स्वरूप में विश्वास रखते है। इस विचार को जीन जैक्स रूसो तथा जॉन स्टुअर्ट मिल ने किया। लोकतंत्र का विकासवादी रूप का तात्पर्य है कि जनता का उसकी राजनीतिक स से न केवल स्वयं का बल्कि सामुदायिक रूप से सभी का भी विकास हो सकता है। इस प्रकार। के लोकतंत्र में शासन की शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होता है, जिससे जनता अधिक स्वतंत्रता और विकास के अवसरों को प्राप्त कर सकती हैं। कालांतर में इसी विचार पर संसदीय लोकतंत्र के रूप में समस्त विश्व ने अपनाया है।

द. लोकतंत्र का जनवादी रूप (People's democracy) - दुसरे विश्वयुद्ध के बाद से एक नये दूसरे विश्व का अस्तित्व प्रकट हुआ। यह विश्व था साम्यवादी सोवियत संघ, चीन और उसके अनुगामी साम्यवादी देशों का समूह। इन देशों में लोकतंत्र का जो स्वरूप लोकप्रिय ढंग से अपनाया जाने लगा, उसे जनवादी लोकतंत्र कहा गया। जनवादी लोकतंत्र द्वारा पारम्परिक

संसदीय लोकतंत्र को सामाजिक समानता में बाधा बताया गया तथा उसे लोकतंत्र के मार्ग में एक पूंजीवादी चरित्र की संस्था के रूप में अस्वीकार किया गया। लोकतंत्र इस स्वरूप में साम्यवादी दल ही सब कुछ होता हैं, जिसे मार्क्स और लेनिन के दर्शन के अनुसार राज्य को निर्देशित करना है, उसका शासन संचालन करना, ताकि पूंजीवादी तत्व सामाजिक लोकतंत्र का मार्ग अवरूद्ध नहीं कर सकें। यह प्रकार की तानाशाही शासन प्रणाली का रूप हैं।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. लोकतंत्र का अर्थ बताइये।

उत्तर: ……..

……..

2. लोकतंत्र के प्रकार बताइये।

उत्तर: ……..

……..

9.5 गुण एवं दोष

लोकतंत्र के पक्ष और विपक्ष का विवाद उतना ही प्राचीन है जितना लोकतंत्र हैं। यह विचार प्रारम्भ से ही प्रशंसा व निन्दा का पात्र रहा हैं। **प्लेटो, अरस्तु** को शासन का विकृत रूप कहा हैं। **टेरीलैण्ड** इसे बुरे लोगों का कुलीन तंत्र कहते है, तो **कार्याइल** इसे बेवकूफ का शासन मानते हैं। इसी प्रकार कई विद्वान लोकतंत्र को व्यक्तिगत स्वतंत्रता का शत्रु तथा साहित्य, कला और विज्ञान का विरोधी शासन प्रणाली मानते हैं। दूसरी ओर कई अन्य विद्वानों ने लोकतंत्र के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत किये है और लोकतंत्र को समस्त राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्षों के उद्धारकर्ता की संज्ञा दी हैं। **बेन्थम** इसे शासन प्रणालियों के सर्वोत्तम स्वरूप की संज्ञा देते हैं। **मिल** के विचार में उत्तम शासन व जनता के चरित्र निर्माण की दृष्टि से लोकतंत्र ही सर्वश्रेष्ठ है। **जार्ज वोलनक्राफ्ट** लोकतंत्र को एक पवित्र ईश्वरीय कृति कहते है। कुल मिला कर लोकतंत्र के गुण एवं दोषों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है-

9.5.1 लोकतंत्र के गुण

अ. जनमत पर आधारित- लोकतंत्र वस्तुत: जनता का शासन है। उस के निर्माण से लेकर शासन की समस्त प्रक्रियाओं पर जनता का नियत्रंण रहता हैं। इससे शासक वर्ग सदैव जनता के हित में ही प्रशासन करेंगे। इसके अतिरिक्त सत्ताधारी वर्ग का सदैव यह प्रयास रहेगा रहेगा कि जनमत का उसे समर्थन मिलता रहे, इसलिये जनता के प्रति वह हमेशा संवेदनशील रहेंगे। हॉकिंग ने लोकतंत्र की तुलना ऐसे तंत्रिकातंत्र से की है जिसकी तंत्रिकायें प्रत्येक व्यक्ति के साथ जुड़ी हैं।

ब. राजनीतिक शिक्षण के लिये उपयुक्त- लोकतंत्र सार्वजनिक शिक्षण का एक महत्वपूर्ण साधन है। शासन में जनता की भागीदारी अपने-आप में जिम्मेदारी सीखाती है। जनता अपने

उत्तरदायित्व और कर्तव्यों को समझने लगती है और सार्वजनिक हित को ध्यान में रखते हुये अपने अधिकारों का प्रयोग करना सीखती हैं। बर्न्स के अनुसार सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं, परन्तु स्वशिक्षा सबसे अच्छी शिक्षा होती है। इसलिये स्वशासन सबसे अच्छा शासन होता हैं जो कि लोकतंत्र ही हैं।

स. अहिंसक सत्ता परिवर्तन- लोकतंत्र देश को क्रान्तियों से, हिंसक परिवर्तनों से सुरक्षा प्रदान करता है। चूंकि लोकतंत्र में शासन जनता की इच्छा के अनुसार ही होता है, अत: शासक वर्ग कभी भी उसके प्रतिकूल आचरण नहीं कर सकता है, यदि शासक वर्ग ऐसा करता है तो जनता उसे अपने मत द्वारा पदच्युत कर सकती है। कुल मिलाकर लोकतंत्र में क्रान्तियों की स्थितियाँ पैदा ही नहीं होती है। गार्नर के शब्दों में लोकतंत्र शासितों की सहमति और समानता पर आधारित होने से प्राय: क्रान्तियों से मुक्ता रहते है।

द. नैतिक मूल्यों पर आधारित- लोकतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा समानता के आदर्शो पर आधारित शासन व्यवस्था हैं। इसके अन्तर्गत जाति, धर्म, वर्ण, लिंग आदि के आधारों पर किस के बीच भी विभेद नहीं किया जाता है। सभी को शासन में समान भागीदारी प्राप्त होती है लोककल्याण को न्याय, समता और बुद्धिवाद द्वारा सुनिश्चित किया जाता हैं। अत: लोकतंत्र उच्च मानवीय नैतिक मूल्यों पर आधारित शासन प्रणाली है।

य. कल्याणकारी शासन- लोकतंत्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें शासन सत्ता का प्रयोग आवश्यक रूप से लोककल्याण के लिये ही किया जाता है। लोकतंत्र में सम्प्रभुता अन्तत् जनता में निहित होती है, अत: इसमें जनता के सामान्य हितों का पूरा ध्यान रखा जाता है। लोकतंत्र में शासक वर्ग जनता के प्रति उत्तरदायी होतें है अत: उन्हें जनता की इच्छाओं तथा हितों के प्रति सदैव सजग रहना पड़ता है और उनके अनुरूप ही कार्य करना पड़ता है। इससे आम नागरिक क कल्याण अवश्य ही संभव होता है।

9.5.2 लोकतंत्र के दोष

अ. अयोग्य और अज्ञानियों का शासन- लोकतंत्र पर यह आरोप प्राचीन काल से लगता रहा है कि यह शासन जैसे गढ़ और महत्वपूर्ण कार्य में अशिक्षितों तथा मूर्खो को बराबर की भागीदारी देता है, अत: यह मूर्खो का शासन है। लेकी के अनुसार, लोकतंत्र शासन व्यवस्था है जिसका संचालन सबसे अधिक दरिद्र और सबसे अधिक अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। यही तक कि प्लेटो ने लोकतात्रिक राज्य को अज्ञानता का राज्य कहा हैं। लोकतंत्र में चूकी जनसाधारण की शासन संचालन में प्रमुख भूमिका हो सकती है, जो कि प्राय: अशिक्षित और गैर जिम्मेदार होता है, उसका मत लोकतंत्र को भीड़तंत्र में बदल देता है।

ब. बहुमत का अत्याचार- लोकतंत्र वस्तुत: बहुमत का शासन है, किन्तु कई बार बहुमत अल्पमत पर अत्याचार करने लगता है। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता को क्षति पहुंचती है। ऐसी शासन प्रणाली में 51 फीसदी लोग 49 फीसदी लोगों की स्वतंत्रता का अपहरण कर करते हैं। कई बार इस प्रकार की शासन व्यवस्था में बहुत कम समर्थन और मतों के बल पर ही शासन सत्ता को लोग प्राप्त कर लेते है। इससे जनता के हितों को सदैव गम्भीर खतरा रहता है।

स. अकुशल और अपव्ययी शासन प्रणाली- लोकतंत्र पर यह लगाया जाता है कि इसमें चूंकि शासन जनता के अनुसार करना होता है, सदैव उनके समर्थन ध्यान रखना पड़ता है, इसलिये कई शासकों द्वारा कठोर निर्णय से बचा जाता है। इसी प्रकार शासन प्रणाली में जनसाधारण के भाग लेने के लिये निर्वाचन की एक लम्बी और खर्चीली प्रक्रिया अनुसरण करना पड़ता है, जो आर्थिक दृष्टि से उपयुक्ता नहीं कही जा सकती है।

द. दलीय प्रतिस्पर्धा और भष्ट्राचार को बढ़ावा- लोकतंत्र में के मतों को अपने पक्ष में करने के लिये राजनीतिक दलों द्वारा निरन्तर ऐसे प्रयास किये जाते है, जनता उन्हें मत देकर शासन सौंप दे। इस प्रक्रिया में प्राय: यह देखा जाता है कि के चलते जनता का समर्थन पाने के लिये राजनीतिक दलों द्वारा अनैतिक और भष्ट्र आचरण भी अपनाया जाता रहा है। कई बार तो लगता है कि दलीय प्रणाली लोकतंत्र के लिये एक ___ के समान है। राजनीतिक दलों के कारण जनता को पारस्परिक गुटबन्दी और भ्रष्टाचार जैसी समस्यायें सामना करनी पड़ती है।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद भी लोकतंत्र के महत्व को आज समस्त स्वीकार करता है एक शासन प्रणाली के रूप में ही नहीं वरन् एक जीवन पद्धति के रूप में भी। यहाँ तक कि विश्व की साम्यवादी और सैन्य तंत्र वाली व्यवस्थाओं द्वारा भी स्वयं को लोकतांत्रिक कहलाना पसन्द करती है। इस प्रणाली के कतिपय दोषों को दूर किया जा सकता है। हरमन के मत में यद्यपि लोकतंत्र में कुछ दोष अवश्य विद्यमान है भी उसने मानव समाज को, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कुछ विलक्षण उपहार अवश्य दिये हैं।

9.6 लोकतंत्र की सफलता की अवश्यक परिस्थितियाँ

किसी भी देश में लोकतंत्र के सफल संचालन के लिये ठोस धरातलीय आवश्यकतायें का भी होना आवश्यक है। दूसरे महायुद्ध के बाद कई देशों ने लोकतंत्र को अपनाया और थोड़े ही समय बाद उनका यह प्रयोग असफल हो गया जैसे हमारे पड़ोस में पाकिस्तान, म्यानमार आदि। इन देशों में लोकतंत्र के सफल न होने के लिये राजनीतिक संस्कृति का विकास होना, जनता का शिक्षित नहीं होना, नेतृत्व वर्ग की असक्षमता आदि कारक उत्तरदायी रहे। कुल कर यह कहा जा सकता है लोकतंत्र की सफलता के लिये निम्न परिस्थितियों का होना है

अ. लोकतांत्रिक सिद्धांतो में विश्वास- लोकतंत्र की सफलता के यह आवश्यक है कि जनता का लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था होनी चाहिये। लोकतंत्र का है आपस में विचार विमर्श या परामर्श द्वारा शासन। इस शासन पद्धति में हरेक व्यक्ति का ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना कि किसी अन्य व्यक्ति का। लोकतंत्र की सफलता के लिये आवश्यक है कि लोगों में आपसी भाईचारे की भावना हो, उनमें समझौता करने की प्रवृति हो।

ब. समुचित शिक्षा- लोकतंत्र की सफलता के लिये जनता का शिक्षित होना भी आवश्यक है। सार्वजनिक शिक्षा के अभाव में लोकतंत्र अधिक समय तक टिक नहीं सकता। अज्ञानता और निरक्षरता के कारण नगारिको का विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं विकसित हो सकता और वे सार्वजनिक मामलों में अपना मत प्रकाशित नहीं कर पाते है, न ही उन्हें अपने अधिकार और कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है और न ही वे सरकार के कार्यो का सही मूल्यांकन कर पाते है। शिक्षा से विवेकसंगत, तर्कसंगत दृष्टि का विकास होता है, उससे ही नागरिकों में जागरूकता आती है।

स. प्रर्याप्त जागरूकता- प्रबुद्ध होने के साथ-साथ नागरिकों में पर्याप्त जागरूकता भी होनी चाहिये। उन्हें सार्वजनिक कार्यो में सक्रियता से भाग लेना चाहिये। उन्हें दूसरो के अधिकारों की रक्षा के लिये तैयार रहना चाहिये तथा निरपराध लोगों को कष्ट झेलते हुये चुपचाप नहीं देखना चाहिये। सतत् जागरूकता ही स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र की रक्षा का मूल्य हैं।

द. आर्थिक विषमता की समाप्ति- लोकतंत्र की सफलता के लिये जरूरी है कि जनता के बीच आर्थिक न्याय हो और असमानता कम से कम हो। आर्थिक समानता स्थापित हुये बिना राजनीतिक समानता का कोई मूल्य नही है। किसी भी देश में जहाँ अधिकतर लोग गरीबी का जीवन जीते हो और कुछ लोग ऐश्वर्य से रहते हो वहाँ लोकतंत्र अधिक समय तक नहीं चल सकता है।

य. नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा- लोकतंत्र की सफलता के लिये सभी व्यक्तियों को नागरिक स्वतंत्रताये प्राप्त होनी चाहिये अर्थात् सभी लोगो को विचार अभिव्यक्ति, समाचार साहित्य आदि के प्रचार-प्रसार की स्वतंत्रता होनी चाहिये। इसमें प्रेस की स्वतंत्रता सबसे अधिक आवश्यक है।

र. विवेकशील नेतृत्व- लोकतंत्र की सफलता बहुत कुछ उसके नेतृत्व पर भी निर्भर करती हैं। एक लोकतंत्रीय शासन में नेता समाज को बहुत कुछ लाभ तथा हानि दोनों की पहुँचा सकते है, अत: आवश्यक है कि लोकतंत्र में नेतृत्व उच्च कोटि का हो, उसमें दृढ़संकल्प शक्ति हो ताकि देश को सही दिशा मिल सके।

व. अन्य-

- **I.** स्वशासन की व्यवस्था होनी चाहिये
- **II.** सामाजिक समानता और एकता होनी चाहिये
- **III.** राजनीतिक दलों का स्वस्थ स्वरूप हो,
- **IV.** लिखित संविधान और शासन की स्वस्थ परम्पराये हो और
- **V.** सहिष्णुता, शांति और सुरक्षा की भावनायें होनी चाहिये।

9.7 अधिनायकतंत्र का अर्थ

अधिनायकतंत्र के मूल में असंवैधानिक और असीमित ढंग से शासन करने का अधिकार होता हैं। इस प्रकार की सत्ता विधि के शासन पर आधारित नहीं होती बल्कि प्राय: कानूनों की उपेक्षा करते हुये शासक की मर्जी से प्रयोग की जाती हैं। अधिनायकतंत्र में प्राय: एक व्यक्ति ही सर्वोपरि होता हैं जिसकी स्थिति एक संगठित राजनीतिक दल अथवा सैन्य बल पर आधारित होती है।

ऐसे शासन में शासन की समस्त शक्तियाँ जनता के बजाय एक निश्चित व्यक्ति (अधिनायक या तानाशाह) में निहित होती हैं और वह उन शक्तियों का प्रयोग मनमाने ढंग से करता हैं, उसके आदेश ही कानून होते है, उसकी आज्ञाओं का पालन करना नागरिकों का अनिवार्य कर्त्तव्य होता है। अधिनायक किसी निश्चित अवधि के लिये नहीं चुना जाता और न

ही वह अपने कार्यो के लिये किसी प्रतिनिधि संस्था या संविधान आदि के प्रति उत्तरदायी होता है। उसकी समस्त राजनीतिक शक्ति का स्रोत उसकी इच्छा होती है।

अधिनायकतंत्र राजतंत्र से भिन्न है, क्योंकि राजतंत्र में पद ग्रहण करने का एक वंशानुगत अधिकार होता है, तथा शासन संचालन में कतिपय परम्पराओं का पालन किया जाता है। इसके विपरीत अधिनायकतंत्र में पद अधिनायक द्वारा बलात् ढंग से या अपने राजनीतिक दल विशेष के द्वारा ग्रहण किया जा सकता हैं। इसमें अधिनायक की स्वयं की इच्छा -ऐ शासन संचालन का आधार बनती हैं।

अधिनायकतंत्र की परिमाषाये-

न्यूमैन के अनुसार, " अधिनायकतंत्र से हमारा तात्पर्य एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के शासन से है जो राज्य में बलपूर्वक सत्ता पर एकाधिकार कर लेते है और अनियंत्रित ढंग से उसका प्रयोग करते है।"

सोल्टाउ के मत में अधिनायकतंत्र एक व्यक्ति का शासन होता है जिसने अपने पद को वंशानुगत आधार प्राप्त नहीं किया है बल्कि शक्ति या सहमति अथवा दोनों के से प्राप्त किया है। उसके पास निरपेक्ष सत्ता होती है जिसका प्रयोग वह स्वेच्छापूर्ण ढंग करता है।

9.8 अधिनायकतंत्र की मुख्य विशेषतायें

प्रो. न्यूमेन मे अपनी पुस्तक 'दी डेमोक्रेटिक एण्ड ऑथोरेटियन में अधिनायकतंत्र के पाँच लक्षण बताये है- 1. यह एक पुलिस राज्य होता है; 2. उसमें शक्तियों केन्द्रीयकरण होता है; 3. उसमें एक सर्वाधिकारवादी राजनीतिक दल होता है; 4. उसमें जीवन पर राज्य का कठोर नियन्त्रण रहता है और 5. वह नागरिकों को सदैव भयभीत रखने ' विश्वास रखता है। अधिनायकतंत्र की मुख्य विशेषताये निम्न है-

अ. सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास : आधुनिक अधियकतंत्र राज्य के सर्वाधिकारवादी स्वरूप में विश्वास रखता है। इसमें शासक स्वयं राज्य का धारण कर लेते हैं, जैसाकि फ्रांस का शासक लुई चौदहवाँ द्वारा कहा जाता था कि 'मैं ही छ हूँ"। राज्य और सरकार के बीच का भेद समाप्त हो जाने के कारण शासक वर्ग बन जाता है। मानव जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं होता जो राज्य के नियंत्रण से मुक्त हो राज्य साध्य माना जाता है और वह व्यक्ति के सारे कार्य-कलापों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लेता है। हिटलर और मुसोलिनी के लिए राज्य से बढ़कर और कुछ नहीं थे। मुसोलिनी का कथन कि 'सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, राज्य के बाहर कुछ भी नहीं है और राज्य के विरूद्ध कुछ नहीं है।"

ब. एक व्यक्ति अथवा एक दल का शासन : अधिनायकतंत्र का अर्थ है एक व्यक्ति अथवा एक दल का शासन। इसमें दल के नेता को राष्ट्रीय एकता का प्रतीक जाता है। इसमें नेता में अटूट विश्वास तथा श्रद्धा रखने और उसकी आज्ञाओं का पालन पर बल दिया जाता है। इसमें शासन का विरोध, शासन की आलोचना तथा विरोधी दलो का कोई स्थान नहीं होता। नाजीवाद और फासिस्टवाद का आदर्श था 'एक सभा, एक लोग, नेता' ' इटली के युवकों के लिए

मुसोलिनी का प्रवचन था :विश्वास करो, आज्ञापालन करो और युद्ध करो। " हिटलर ने कर्त्तव्य, अनुशासन और त्याग पर बल दिया।

स. लोकतंत्र का विरोध : अधिनायकतंत्र लोकतंत्र विरोधी सिद्धान्त। यह राजनीतिक विरोध को पसन्द नहीं करता है। प्राय: सभी अधिनायकों तथा उनके समर्थकों लोकतंत्र को 'एक सड़े हुए मुर्दे" के समान माना है, क्योंकि यह मुर्ख, भ्रष्ट और मन्द गति से वाला है। उसके अनुसार संसद 'केवल बकवास की दुकानें' हैं और संकट के समय ये असहाय होती है। अधिनायकतंत्र इस धारणा में विश्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना चाहिए एक ही ढंग से बोलना चाहिए तथा एक ढंग से कार्य करना चाहिए। इसमें स्वतंत्र वाद-विवाद और शासन की आलोचना को कोई स्थान नहीं है।

द. व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी : आधुनिक अधिनायकतंत्र एक व्यक्ति अथवा दल का शासन होता है और इसलिए वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी है। साम्यवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बुर्जुआ लोगों की धारणा मानता है तथा फासिज्म एवं नाजीवाद इसे अतीत की मान्यता मानते थे। अधिनायकवादी राज्य अपनी प्रजा को भाषण देने, विचार प्रकट करने, सभ करने, संगठन बनाने तथा अन्य इसी प्रकार के वह सब अधिकार प्रदान नहीं करता जो लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं।

य. उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास : अधिनायकतंत्र उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करता है। वह अपने राष्ट्र को सर्वशक्तिमान मानता है। यह राष्ट्र के हित में व्यक्ति को अपना सर्वस्व अर्पण करने की प्रेरणा देता है। इसमें विवेक के स्थान पर मनुष्यों की भावनाओं, विश्वासों तथा जोश को उभारने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें प्राय: सर्वत्र अपनी जाति, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य आदि की महानता के गुणगान किये जाते हैं तथा दूसरे राष्ट्रों की जातियों सभ्यता एवं संस्कृति को हीन समझा जाता है। इसमें केवल अपने राष्ट्र के हितों की अवहेलना की जाती है।

र. प्रचार के साधनों पर नियंत्रण : अधिनायकतंत्र में प्रचार के साधनों, जैसे समाचार-पत्र रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा इत्यादि पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहता है। इन साधनों का उपयोग सत्तारूढ़ दल और उसके नेता के विचारों के प्रचार के लिए किया जाता है। इसमें समाचार-पत्रों को विरोधी विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता नहीं होती है। शासक दल जनता को अपने पक्ष में बनाये रखने के लिए प्रचार के इन साधनों का हर प्रकार से प्रयोग करता है तथा इस मान्यता में विश्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक ही ढंग से सोचना, बोलना और कार्य करना चाहिए।

ल. युद्ध एवं साम्राज्यवाद में विश्वास : अधिनायकतंत्र अपने राष्ट्र को सर्वोपरि मानता है। उसके विकास और विस्तार के लिए वह युद्ध का मार्ग अपनाता है। हिटलर और मुसोलिनी ने खुले रूप में युद्ध का प्रचार किया। हिटलर तलवार की शक्ति में विश्वास करता था तथा मुसोलिनी बलिदान के समक्ष शान्ति को कायरता मानता था। दोनों अपने-अपने देशों के आर्थिक विकास के लिए तथा अपने महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए शक्ति के माध्यम से औपनिवेशिक विस्तार की नीति का अनुसरण किया। हिटलर कहा करता था, कि " पुरूषों के जीवन में युद्ध का वही महत्व है जो स्त्री के जीवन में मातृत्व का है। तथा मुसोलिनी ने कहा था कि 'साम्राज्यवाद

जीवन का चिरस्थायी और शाश्वत नियम है।" उसकी घोषणा थी कि "इटली का या तो विस्तार होना चाहिए या अन्त।"

व. धर्म का विरोधी : अधिनायकतंत्र धर्म का शत्रु होता है। अधिनायकवादी या तो धर्म में आस्था ही नहीं रखते या उसे राज्य के हाथ में कठपुतली बनाये रखना चाहते हैं। नाजीवाद लोगों को यह उपदेश देता था कि 'जो कुछ परमात्मा का हे उसे सीजर अथवा राजा को दे डालो।"

श. उदार विरोधी : स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व तथा अधिकार जैसी उदारवादी प्रवृत्तियों के लिए अधिनायकतंत्र में कोई स्थान नहीं है। वस्तुत: अधिनायकतंत्र में अधिकारों के स्थान पर कर्त्तव्यों को महत्व दिया जाता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक अधिनायकतंत्र राज्य की सर्वोच्चता के सिद्धान्त में विश्वास करता है जिसमें सम्पूर्ण शक्ति दल के नेता में केन्द्रित होती है।

9.9 अधिनायकतंत्र के प्रकार

9.9 अधिनायकतंत्र के प्रकार

9.9.1 प्राचीन

9.9.2 नवीन

9.9.1 अधिनायकवाद के प्राचीन रूप

अधिनायकतंत्रीय शासन-प्रणाली नई नहीं है। प्राचीन यूनान और में भी इस प्रकार की शसन-प्रणाली प्रचलित थी। यूनान में अधिनायकतंत्र ऐसी शासन- को कहा जाता था जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति कानून एवं संविधान की उपेक्षा करके बल द्वारा सत्ता पर अपना अधिकार कर लेता था। रोम में तानाशाही एक निश्चित समय के लिए थी। वही संकट का सामना करने के लिए शासन की समस्त शक्तियाँ अस्थायी रूप से एक को सौंप दी जाती थीं। रोम में सिकन्दर महान, जूलियस सीजर इंग्लैण्ड में क्रॉमवैल शासन तथा फांस में नेपोलियन का शासन इसी प्रकार का था।

9.9.2 अधिनायकवाद के नवीन रूप

अधिनायकतंत्र का यह रूप आधुनिक अधिनायकों के उपर लागू नहीं होता। आधुनिक अधिनायक आकस्मिक राज'-विल्पव के फलस्वरूप बल प्रयोग द्वारा शक्ति में आते हैं और वे उस समय तक सत्ता में बने रहते हैं, जब तक शक्ति के अथवा बल-प्रयोग उन्हें अधिनायक बनाये रख सकता है। वे निश्चित अवधि के लिए नहीं होते और न वे किसी प्रतिनिधिक संस्था प्रति उत्तरदायी होते हैं।

आधुनिक अधिनायकतंत्र की एक विशेषता यह है कि अधिनायक अपने दल का पूर्ण समर्थन एवं सहयोग प्राप्त रहता है। वह दल की सहायता से ही सत्ता ग्रहण करता है उदाहरणार्थ, बाल्शेविक की सहायता से रूस में लेनिन, फासी दल की सहायता से इटली में मुसोलिनी तथा नाजी दल की सहायता से जर्मनी में हिटलर अधिनायक बने। इसके अतिरिक्त

विचारधारा के आधार पर आधुनिक अधिनायकतंत्र को दक्षिणपंथी अधिनायकतंत्र (इटली, ' आदि में स्थापित) तथा वामपंथी अथवा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र (रूस, चीन आदि में) में विभाजित किया गया। इन्हें सैन्य बलों का समर्थन प्राप्त रहता है या फिर नये अधिनायक सैन्य पृष्ठभूमि से जुडे होते है जैसे म्यानमार, पाकिस्तान आदि के शासक।

आधुनिक अधिनायकतंत्र के उत्कर्ष के कारण

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जो अधिनायकतंत्र स्थापित हुए, उनके उदय के कई प्रमुख करण थे: प्रथम, तो जिन देशों में लोकतंत्रों की नई-नई स्थापना की गई थी, उनके '०ए और जलवायु इस योग्य नहीं थी, कि वही लोकतंत्र पनप सके। वस्तुत: उन देशों की परम्पराएं - के अनुकूल नहीं थी। **द्वितीय**, अधिनायकतंत्र का उदय उन देशों में हुआ जहाँ निराशा और नाराजगी की भावनाएँ फैली हुई थीं। युद्ध ने जिन देशों को पूरी तरह से तहस-नहस कर दिया था तथा जिनको भारी क्षति-पूर्ति देनी पड़ी और जिसके कारण उनकी आर्थिक स्थिति बहुत छल हो गयी थी, उन्हीं देशों में अधिनायकतंत्र का उदय हुआ। यही नहीं युद्ध के पश्चात् बेकारी, संकट तथा पुनर्निर्माण की समस्याओं का समाधान करने में लोकतंत्रीय व्यवस्थाएँ असफल सिद्ध हुई। अत: लोगो का लोकतंत्र से विश्वास हटने लगा। **तृतीय**, राष्ट्र संघ की निर्बलता के फलस्वरूप भी उस प्रवृत्ति का उदय हुआ। **अन्त में**, जब तानाशाहों ने अपने जोशीले भाषणों तथा कार्यक्रमों से जनता के दुःख को दूर करने की आशा दिखाई, तो उनके भुलावे में आकर जनता ने उसको हस्तगत कर दी। अवसर से लाभ उठाकर उन अधिनायकों ने सर्वाधिकारवादी शासन स्थापित किए।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. अधिनायकवाद से आप क्या समझते हैं?

उत्तर: ……

……

2. अधिनायकवाद के प्रमुख गुण एवं दोषों को बताइये।

उत्तर: ……

……

9.10 गुण एवं दोष

9.10 अधिनायकतंत्र का मूल्यांकन

9.10.1 गुण

9.10.2 दोष

9.10.1 अधिनायकतंत्र के गुण

जिस समय अधिनायकतंत्र का बोलबाला था, कई बुद्धिजीवियों और विद्वानों ने इसकी खूब प्रशंसा की। इसकी प्रशंसा करने वालों में बर्नाड शॉ भी थे। इसमें निम्नलिखित गुण बताये जाते हैं: -

अ. शासन में कुशलता : अधिनायकतंत्र का पहला गुण उसकी प्रशासनिक कुशलता है। अधिनायकतंत्र में राज्य शक्ति एक व्यक्ति अर्थात् अधिनायक में निहित रहती है। शासन सम्बन्धी समस्त निर्णय उसी के द्वारा लिए जाते हैं। अत: निर्णय लेने तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने में समय की बर्बादी नहीं होती और समयानुकूल शीघ्रतापूर्वक निर्णय लिए जाते हैं। इसमें शासन की कुशलता बढ़ जाती है।

ब. राष्ट्रीय एकता में वृद्धि : राष्ट्रीय एकता में वृद्धि की दृष्टि से भी अधिनायकतंत्र अधिक उपयुक्त माना जाता है। इसमें राष्ट्रीय हित को प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। अत: इसमें राष्ट्रीय भावना तेजी से विकसित होती है। अधिनायकतंत्र में राष्ट्र आन्तरिक क्षेत्र में सुदृढ़ बन जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हो जाती है।

स. संकट काल के लिए अधिक उपयुक्त : अधिनायकतंत्र संकटकालीन परिस्थितियों का अधिक दृढ़तापूर्वक सामना कर सकता हैं। संकटकालीन परिस्थितियों का सफलतापूर्वक सामना करने के लिए आवश्यक है कि शीघ्र निर्णय लिया जाए तथा गोपनीयता बनायी रखी जाए। ये दोनों बातें अधिनायकतंत्र में ज्यादा सम्भव है, क्योंकि समस्त प्रकार के निर्णय लेने की शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में होती है। इसमें शीघ्रता से निर्णय लिए जा सकते हैं तथा उन्हें दृढता से लागू किया जा सकता है।

द. राष्ट्र की प्रगति के लिए लाभदायक : राष्ट्र की प्रगति की दृष्टि से भी अधिनायकतंत्र अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। रूस, जर्मनी, इटली, टर्की, स्पेन आदि देशों में प्रथम महायुद्ध के कारण बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को वही के अधिनायकों ने बड़ी तेजी से सुधारा। उन्होंने अपने राष्ट्र के आर्थिक जीवन का पुनर्निर्माण बड़ी तेजी और तत्परता से किया।

य. कम खर्चीली शासन-व्यवस्था : अन्य शासन-पद्धतियों की तुलना में अधिनायकतंत्र कम खर्चीली शासन-व्यवस्था है। लोकतंत्र के समान इसमें चुनाव आदि के प्रबन्ध में धन खर्च नहीं होता तथा इसमें लम्बे-चौड़े शासन-प्रबन्ध के लिए बहुत अधिक धन खर्च नहीं करना पड़ता।

र. उच्च गुणों को प्रोत्साहन : अधिनायकतंत्र देशवासियों में देश-भक्ति, सहयोग और त्याग के आदर्शो को प्रोत्साहित करता है। जर्मनी तथा इटली इसके अच्छे उदाहरण है।

ल. विकासशील राज्यों के लिए उपयोगी : हंटिंग्टन के मतानुसार विकासशील राष्ट्रों में राजनीतिक सहयोग शिक्षा आदि की वृद्धि के स्थान पर मूलभूत संस्थात्मक ढाँचे का निर्माण होना चाहिए तथा इसके लिए एक दलीय शासन या सैनिक अधिनायकतंत्र उपयोगी हो सकता है।

जैक्सन ने अपनी पुस्तक में स्पेन के अधिनायक रिवेरा की सफलताओं का वर्णन करते हुए लिखा है, कि स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला अवसर है, जबकि रेल समय पर चली हैं नये रेल-पथ बनाये गये हैं और स्पेन के परम्परागत खच्चर मार्गो की जगह मोटर सडकों ने

ले ली है। अधिनायक के अधीन व्यापार उद्योग समृद्ध हुए हैं। कृषि फूली-फली है श्रम संकट दूर हो गया है।

9.10.2 अधिनायकतंत्र में दोष

उपर्युका गुणों के होते हुए भी अधिनायकतंत्र को अब कोई सम प्राप्त नहीं है। इसमें निम्नलिखित प्रमुख दोष बताये जाते हैं।

अ. व्यक्तित्व के विकास में बाधा : अधिनायकतंत्र व्यक्ति के को रोकता है। नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा के भुलावे में डालकर उनकी वास्तविक स्वतंत्रता का अपहरण कर लेता है। मानव-जीवन का लक्ष्य केवल भोजन प्राप्त करना ही नहीं है। यह -जीवन को एक ढर्रे पर चलाकर तथा उसे पूर्णतया राज्य के अधीन बनाकर मनुष्य के विवेक एवं स्वत: प्रेरणा का अन्त कर देता है।

ब. व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन : अधिनायकतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वतंत्रता का हनन करता है। इसमें विचारों की अभिव्यक्ति एवं सरकार का विरोध करने की स्वतंत्रता मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती। उनका कार्य केवल अधिनायक की आज्ञा का पालना करना है। इसमें व्यक्ति केवल साधन मात्र बन जाता है। इसके कारण अधिनायकतंत्र में मानव व्यक्तित्व के साथ- साथ शिक्षण, साहित्य तथा कला के विकास की सम्भावना भी नष्ट हो जाती है।

स. विश्वशान्ति में बाधक : अधिनायकतंत्र उग्र राष्ट्रीयता का समर्थक तथा का प्रबल विरोधी होता है। इसमें युद्ध व उपनिवेशवादी प्रवृत्ति को बढ़ावा है। द्वितीय महायुद्ध इटली, जर्मनी व जापान के अधिनायकों की विस्तारवादी नीति का परिणाम था। उग्र राष्ट्रीयता की भावना विश्वशांति के मार्ग में बाधा पहुंचाती है। **फ्रीडमेन** ने इस सम्बन्ध में लिखा है, कि "मानव जाति के मध्य हुए सभी भीषण युद्ध किसी न किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही प्रारम्भ किये गये।"

द. शासन शक्तियों का दुरूपयोग : अधिनायकतंत्र में शक्तियों केन्द्रीयकरण तथा किसी भी प्रकार के नियंत्रण के अभाव के कारण शासन-शक्तियों के की सम्भावना बनी रहती है। अधिनायक अपने विरोधियों पर भारी अत्याचार करता है और कभी कभी तो ये अत्याचार सीमा पार कर जाते हैं।

ब. योग्य उत्तराधिकारी की समस्या : यदि पहला अधिनायक कुशल और योग्य शासक हो, तो भी इस बात की कोई गारण्टी नहीं हैं कि उसका उत्तराधिकारी भी ही योग्य होगा।

साधारणतया एक अधिनायक की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर प्राय: झगड़े होते हैं जिससे अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

र. क्रान्ति की सम्भावना : अधिनायकतंत्र में सदैव क्रान्ति की सम्भावना बनी रहती है, क्योंकि इसमें शासक को चुनने या हटाने का अधिकार (मतदाता द्वारा) जनता को प्राप्त नहीं होता। यही नहीं इसके अन्तर्गत जनमत निर्माण के साधनों पर भी अधिनायक का नियंत्रण रहता है। अत: शासक की नीतियों से मतभेद रखने वाले वर्ग क्रान्ति का सहारा लेते हैं। इस शासन तंत्र में अधिनायक की स्थिति अनिश्चित बनी रहती है।

डॉ.आशीर्वादम के शब्दों में, 'अनुत्तरदायीपूर्ण अधिकेन्द्रित राज्य का अर्थ है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दमन करना तथा मानवीय व्यक्तित्व को दबाना, स्वदेश में हिंसा करना तथा विदेशों पर निर्लज्जतापूर्ण आक्रमण करना, मानवीय स्वभाव की नृशंस हत्या करना तथा सम्पूर्ण लोगों का सैनिकीकरण करना।"

निष्कर्ष : अधिनायकतंत्र के गुण व दोषों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि शासन का यह रूप कुछ विशेष परिस्थितियों में ही अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। इसे हर समय में तथा सब देशों के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। व्यक्ति और जनता के हित की दृष्टि से अधिनायकतंत्र बहुत अनिष्टकारी है तथा आज के युग में विवेकशील बुद्धिजीवी इसका समर्थन नहीं करते। **बेनडेटो क्रॉस** के अनुसार, " शक्ति के प्रयोग पर आधारित राज्य पतनोन्मुख राष्ट्र में ही ठहर सकते हैं। ये उन राष्ट्रों में जो प्रगति कर रहे हैं अथवा उँचे उठ रहे हैं, अल्पकाल के लिए ही ठहर सकते हैं।"

9.11 अधिनायकतंत्र और लोकतंत्र में अन्तर

9.11 लोकतंत्र और अधिनायक तंत्र में अन्तर

यद्यपि लोकतंत्र में अनेक दोष पाए जाते हैं परन्तु प्रश्न उठता है, कि यदि लोकतंत्र दूषित शासन प्रणाली है तो इसका विकल्प क्या है? कुछ व्यक्ति लोकतंत्र के दोषों के कारण इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि लोकतंत्र के स्थान पर अधिनायकतंत्र को अपना लिया जाना चाहिए। परन्तु वास्तविकता तो यह है, कि अधिनायकतंत्र लोकतंत्र की तुलना में श्रेष्ठ शासनतंत्र नहीं है। अत: वह लोकतंत्र का विकल्प नहीं हो सकता। यह बात निम्नलिखित अन्तर से स्पष्ट हो जाती है :

लोकतंत्र एवं अधिनायकतंत्र में अंतर

(निम्न बिन्दुओं के आधार पर इन दोनों शासन प्रणालियों में अन्तर को समझा जा सकता हैं।)

लोकतंत्र

1. यह समानता यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्वीकार करता है तथा व्यक्ति को साध्य मानता है, साधन नहीं।
2. , स्वतंत्रता तथा सहमति पर आधारित शासन व्यवस्था है।
3. यह नागरिकों के मौलिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है तथा उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करता है।
4. यह स्वशासन को अधिकाधिक अवसर प्रदान करता है जिससे नागरिकों में चेतना का पूर्ण विकास हो सके।
5. इसमें शासक वर्ग को सीमित शक्तियॉ प्राप्त होती है तथा शासन का उद्देश्य जनहित होता है।
6. वह पारस्परिक विचार-विमर्श और सहमति पर आधारित शासन व्यवस्था है।
7. वह विश्व शांति, विश्व बन्धुत्व तथा अंतर्राष्ट्रीयता की भावना में 'है. रखता है।
8. इसमें समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

9. इसमें स्थायित्व एवं स्थिरता देखने को मिलती है तथा प्रगति की गति मन्द होते हुए भी निरन्तरता पाई जाती है।
10. इसमें प्रचार के साधनों का उपयोग सार्वजनिक शिक्षण के लिए किया जाता है।
11. यह मानव व्यक्तित्व के विकास पर बल देता है।

अधिनायकतंत्र

1. यह व्यक्ति के स्थान पर समष्टि. पर बल देता है। यह व्यक्ति को साधन मानता है तथा समाज के हित में व्यक्ति को अपना सब कुछ बलिदान करने की प्रेरणा देता है।
2. यह नेता की आज्ञापालन, अनुशासन तथा कठोर दमन पर आधारित शासन व्यवस्था है।
3. यह अधिकारों के स्थान पर कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों पर जोर देता है। यह लोगों के विचारों को एक विशेष ढांचे में ढालता है तथा विरोधी विचारों को पनपने नहीं देता।
4. इसमें स्वशासन के अवसर विद्यमान नहीं होते और इस कारण नागरिक चेतना का विकास सम्भव नहीं हो पाता।
5. इसमें अधिनायक को असीमित शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। जिनका प्रयोग वह अपनी सत्ता को दृढ़ बनाने हेतु करता है।
6. इसमें दल के सिद्धान्तों में अटूट श्रद्धा रखने तथा दल के नेता की आज्ञाओं का पालन करने पर बल दिया जाता है।
7. यह उग्र राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद में विश्वास करता है तथा युद्ध को अच्छाई मानता है।
8. इसमें समय एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन सम्भव नहीं है।
9. इसमें प्रगति की गति तीव्र होते हुए भी निरन्तर तथा स्थिरता का पाया जाता है।
10. इसमें प्रचार के साधनों का उपयोग दल और उसके नेता के विचारों प्रचार के लिए किया जाता है।
11. यह नागरिकों को शासक दल के विचारों के अनुरूप ढालने पर बल देता है।

वस्तुत: अधिनायकतंत्र कारागृह के समान है जिसमें साधारण जनता बन्द रहती है। फाइनर के शब्दों में, " अधिनायकतंत्र की विभिन्न एवं भयभीत प्रजा जीवन के उन ऊचे मूल्यों से गिर जाती है जिसका सम्बन्ध समस्त मानव समाज की जीवन-प्रणाली से है, क्योंकि महानता की खुले रूप में निन्दा की जाती है।"

अत: लोकतंत्र के स्थान पर अधिनायकतंत्र की स्थापना एक भारी भूल। ब्राइस के शब्दों में, यह कह सकते हैं, कि 'लोकतंत्र के आलोचकों का यह कर्त्तव्य है कि वे इससे अधिक अच्छी शासन प्रणाली बतलावें।"

9.1.2 सारांश

लोकतंत्र आधुनिक शासन प्रणालियों में एक सर्वोत्कृष्ट कृति हैं। करोड़ों लोगों के अधिकारों स्वतंत्रता एवं समानता, उनके साथ आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक न्याय बंधुता को बढ़ावा देने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प विश्व में विद्यामान नहीं हैं। संसार भर की राजनीतिक प्रणालियाँ भले ही वे आचरण में राजतंत्रात्मक या स्वेच्छातंत्रीय अधिनायकीय

व्यवस्थाये हो, स्वयं को लोकतांत्रिक कहलाने में ही अपना गौरव समझती हैं। कुछ लोग अवश्य ही इसके दोषों एवं कमियों के कारण इससे असंतुष्ट है, किन्तु वे दोष या कमियाँ लोकतंत्र की न होकर इसके कार्यकरण की हैं। यदि समय रहते उन्हें दूर कर लिया जाये तो लोकतंत्र के समान शासन का अन्य कोई बेहतर तरीका नही हो सकता हैं। जहाँ तक अधिनायकतंत्र का प्रश्न है, वह किसी भी देश या राजनीतिक व्यवस्था के लिये अधिक से अधिक संकटकाल के लिये अस्थायी रूप से उपयोगी हो सकती है। अन्य किसी भी परिस्थिति में अधिनायकीय व्यवस्था को आजादी, समानता एवं अधिकारो तथा व्यक्ति की गरिमा व न्याय के हित में स्वीकार नहीं किया जा सकता हैं।

9.13 शब्दावली (Glossary)

अ. **लोकनिर्णय (Plebiscite)-** वह विधि जिसके द्वारा विधानमण्डलों द्वारा पारित किसी विधेयक पर जनता की स्वीकृति प्राप्त की जाती हैं।

ब. **उपक्रम (Initiative)-** इसे आरम्भ भी कहा जाता है। इस विधि द्वारा जनता किसी विषय पर कानून बनाने की विधायिका से माँग कर सकती है।

स. **प्रत्याहान (Recall)-** इस विधि के द्वारा जनता को अपने चुने हुये प्रतिनिधि को उसके कार्यकाल से पूर्व ही विधायिका से वापिस बुलाने का अधिकार प्राप्त होता हैं। यह सभी तरीके प्रत्यक्ष प्रजातंत्र घर स्विट्जरलैण्ड के कुछ केण्टन्स में अपनाये जाते हैं।

द. **नगर राज्य (Polis)-** प्राचीन ग्रीक साम्राज्य में छोटे-छोटे गणराज्य जिन्हें शासन की कला के लिये जाना जाता है।

य. **नागरिक सभा (Ecclesia)-** प्राचीन यूनानी गणराज्यों में सभी नागरिकों की एक सभा जिसमें शासन के महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाते थे।

र. **राज विप्लव (Coup d'etat)-** किसी राज्य में आकस्मिक रूप से बलपूर्वक, गैर कानूनी रूप से शासन सत्ता पर सेना या अन्य लोगों का कब्जा कर लिया जाना राज विप्लव कहलाता हैं।

ल. **बोल्शेविक दल (Bolshevism Party)-** शाब्दिक अर्थ है बहुमत का दल। लेनिन के नेतृत्व में 1917 के दौरान सोवियत संघ की क्रान्ति में जारशाही के विरूद्ध हजारों साम्यवादियों का दल।

9.14 अभ्यास प्रश्न

1. लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं? उसके विभिन्न प्रकारों को बताइये।
2. लोकतंत्र के कौन-कौन से रूप है? भारत में विकासवादी लोकतंत्र के बारे में बताइये।
3. लोकतंत्र के गुण व दोष बताते हुये इसकी सफलता की शर्ते बताइये।
4. अधिनायकतंत्र के बारे में समझाइये।,
5. अधिनायकतंत्र और लोकतंत्र का अर्थ बताते हुये इन दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों में अन्तर को स्पष्ट कीजिये।
6. अधिनायकतंत्र के गुण व दोष समझाइये।

9.15 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हन्ना आरेन्न – दी ओरिजिन ऑफ टोटेलिटेरियनिज्म हारकोर्टब्रास जोवानोविच न्यूयॉर्क, 1951
2. राबर्ट, ए. डाहल – ए प्रिफेस दू डेमोक्रेसी, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो, शिकागो प्रेस, शिकागो, 1956
3. जे., शूपीटर – केपिटेलिज्म सोश्यलिज्य डेमोक्रेसी, हार्पर एण्ड रो, न्यूयार्क, 1950
4. डेविड हेल्ड – मॉडल्स ऑफ डेमोक्रेसी, पोलिटि प्रेस, लंदन, 1995
5. अन्द्रे हेवुड – पॉलिटिक्स, पॉलग्रेव फाउडेशन, न्यूयार्क
6. एफ. न्यूमेन – द डेमोक्रेटिक एण्ड आथोरिटेयन स्टेट
7. ए.डी.आर्शीवादम – राजनीतिक सिद्धांत
8. अमल ३ एवं भट्टाचार्य – राजनीतिक सिद्धांत
9. लॉर्ड ब्राइस – मार्डन डेमोक्रेसिज
10. डी. बेनी प्रसाद – ए बी सी ऑफ सिविक्स
11. डी. इकबाल नारायण – राजनीतिक सिद्धांत

इकाई- 10

न्याय का सिद्धांत (जॉन रॉल्स)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धान्त

10.3 रॉल्सीय न्याय का मूल विचार

10.4 मूल स्थिति एवं उसका औचित्य

10.5 उचित अवसर की समानता

10.6 सारांश

10.7 परिभाषित शब्दावली

10.8 अभ्यास प्रश्न

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप पायेंगे कि:-

- जॉन रॉल्स के विचारों से परिचित होगें;
- न्याय की सर्वाधिक लोकप्रिय समसामयिक व्याख्या को समझ सकेगें; तथा
- समसामयिक राजनीतिक चिन्तन की भाषा एवं अवधारणाओं से परिचित होगें।

10.1 प्रस्तावना

हालांकि न्याय हमेशा राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है लेकिन समसामयिक समय में इसका महत्व और बढ़ गया है। इस इकाई में जॉन रॉल्स के न्याय के सिद्धान्त की विवेचना की गयी है। रॉल्स ने न्याय को परिभाषित करते हुए कई नई अवधारणाओं का प्रयोग किया है। इस इकाई में आप उनको भी जान जायेगें।

10.2 जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धान्त

राजनीतिक विज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि जिन अवधारणाओं से निर्मित होती है उनमें न्याय महत्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता, समानता एवं अधिकार के साथ न्याय राजनीतिक दर्शन का स्वरूप निर्धारित करती है। पश्चिम के प्रथम राजनीतिक दार्शनिक प्लेटो ने अपना दर्शन न्याय के सिद्धान्त पर आधारित किया है तथा एक न्याय प्रिय राज्य को ही आदर्श राज्य माना है। मध्ययुग में अटेंथामस एक्वीनास जैसे ईसाई विचारकों का मत था कि न्याय की स्थापना ईश्वर का संकल्प है और चर्च द्वारा इसे समाज में स्थापित किया जाना चाहिए क्योंकि धर्म पर आधारित न्याय व्यक्तियों को सहज स्वीकार होगा। उत्तरोत्तर काल में न्याय आधारित समाज की कल्पना क्षीण हो गयी और फ्रांसीसी क्रान्ति में स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व के नारे ने

आधुनिक समाज की नींव रखी। अमेरिकन दार्शनिक जॉन रॉल्स ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में "न्याय के सिद्धान्त" को पुन: आदर्श राज्य का केन्द्र बनाया। वर्तमान युग में न्याय एवं सामाजिक न्याय, राजनीतिक चिन्तन का महत्वपूर्ण विषय बन चुका है और जॉन रॉल्स उसका प्रमुख प्रवर्तक। जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक "न्याय के सिद्धान्त" के माध्यम से न केवल नई सोच को जन्म दिया है अपितु राजनीतिक चिन्तन में नई भाषा एवं प्रत्यय लोकप्रिय बनाये है।

जॉन रॉल्स ने न्याय सम्बन्धी अपने विचार 1950 के दशक में बनाना शुरू किये। सर्वप्रथम 1957 में द जर्नल ऑफ फिलासॉफी के वॉल्यूम - 54 पृष्ठ संख्या 653-6 में "'न्याय उचितता के रूप में" नामक लेख में रॉल्स ने अपने न्याय सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये। 963 में फिलासॉफिकल रिव्यू वॉन्लूम - 62 में प्रकाशित "न्याय का बोध" नाम लेख में उसने अपने विचारो को आगे बढाया। 1968 में वितरणात्मक न्याय नामक लेख प्रकाशित हुआ। इस प्रकार, एक दशक तक रॉल्स ने अपने न्याय सम्बन्धी विचारों को परिपक्व किया और अपने विचारों से विकास में विभिन्न समसामयिक विशेषज्ञों से विचार विमर्श कर अन्ततोगत्वा "ए थियरी ऑफ" नामक पुस्तक को साकार रूप दिया। अपनी पुस्तक के प्राक्कथन में उन्होंने अपनी पुस्तक उद्देश्य स्पष्ट किया है। उसके अनुसार आधुनिक नैतिक दर्शन में मूलत: उपयोगितावाद का रहा है। और इसका एक प्रमुख कारण यह है कि उपयोगितावाद के समर्थक विचारकों ने बहुत कुशलता से इसके सिद्धान्तों को वृहद, समृद्ध एवं महत्वपूर्ण बनाया। डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ बैंथम एवं मिल जैसे उपयोगितावादी प्रथम श्रेणी के सामाजिक एवं आर्थिक चिन्तक थे। उनके प्रतिपादित सिद्धान्त समाज के अधिकांश भाग को प्रभावित करने में सफल रहें। उनके उपयोगिता की अवधारणा की अमूर्तताओं को बताने में तो चाहे सफल रहे हों, लेकिन वे इस का एक नैतिक विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सके। इसलिए सामान्यत: हमें उपयोगितावाद एवं अन्तः प्रज्ञावाद के मध्य में से किसी एक को चुनना पड़ता हैं।

जॉन रॉल्स यह दावा कर रहा है कि वह लॉक के परम्परागत का उच्चस्तर पर अमूर्तिकरण करने का प्रयास कर रहा है और इस प्रकार वह उपयोगितावाद विकल्प में व्यवस्थित नैतिक दर्शन को स्थापित करने में सफल होगा। रॉल्स का यह सिद्धान्त मूलत कॉण्टवादी है, जिसमें कॉण्ट की नैतिक प्रस्थापनाओं का सहारा लेकर उपयोगितावाद का प्रभावी विकल्प प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। इस प्रयास में जॉन रॉल्स ने सामाजिक सहयोग में न्याय की भूमिका को स्पष्ट किया है और न्याय के अर्थ और विषय का सरलीकरण किया है। समाज की संरचनाओं के सन्दर्भ में जॉन रॉल्स न्याय को उचितता के रूप में परिभाषित करता है और के सिद्धान्त की सामाजिक अनुबन्ध की परम्परागत अवधारण को उच्च स्तर पर अमूर्तता प्रदान करता है। समाज की अवधारणा को वह उपलब्ध स्थितियों में प्रारंभिक बन्धनों से आरम्भ करता है ' कुछ प्रक्रियात्मक बन्धनों के अन्तर्गत न्याय के सिद्धान्तों पर मूल समझौता होता है और एक न्यायी समाज (Just Society) की नींव रखी जाती है।

रॉल्स के अनुसार न्याय सामाजिक संस्थाओं का प्रथम सद्गुण है जैसे सत्य चिन्तन का प्रथम सदगुण है। जिस प्रकार से कोई सिद्धान्त कितना ही और आर्थिक रूप में कितना ही संभाव्य प्रतीत हो, लेकिन उसे बदलना या अस्वीकृत करना है अगर वह असत्य है। उसी प्रकार

कानूनों और संस्थाओं को अगर वे अन्यायी है तो उन्हें। संशोधित या समाप्त करना आवश्यक है चाहे वे कितने ही सक्षम और बढ़िया नजर आये। प्रत्येक, अपनी रच की न्याय पर आधारित अलंघनीयता रखता है जो सम्पूर्ण समाज के कल्याण के भी समाप्त नहीं की जा सकती है इस प्रकार यह उचित नहीं है कि अधिकतम व्यक्तियों के लोगों के बदले कुछ व्यक्तियों के हितों का बलिदान किया जाए। इसलिए एक न्याय प्रिय समाज में समान नागरिकता के आधार पर प्राप्त स्वतंत्रता स्वीकृत होती है और उसे न्याय पर आधारित अधिकारों के द्वारा राजनैतिक सौदेबाजी का मुद्दा नहीं बनाया जा सकता। एक न्याय तभी स्वीकृत है जब वह दूसरे बड़े अन्याय को रोकने के लिए आवश्यक हो। सामान्यत: मनुष्य की गतिविधियों के प्रथम सदगुण होने के कारण सत्य एवं न्याय अटल है। न्याय के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने से पूर्व जॉन रॉल्स ने न्याय के स्थापित नैतिक सिद्धान्तों, उपयोगितावाद एवं अन्तःप्रज्ञावाद की सीमाओं को इंगित किया है।

10.3 रॉल्सीय न्याय का मूल विचार

रॉल्स न्याय का सिद्धान्त देते समय सामाजिक अनुबंध का सहारा लेता है। यह सामाजिक अनुबन्ध किसी विशेष प्रकार की सरकार या किसी विशेष के समाज से सम्बन्धित नहीं है। इनका मुख्य विचार समाज की मुख्य संरचना की स्थापना के लिए आवश्यक न्याय के सिद्धान्तों का निर्माण करना हैं।

ये ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें स्वतंत्र विवेकी व्यक्ति अपने हितों का संवर्द्धन करने के लिए प्रारंभिक अवस्था में स्वीकार करते हैं। ये सिद्धान्त बाद वाले सभी समझौतों को नियमित करते हैं और ऐसे सामाजिक सहयोग के नियम बनाते है जिससे न्याय प्रिय सरकारों की स्थापना हो सके। ऐसे प्रक्रियात्मक न्याय को रॉल्स "न्याय उचितता के रूप में" की तरह परिभाषित करता है। इस प्रकार हमें यह कल्पना करनी होगी कि व्यक्ति प्रारंभिक अवस्था में एक समझौते द्वारा ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण करेंगे जो व्यक्तियों के मूल अधिकारों और कर्तव्यों को निर्धारित करेंगे एवं सामाजिक लाभों का इनके मध्य में वितरण का आधार प्रस्तुत करेंगे। व्यक्तियों को यह निर्णय लेना होगा कि वे कैसे अपनी-अपनी मांगों को नियमित करें और एक समाज की नींव रखें। प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना होगा कि उसका "शुभ" क्या है और उसको प्राप्त करने का विवेकीकृत तरीका क्या है जिससे यह तय हो सके कि न्याय और अन्याय क्या हूए ऐसा सोचते समय प्रत्येक व्यक्ति विवेकी है एवं समान स्वतंत्रता का उपयोग कर रहा है। न्याय के सिद्धान्तों की खोज इसी सोच का परिणाम है तथा व्यक्ति यह सोचते समय एक काल्पनिक स्थिति में है। ऐसी काल्पनिक स्थिति को जॉन रॉल्स "मूल स्थिति" कहता है। ऐसी स्थिति को परम्परागत सिद्धान्त में प्रारम्भिक स्थिति कहा जा सकता है। यह मूल स्थिति ऐतिहासिक नहीं है, और न ही संस्कृति की प्राथमिक स्थिति है, यह पूर्णत: काल्पनिक स्थिति है जो न्याय की अवधारणा का निर्माण करने के लिए आवश्यक है। इस स्थिति में कोई भी समाज में अपना स्थान, अपनी वर्गीय स्थिति सामाजिक हैसियत नहीं जानता है और न ही यह जानता है कि उसकी क्षमताएँ, योग्यताएँ, बुद्धिमता एवं शक्तियाँ स्वाभाविक योग्यताएँ क्या हैं? रॉलर यह भी मानता है कि यह लोग "शुभ" की अवधारणा को भी नहीं जानते हैं। न्याय के सिद्धान्त इस प्रकार एक 'अज्ञान के पर्दे' के पीछे चयनित होते है।

इस प्रकार यह तय किया जाता है कि कोई भी व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों या प्राकृतिक अवसर के कारण न्याय के सिद्धान्तों को चुनते समय किसी भी प्रकार की लाभ या हानि की स्थिति में न हो। चूंकीसभी समान स्थिति में हैं, कोई भी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए सिद्धान्त नहीं बना सकता और इसलिए न्याय का सिद्धान्त उचित समझौते का परिणाम है। "मूल स्थिति" की इस प्रकार की परिस्थितियों में रॉल्स मानता है कि नैतिक एवं विवेकी व्यक्तियों के लिए ऐसी परिस्थितियां उचित है और उन्हें न्याय का बोध हो सकता है। इस प्रकार मूल स्थिति एक सही प्रारम्भिक स्थिति है जिसमें निर्मित समझौतों को उचित माना जा सकता है और यही "न्याय उचितता के रूप में" को सार्थक बनाता है। यह प्रदर्शित करता है कि न्याय के सिद्धान्त पर सहमति ऐसी प्रारम्भिक स्थिति में हुई है जो उचित है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि न्याय और उचितता की अवधारणा समान हैं।

उचितता के रूप में न्याय तब आरम्भ होता है जब व्यक्ति के समक्ष बहुत से विकल्पों में से एक को चुनने का प्रश्न आता है और उसे चुनने से पूर्व न्याय के ऐसे प्रथम सिद्धान्तों को चुनने की आवश्यकता होती है जो बाकी सभी चुनावों को विवेकीकृत और सरल बना सके। न्याय की इस अवधारणा या सिद्वान्त को चुनने के बाद एक संविधान बनाना होगा ओर कानून बनाने के लिए व्यवस्थापिका बनानी होगी और धीरे-धीरे एक राज्य की पूर्ण संरचना करनी। होगी लेकिन इसके लिए उन्हें आरम्भ में स्वीकृत न्याय के सिद्धान्तों पर चलना होगा।

"न्याय उचितता के रूप में' की एक विशेषता यह है कि इसमें मूढ़, स्थिति के लोग विवेकी एवं एक-दूसरे के प्रति अनासक्त हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हैं कि ये लोग अहंकारी हैं अर्थात् धन, शान्ति एवं प्रतिष्ठा के कारण अपने आपको दूसरों से अलग मानते हैं। लेकिन इन्हें ऐसा माना गया है कि वे एक-दूसरे के कार्यो में रूचि नहीं लेते हैं। विवेक की अवधारणा भी आर्थिक सिद्धान्त में स्वीकृत अवधारणा है जिसका अर्थ है कि बताए गये उद्देश्यों को प्राप्त करने के सबसे प्रभावी साधनों के उपयोग करने की पहचान और क्षमता। हालांकि बाद में रॉल्स विवेक की इस अवधारणा को थोड़ा विस्तृत बनाता है। उचितता के रूप में न्याय की अवधारणा को परिभाषित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम यह जाने कि मूल स्थिति में न्याय के किन सिद्धान्तों को स्वीकृत किया गया है। इसमें यह स्पष्ट है कि एक बार समानता की स्थिति में किए प्रारम्भिक समझौते के फलस्वरूप बनाये गये न्याय के सिद्धान्तों में कोई भी उपयोगिता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करेगा, क्योंकि कोई भी इस बात पर सहमत नहीं होगा कि कुछ व्यक्तियों के हितों की पूर्ति के लिए कुछ दूसरे व्यक्तियों के हितों को समाप्त किया जाए। समानता के वातावरण में उपयोगिता का सिद्धान्त सही प्रतीत नहीं होता है।

रॉल्स यह मानता है कि ऐसी स्थिति में व्यक्तियों को अलग-अलग प्रकार के सिद्धान्तों का चुनाव करना पडेगा। पहले में मूलभूत अधिकारों एवं कर्तव्यों के बोध।, के लिए समानता की आवश्यकता है और दूसरे के अनुसार सामाजिक और आर्थिक समानताऐ प्रिय तब ही मानी जा सकती है जब वे प्रत्येक के लिए लाभकारी हों और विशेष रूप से समाज सबसे कम लाभान्वित व्यक्तियों के लिए लाभकारी हो। यह सिद्धान्त उपयोगितावाद की इस मान्यता के विरूद्ध है जिसमें अधिकतम लाभों के योग में कुछ व्यक्तियों की परेशानियाँ छिप जाती हैं। उपयोगितावाद का सिद्धान्त व्यावहारिक नजर आ सकता है लेकिन यह न्याय प्रिय नहीं होगा कि कुछ लोगों

की हानि दे दूसरे शक्तिशाली बनते जाए लेकिन इस बात में अन्याय नहीं है कि कुछ लोगों के अधिक लाभ से बाकी कम लाभान्वित व्यक्तियों की स्थिति भी सुधरे। रॉल्स के न्याय का विचार' उपरोक्त मान्यता पर आधारित है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति की समृद्धि समाज के सहयोग के किसी न किसी रूप पर आधारित है। इसलिए लाभों को इस प्रकार से विभाजित किया जाना चाहिए जिसमें कम लाभान्वित व्यक्ति भी स्वेच्छा से न्यायपूर्ण समाज के निर्माण में सहयोग कर सके। लेकिन ऐसा तभी संभव है जब सहयोग का आधार विवेकीकृत और उचित हो।

न्याय के जो दो सिद्धान्त रॉल्स बताता है उनके अनुसार समाज के सभी वर्गो के मध्य सहमति के लिए उचित आधार है। एक बार हम न्याय की कल्पना करने की सोच लें जो प्रकृति प्रदत्त असमानताओं एवं सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्मित असमानताओं को समाप्त कर दें तो हम न्याय को उचितता के रूप में परिभाषित कर सकेंगे। न्याय के ऐसे सिद्धान्त कीजिए चुनना एक कठिन कार्य है और इसके लिए इसे दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम प्रारम्भिक स्थिति की व्याख्या और उसमें चुनाव की समस्या और द्वितीय वे सिद्धान्त जिन पर सब सहमत हों। ऐसा संभव है कि कुछ लोग पहले को स्वीकार करेंगे दूसरे को नहीं या दूसरे को स्वीकार करेंगे पहले को नहीं, लेकिन रॉल्स यह मानता है कि अगर हम पहले हिस्से को स्वीकारते है तो उसका तार्किक परिणाम दूसरा है या दूसरे हिस्से को स्वीकारने पर प्रथम हिस्सा उसका तार्किक आरम्भ है। और ये दोनों हिस्से न्याय की उचितता के रूप में परिणित होते है और उपयोगितावाद का एक काका विकल्प प्रस्तुत करते हैं। यह विकल्प सामाजिक समझौते के आधार पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

'न्याय उचितता के रूप में' समझौता सिद्धान्त का ही एक उदाहरण है। समझौते की शब्दावली में यह लाभ है कि इससे न्याय के सिद्धान्तों के विचार को ऐसे प्रतिपादित किया जा सकता है वे विवेकी व्यक्तियों द्वारा चुने गये हैं और इस तरह से न्याय की अवधारणा की न्यायोचित व्याख्या की जा सकती है.। रॉल्स मानता है कि न्याय का सिद्धान्त आशिक लेकिन महत्वपूर्ण रूप से चुनाव के सिद्धान्त का हिस्सा है। "समझौता" शब्द यह बताता है कि लाभों को तर्क संगत रूप में इस प्रकार से विभाजित किया गया है जिसमें सभी व्यक्तियों ने सहमति दी है। अगर यह सिद्धान्त इसी समझौते का परिणाम है जिसमें सब सहभागी बने है और जो यह जानते है कि दूसरों को किस सिद्धान्त का पालन करना है। समझौता सिद्धान्त राजनैतिक सिद्धान्तों की सार्वजनिक प्रकृति पर बल देता है। लेकिन रॉल्स यह भी मानता है कि "उचितता के रूप में न्याय" एक पूर्ण समझौता सिद्धान्त नहीं हैं, क्योंकि समझौते का विचार एक पूर्ण नैतिक व्यवस्था का स्वरूप ले सकता है जिसके सद्गुणों में केवल एक सद्गुण है।

10.4 मूल स्थिति एवं उसका औचित्य

रॉल्स के अनुसार मूल स्थिति वह सही आरम्भिक स्थिति हैं जिसमें ऐसे समझौते किये जा सकते है जो उचित हो। इसलिए "न्याय उचितता के रूप में" केवल मूल स्थिति में ही संभव है। न्याय की अवधारणाएँ उस तरह से श्रेणीबद्ध की जानी चाहिए जिस तरह से व्यक्ति उनको स्वीकारते है। हमको यह देखना होगा कि वह कौन से सिद्धान्त है जो इस समझौते की स्थिति में विवेकीकृत होंगे और यह देखना ही न्याय के सिद्धान्त को विवेकीकृत चुनाव के सिद्धान्त से जोडता है। एक विवेकीकृत निर्णय लेने के लिए आवश्यक है कि निर्णय लेने वाले व्यक्तियों के

विश्वास और हितों तथा उनके आपस के सम्बन्धों तथा चुनाव करने के लिए उपलब्ध विकल्पों और निर्णय लेने के तरीकों इत्यादि के निश्चित उत्तर मौजूद हों। अगर परिस्थितियाँ भिन्न होंगी तो भिन्न सिद्धान्त ही स्वीकार किये जायेंगे।

रॉल्स यह मानता है कि मूल स्थिति ही किसी प्रारम्भिक स्थिति की वह सबसे अच्छी दार्शनिक व्याख्या है जिसमें निर्णय करने के लिए कुछ उचित मापदण्ड अपनाएँ जा सकते है। वे मापदण्ड चाहे सामान्य प्रतीत लेकिन न्याय का सिद्धान्त खोजने के लिए आवश्यक होते है। "मूल स्थिति" को परिभाषित करते हुए ऐसी ही मान्यताओं एवं मापदण्डों को स्वीकारा गया है। जो न्याय को उचित सिद्धान्त दे सके। इसलिए यह ठीक नजर आता है कि इस स्थिति में कोई भी व्यक्ति प्राकृतिक भाग्य या सामाजिक परिस्थितियों के द्वारा सिद्धान्तों के चुनाव के लिए लाभान्वित या गैर लाभान्वित स्थिति में न हो। यह भी देखना होगा कि किसी व्यक्ति के विशेष हितों या इच्छाओं या व्यक्तियों के शुभ की अवधारणा न्याय को प्रभावित न कर सके। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते है कि किसी प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति के घर पर प्राकृतिक भाग्य से उत्पन्न हुआ व्यक्ति या शेयर बाजार में एकदम उछाल से धनी बना दलाल इस मूल स्थिति में न्याय के सिद्धान्तों की खोज को प्रभावित न कर सके। इस प्रकार किसी व्यक्ति विशेष की इच्छाएँ और रूचियां जैसे- सचिन तेंदुलकर के क्रिकेट खेलने में रूचि। इस मूल स्थिति में तेंदुलकर ऐसे न्याय का सिद्धान्त खोजने का प्रयास करे जिसमें अन्य खेलों की अपेक्षा क्रिकेट को अधिक तरजीह दी जा सके तो मूल स्थिति में यह संभव नहीं होगा। इसी प्रकार ऐसे ज्ञान को भी भूलना होगा जिसका न्याय के सिद्धान्तों की खोज में कोई महत्व नहीं है जैसे कोई धनी व्यक्ति ऐसे सिद्धान्त को लागू करना विवेकीकृत मानेगा जिसमें धन पर कोई टैक्स नहीं लगे और गरीब व्यक्ति इसका बिल्कुल विपरीत करेगा। ऐसी स्थिति को रोकने के लिए यह उचित होगा कि वे अपने बारे में धनी या गरीब होने या गरीब होने की सोच न रख पाये और इस प्रकार मूल स्थिति में एक अज्ञान का पर्दा (Veil of Ignorance) की अवधारणा स्वाभाविक रूप से विद्यमान है।

न्याय के सही सिद्धान्त तक पहुंचने के लिए मूल स्थिति में इस प्रक्रिया में ऐसे सिद्धान्त अवश्यंभावी है। यह भी माना जायेगा कि मूल स्थिति में सब व्यक्ति समान है अर्थात् सभी जो सिद्धान्तों की चयन प्रक्रिया में सिद्धान्तों के प्रकार, उनके आधार तथा उनकी स्वीकृति के लिए तर्कपूर्ण विचार इत्यादि प्रस्तुत करने का समान अधिकार है। मूल स्थिति में ऐसी परिस्थितियों का उद्देश्य नैतिक व्यक्तियों के रूप में विद्यमान ऐसे मनुष्यों के लिए मध्य समानता प्रदर्शित करना है जो शुभ की अवधारणा परिभाषित कर सकते हों तथा जिन्हें न्याय का बोध हो। इस समानता के दो पहलू है -

प्रथम - इसमें मनुष्य के उद्देश्यों को पद सोपान श्रेणी में नहीं रखा गया हैं और

द्वितीय - यह माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति में चयनित सिद्धान्तों को समझो और उसके अंतर्गत कार्य करने की क्षमता है। अज्ञान के पर्दे के साथ यह शर्ते न्याय के उन सिद्धान्तों को परिभाषित करती है जिनमें विवेकी व्यक्ति अपने हितों को आगे बढ़ाने के आधार पर अपनी सहमति देते है तथा जहां पर कोई भी व्यक्ति सामाजिक तथा प्राकृतिक कारणों से लाभान्वित

गैर लाभान्वित नहीं है। यहां पर रॉल्स नैतिक दर्शन की एक नई अवधारणा का प्रयोग करता। जिसे वह विमर्षी समत्व (Reflrctive Equilibrium) कहता है।

उसके अनुसार यह मूल स्थिति और न्याय के सिद्धान्तों के मध्य में निरन्तर चहने वाला एक प्रकार का सम्बन्ध है। यह माना जा सकता है कि मूल स्थिति में ऐसी शर्ते जिनको। पूरा करने पर न्याय के पूर्ण सिद्धान्तों को प्राप्त न किया जा सके और इसलिए न्याय के पूर्ण ' को प्राप्त करने के लिए मूल स्थिति की शर्तो में परिवर्तन किया जाए। इसलिए यह दोनों बिन्दु नहीं है अपितु लचीले बिन्दु है जिसमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इन दोनों के मध्य में, विमर्श के द्वारा संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। इसे रॉल्स विमर्षी समत्व (Reflrctive Equilibrium) का नाम देता है। यह "समत्व" है, क्योंकि इसमें हमारे सिद्धान्त एवं निर्णय मिलते हैं, और यह विमर्शी है, क्योंकि हम जानते है कि हमारे निर्णय एवं सिद्धान्त की आधारशिला क्या है, लेकिन यह समत्व स्थिर नहीं है और इसमें विशेष परिस्थितियों और समझौते की स्थितियों से परिवर्तन आता है।

बोध प्रश्न- 1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. रॉल्मीय न्याय का मूल विचार क्या है?

उत्तर: ……

……

2. मूल स्थिति की विशेषता क्या है ?

उत्तर: ……

……

न्याय के सिद्धान्त

रॉल्सीय न्याय के सिद्धान्त को दो भागों में बांटा जा सकता है-

1. प्रारम्भिक स्थिति की व्याख्या एवं वहां पर उपलब्ध विभिन्न सिद्धान्तों के निर्माण का चयन।
2. इन सिद्धान्तों में से उचित सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए की खोज।

रॉल्स पहले संस्थाओं के लिए न्याय के दो सिद्धान्तों को अपने दूसरे अध्याय में स्पष्ट करता है और व्यक्ति के लिए भी न्याय के सिद्धान्तों की व्याख्या करता है। रॉल्स यह मानता है कि सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों का प्राथमिक विषय समाज की मूल संरचना को प्रमुख सामाजिक सहयोग की एक योजना में व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना है। इन सिद्धान्तों के द्वारा इन संस्थाओं में अधिकारों एवं कर्तव्यों को नियत करना एवं सामाजिक जीवन के लाभों एवं परेशानियों का उचित वितरण करना तय होता है। संस्थाओं के न्याय के सिद्धान्त व्यक्तियों पर लागू न्याय के सिद्धान्तों से स्पष्ट रूप से अलग है।

रॉल्स संस्था को परिभाषित करते हुए मानता है कि एक संस्था नियमों से बंधी वह सार्वजनिक व्यवस्था है जिसमें शक्तियां, अधिकार, कर्तव्य, पद एवं स्थिति इत्यादि परिभाषित होती है। ये नियम कुछ कार्यो को स्वीकृत तथा कुछ को निषेध करते है और निषेध किये गए

कार्यों को व्यक्तियों द्वारा करने पर उन्हें खण्डित करते है। संस्थानों के उदाहरण के रूप में रॉल्स के अनुसार खेलों, अनुष्ठानों मुकदमों, संसदों, सम्पत्ति एवं बाजार को लिया जा सकता है। एक संस्था पर दो तरह से विचार किया जा सकता है, एक तो अमूर्त वस्तु के रूप में अर्थात् विशेष प्रकार का कार्य जो नियमों की व्यवस्था से होता है। दूसरा इन संस्थाओं से जुड़े व्यक्तियों की सोच एवं मूर्त व्यवहार के आधार पर, जिसमें नियमों की बोध प्रदर्शित होता हो। संस्था के बोधिकृत स्वरूप को ही सक्षम रूप से न्यायी या अन्यायी माना जा सकता है और इस स्वरूप का न्याय के सिद्धान्त में अधिक महत्व है। एक संस्था किसी स्थान व समय विशेष में तब स्थापित मानी जाती है जब इसके द्वारा विशिष्ट कार्यो को निरन्तर रूप से ऐसे ही किया जाय कि जिसमें सार्वजनिक चेतना में इस संस्था के परिभाषित करने वाले नियमों का अनुसरण नजर आए। जैसे- सांसद तब ही सांसद कहलाते है जब सांसद जनता की चेतना में सांसद की निर्धारित भूमिका निभाते नजर आऐ।

न्याय के सिद्धान्त उस अर्थ में सामाजिक व्यवस्थाओं पर लागू होने चाहिए, जिसमें वे जनता द्वारा समझे जाते है। एक संस्था के छोटे हिस्से द्वारा अपने उपर लागू किए जाने वाले नियम बनाए जा सकते है जो दूसरे हिस्से को प्रभावित नहीं करते हों या संस्था के सामान्य नियमों का अलंघन नहीं करते हों। एक व्यवस्थित समाज, जिसमें न्याय के सिद्धान्त की चेतना विद्यमान है उसमें न्याय और अन्याय में अंतर करने का सार्वजनिक बोध होता है। इसलिए न्याय के सिद्धान्तों का चयन यह ध्यान में रखते हुए किया जाता है कि वह सार्वजनिक है। यह शर्त समझौते के सिद्वान्त की स्वाभाविक शर्त है। न्याय के सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या करने से पूर्व जॉन रॉल्स न्याय के दो अंतरिम सिद्धान्त तात्विक (Substantive Justice) न्याय के सिद्धान्त है।

1. प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी अत्यन्त विस्तृत मूल स्वतंत्रता का समान अधिकार हो जो दूर परों की ऐसी ही स्वतंत्रता के अनुरूप हो।
2. सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ इस प्रकार से व्यवस्थित की जाये जिससे कि वे दोनों (v) प्रत्येक के लाभ के लिए यथोचित अपेक्षित हो, एवं (c) सबके लिए खुले पद और पदानुषंग (Office) से संलग्न हो।

दूसरे सिद्धान्त में दो अस्पष्ट सुक्तियॉ है "प्रत्येक के लाभ" और "सबके लिए खुला"। इनको स्पष्ट करने पर यह सिद्धान्त एक दूसरा मूर्त रूप लेगा। यह दोनों सिद्धान्त समाज की मूल संरचना से सम्बन्धित है। और ये सामाजिक एवं आर्थिक लाभों को नियंत्रित एवं वितरित करने तथा अधिकारों व कर्तव्यों को नियत करने को निर्देशित करेगें। जैसा कि सिद्धान्त बताता है कि इसमें सामाजिक संरचना को दो विशिष्ट भागों में विभाजित किया जा सकता है जिसमें एक सिद्धान्त एक पर व दूसरा दूसरे पर किया जा सके। वे समाज के एक पहलू में नागरिकों के समान स्वतंत्रता को विभाजित करते हैं एवं दूसरे में सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को रेखांकित करते है। नागरिकों की मूल स्वतंत्रताऐ सामान्यत: राजनैतिक स्वतंत्रता (वोट देने का अधिकार एवं सार्वजनिक पद के लिए योग्य होने का अधिकार) भाषण एवं एकत्र होने की स्वतंत्रता, अन्तःकरण एवं सोचने की स्वतंत्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने के अधिकार की स्वतंत्रता एवं कानून के शासन में स्वेच्छाचारी गिरफ्तारी की स्वतंत्रता। ये सभी स्वतंत्रताऐ पहले

सिद्धान्त के अनुसार सभी को समान रूप से प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि एक न्यायिक समाज के सभी नागरिकों के पास समान मूल अधिकार हो कि है।

दूसरा सिद्धान्त आय एवं धन के वितरण से सम्बन्ध पर लागू होता है। आय और धन का समान वितरण होना आवश्यक नहीं हैं लेकिन यह प्रत्येक के लाभ के लिए होना चाहिए और इसी प्रकार सत्ता के पद एवं पदानुषंग (ऑफिस) सभी के लिए सुलभ होने चाहिए। ये सिद्धान्त इस प्रकार से कमानुबद्ध करने चाहिए जिससे कि दूसरे से पहला सिद्धान्त प्राथमिकता में रहे। इसका अर्थ यह है कि समान स्वतंत्रता की संस्थाओं को हटाकर या कम करके अधिक सामाजिक और आर्थिक लाभों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। आय एवं धन का वितरण समान नागरिकता की स्वतंत्रताओं एवं अवसर की समानता के संगत होने चाहिए। रॉल्स के अनुसार यह माना आ सकता है कि दोनों सिद्धान्त न्याय के सामान्य सिद्धान्त का विशेष स्वरूप है और यह सामान्य सिद्धान्त इस प्रकार का हैं

सभी सामाजिक मूल्य- स्वतंत्रता एवं अवसर, आय एवं धन, स्वाभिमान के आधार समान रूप से तब तक वितरित हो जब तक किसी एक मूल्य या सभी मूल्यों की असमान वितरण प्रत्येक के लाभ के लिए न हो।

अन्याय इस रूप में केवल वो असमानता है जो सबके लाभ के लिए न हो। साधारण भाषा में हम यह कह सकते है कि समाज की मूल संरचना उन प्राथमिक वस्तुओं को वितरित करती है जिन्हें विवेकी व्यक्ति चाहता है। इनमें अधिकार और स्वतंत्रता, शक्तियां एवं अवसर, आय एवं धन शामिल है। सिद्धान्त: यह संभव है कि व्यक्ति इनमें से कुछ प्राथमिक वस्तुओं को त्याग दे एवं उनके बदले में सामाजिक व आर्थिक लाभ प्राप्त कर ले। जैसे विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता त्याग कर व्यक्ति नौकरी में उच्च पद प्राप्त कर सकता है लेकिन न्याय के सामान्य सिखाना में यह तभी संभव है जब इससे किसी व्यक्ति विशेष को लाभ न होकर प्रत्येक की स्थिति सुधरे। न्याय के दोनों सिद्धान्त श्रृंखलाबद्ध होने के कारण भी ऐसा संभव नहीं है।

जॉन रॉल्स न्याय के सामान्य सिद्धान्त की अपेक्षा दो भागों में वर्णित न्याय के विशिष्ट सिद्धान्त में रूचि लेता है। पहले सिद्धान्त द्वारा प्राथमिकताओं की समस्याओं का समाधान होता है। इन दोनों सिद्धान्तों को संस्थाओं पर लागू करने से कुछ परिणाम सामने आते हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा प्रदर्शित अधिकार एवं स्वतंत्रता वो हैं जो समाज की मूल संरचना में सार्वजनिक नियमों द्वारा परिभाषित हैं। व्यक्ति स्वतंत्र है या नहीं यह समाज की संस्थाओं द्वारा स्थापित। अधिकार एवं कर्त्तव्य नियत करते हैं। पहला सिद्धान्त का अर्थ सिर्फ इतना है कि कुछ ऐसे नियम बने जो मूल स्वतंत्रताओं को परिभाषित करते समय उन्हें सब पर समान रूप से लाग करे और प्रत्येक को अधिकतम स्वतंत्रता दे जो कि दूसरे लोगों की उसी प्रकार की स्वतंत्रता के अनुरूप हो। संस्थाओं पर लागू ये सिद्धान्त संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों पर लागू होते हैं लेकिन ऐसा ही होता है जब ये व्यक्ति संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता हैं। जब वे निजी रूप से कार्यरत हैं तब ये सिद्धान्त उन पर लागू नहीं होते। इसलिए सामाजिक, आर्थिक असमानताओं को प्रत्येक व्यक्ति के लाभान्वित होने की में बनाये रखने का अर्थ जब ही है जब व्यक्ति को सामाजिक संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में परिभाषित

किया जाये। इन असमानताओं को बनाये रखने के लिए यह उपयोगितावादी तर्क उचित प्रतीत नहीं होता है। कि इससे कुछ को इस अफानता से हानि होने पर बहुत से व्यक्तियों को इसका लाभ मिल सकता हैं। लेकिन रॉल्सीय न्याय में प्रत्येक को लाभ मिलना आवश्यक है। प्रत्येक को यह लाभ मिले इसके लिए कई तरीके हो सकते हैं। इसके लिए द्वितीय सिद्धान्त की सुकियों " प्रत्येक के लाभ " और सबके " समान रूप से खुला" को स्पष्ट करना आवश्यक है। यह मानकर कि समान स्वतंत्रता का पहला सिद्धान्त का एक ही अर्थ हैं रॉल्स के अनुसार दूसरे सिद्धान्त की चार व्याख्याएँ हो सकती हैं, यह निम्नांकित है -

		'प्रत्येक का लाभ'
समान रूप से खुला	**दक्षता का सिद्धान्त**	**विभेद का सिद्धान्त**
जीविका के समान रूप में	स्वाभाविक स्वतंत्रता	स्वाभाविक वर्गतंत्र
प्रतिभाओं के लिए खुली हो	की व्यवस्था	
समानता के रूप में	उदारवादी समानता	प्रजातांत्रिक समानता

बोध प्रश्न - 2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. जॉन रॉल्स क तात्विक न्याय के दो सिद्धान्त क्या है?

उत्तर: ……

……

10.5 उचित अवसर की समानता

जॉन रॉल्स इन विभिन्न व्याख्याओं में प्रजातांत्रिक समानता को स्वीकारता है। शेष तीनों व्याख्याओं के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि वितरण के सिद्वान्त सामाजिक एवं प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न असमानताओं के सन्दर्भ में स्थिर नहीं रह पाते हैं और एक विवेकीकृत समाधान प्रस्तुत नहीं करते हैं। एक सी स्थिति में जब व्यक्तियों को नैतिक रूप से समान माना जाता है तक " प्रत्येक के लाभ " के लिए प्रजातांत्रिक समानता का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है। यह सिद्धान्त विभेद के सिद्धान्त की व्याख्या है और रॉल्सीय न्याय दक्षता की अपेक्षा विभेद को उचित मानता है। विभेद सिद्धान्त एक शक्तिशाली समता वादी (Egalitarian) अवधारणा है जिसके अनुसार जब तक असमान से दोनों व्यक्तियों को लाभ न हो तब तक समान वितरण करना चाहिए।

इस सिद्धान्त को समझने के लिए हमें यह देखना होगा कि यह सिद्धान्त न्याय के अन्य सिद्धान्तों से संगतता रखता है या नहीं। एक स्थिति में सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति की अपेक्षाओं को अधिकतम करने पर और लाभान्वित व्यक्ति की अपेक्षाओं में परिवर्तन न करने पर कम लाभान्वित व्यक्तियों की दशा में कोई सुधार नहीं आएगा। दूसरी स्थिति में लाभान्वित व्यक्तियों की अपेक्षाओं में वृद्धि इस तरह हो कि कम लाभान्वित व्यक्तियों को भी लाभ मिल सके। ऐसी योजना न्यायप्रिय नजर आती है लेकिन यह सर्वश्रेष्ठ न्याय व्यवस्था नहीं है। यह

योजना अन्यायी है जिसमें लाभान्वित व्यक्तियों की अपेक्षाएं अविवेकी तरीके से बहुत बढ़ा दी गई हो तथा जिसमें उनके तथा सबसे कम लाभान्वित व्यक्तियों के बीच दूरी और बढ़ गई हो। इसलिए विभेद सिद्धान्त एक अधिकतमकरण का सिद्धान्त होते हुए भी अधिकतम और न्यूनतम के मध्य में दूरी को कम करने में विश्वास करता है।

विभेद सिद्धान्त दक्षता के सिद्धान्त के अनुरूप भी है, क्योंकि जब विभेद के सिद्धान्त की शर्तें पूरी हो जाती है तो यह असंभव हो जाता है कि किसी एक व्यक्ति को समृद्धि बनाकर दूसरे व्यक्ति को समृद्धि हीन बनाया जाए। समाज के सभी वर्गों और व्यक्तियों की समृद्धि में वृद्धि एक दूसरे से जुड़ी हुई है और सबका भला एक के भले में छिपा हुआ है। लेकिन मूलरूप से न्याय दक्षता के पूर्व है और अगर न्यायप्रिय समाज के लिए दक्षता में कुछ कमी भी करनी पड़े तब भी वह सही है। विभेद सिद्धान्त में यह माना गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है और शासक अर्थ यह माना जा सकता है कि इस सिद्धान्त के लागू होने पर प्रत्येक व्यक्ति प्रारंभिक स्थिति। से निरंतर बेहतर स्थिति में आता रहता है। वह व्यक्ति प्रारंभिक स्थिति में कितना समृद्ध है यह महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि वह अपनी सबसे कम लाभान्वित स्थिति में अपनी अपेक्षाओं का अधिकतमकरण कैसे करता है। जॉन रॉल्स एक और तरीके से यह प्रदर्शित करता है कि विभेद सिद्ध_ना की शर्तें पूरी होने पर कैसे प्रत्येक व्यक्ति लाभान्वित होता है। उसके अनुसार हम यह माने कि अपेक्षाओं. में श्रृंखलाबद्ध जुड़ाव है। इसका अर्थ यह है कि अगर कोई लाभ सबसे निम्नतम पद अपेक्षाओं को बढ़ाने में सहायक होता है तो वह उसके और सबसे उच्चतम पद के मध्य सभी पदों में अपेक्षाएं बढ़ायेगा। जैसे किसी उद्यमों की अपेक्षाओं में वृद्धि एक मजदूर की अपेंक्षाओ में वृद्धि करता है तो एक मैनेजर को अपेक्षाओं में भी वृद्धि करेगा।

जॉन रॉल्स अपने विभेद सिद्धान्त की व्याख्या करने के पश्चात् के दूसरे सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखता है कि सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को इस प्रकार से व्यवस्थित किया जाए, जिससे-

(अ) सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति को अधिकतम लाभ मिले, एवं

(ब) अवसरों की उचित समानता की स्थिति में सबसे लिए पद एवं पदानुबंग से संबंधित हो।

यह विभेद का सिद्धान्त न्याय के सामान्य सिद्धान्त से भी " है। हम यह कह सकते हैं कि जब विभेद के सिद्धान्त को स्वतंत्रता एवं अवसरों जैसे प्रारंभिक पर लाग किया जाए और उन पर दूसरे हि२रो में वर्णित बंधनों का प्रतिबंध न हो तो वह न्याय सामान्य सिद्धान्त है।

अवसरों की उचित समानता के सिद्धान्त की यह भूमिका है वह करें कि सामाजिक सहयोग की व्यवस्था से प्रक्रियात्मक न्याय का रास्ता सुगम हो।

न्याय के विशिष्ट सिद्धान्त के दूसरे सिद्धान्त के दूसरे भाग में अक्षरों की उचित समानता के उदारवादी सिद्धान्त को स्पष्ट करना आवश्यक है। ऐसा संभव है कि पदानुशंग को सभी के लिए खुला नहीं रखने पर और केवल कुछ योग्यताचारियो को ही पद प्राप्त कर्ता की खुली छूट होने पर सबसे कम लाभान्वित उस व्यक्ति को भी पद प्राप्त हो सकता है जिसको। इस पदानुशग को प्राप्त करने का अवसर नहीं ऐसा माना जा सकता है कि जो उच्चतर योग्यता

वाले व्यक्ति इन पदों पर आसीन हैं वो ऐसे विवेकीकृत निर्णय ले जो सबसे कम लाभान्वित व्यक्तियों।उ के समूह को लाभ पहुंचा सके लेकिन वह अवसरों को उचित समानता नहीं होगी। ऐसा संभव है यह समूह जिसे मजबूरी में अपने को इन पदों से अलग रखना पड़े उस समूह को इन पदों पर आस्तीन व्यक्तियों के निर्णय से लाभ मिले लेकिन समूह के सदस्य हमेशा यह सोचते रहेंगे कि उन्हें पदों पर आसीन नहीं होने दिया गया और उन्हें इसमें अन्याय की भावना महसूस होगी। एक राज्य का मंत्रिमण्डल उच्च जाति से संबंधित रखने वाले व्यक्तियों का बना हो तथा का दलितों के जीवन स्तर को बेहतर करने के लिए निर्णय लेता हो तब भी दलित इस व्यक्ति से खुश नहीं होंगे जितने खुश मंत्रिमण्डल में दलितों को प्रतिनिधित्व मिलने से होंगे। चाहे ये दलितों के हित में उतनी दक्षता से कार्य नहीं कर सके जितनी दक्षता से उच्च जाति के व्यक्ति दलितो के पक्ष में कार्य कर सकते हों। ऐसी सोच उचित मानी जा सकती है, क्योंकि वे अपने स्व के से वंचित हो जायेंगे जो कि सामाजिक कर्त्तव्यों के निर्वहन से होता है।

मूल संरचना न्याय का प्राथमिक विषय है। इसका अर्थ है कि वितरण की पहली समस्या मूलभूत अधिकारों और कर्त्तव्यों को संलग्न करना और सामाजिक, आर्थिक समस्याओं को विनियमित करता है। हालांकि कोई भी नैतिक सिद्धान्त न्याय के विषय के रूप में मूल संरचना के महत्व, को पहचानना है लेकिन सभी सिद्धान्त इसको समान महत्व नहीं देते। 'न्याय उचितता के रूप में' समाज में परस्पर सहयोग को प्राप्त करने के लिए सहयोगी कार्य के रूप में मूल संरचना की व्याख्या करते हैं। मूल संरचना नियमों की एक सार्वजनिक संरचना है जो गतिविधियों की योजना को परिभाषित करती है जिसमें व्यक्ति आपसी सहयोग से लाभों के अधिक योग की उत्पादित करते हैं और उन लाभों को उचित रूप से वितरित करते हैं। एक व्यक्ति क्या करता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि सार्वजनिक नियमों के अनुसार वह क्या करने के लिए अधिकृत है और वह क्या कार्य करता है। परिणामस्वरूप वितरण का आधार यह होगा कि व्यक्तियों ने वैध अपेक्षाओं के संदर्भ में क्या किया है?

इस प्रकार वितरण का यह प्रश्न मूलत: प्रक्रियात्मक न्याय से संबंधित है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक व्यवस्था ऐसी बनायी जाए जिससे कि सामाजिक नीतियों से न्याय मिले, चाहे वे नीतियां कुछ भी हों। जब तक ये नीतियां सीमित संदर्भ में बन रही हैं, सही नीतियां हैं। शुद्ध प्रक्रियात्मक न्याय को समझने के लिए इसकी तुलना पूर्ण एवं अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय से करनी आवश्यक है। पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय को स्पष्ट करने के लिए उचित विभाजन के सरल उदाहरण को देखा जा सकता है। कुछ व्यक्तियों को मिलकर एक को विभाजित करना है, यह मानकर कि उचित विभाजन समान विभाजन है। यह प्रश्न उठता है कि इसके लिए कैसी प्रक्रिया अपनाई जाए? इसकी बारीकियों को अगर हम छोड़ दें तो इसका स्पष्ट समाधान यह है कि जो व्यक्ति को विभाजित करे वही का अंतिम हिस्सा ले। वह को समान रूप से विभाजित करेगा, क्योंकि केवल इसी तरीके से वह अपने लिए संभावित अधिकतम हिस्सा लेना तय कर सकता हे। यह उदाहरण पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय की दो प्रमुख विशेषताएं बताता है। पहली यह है कि उचित विभाजन को परिभाषित करने के लिए इसका एक स्वतंत्र मापदण्ड है और इसको जिस प्रक्रिया में लागू किया जा रहा है उससे अलग और उससे पूर्व इस प्रकार लागू करना संभव है जो अपेक्षित परिणाम दे सके। हालांकि इसमें कई मान्यताओं को स्वीकार किया गया है जैसे जो

व्यक्ति काटेगा वह को समान रूप से काट सकता है और वह सबसे बड़ा हिस्सा लेना चाहता है आदि। मुख्य बात यह है कि यह जानने के लिए कौन-सा परिणाम न्यायप्रिय है, एक स्वतंत्र मापदण्ड होता है और उसे प्राप्त करने के लिए एक निश्चित प्रक्रिया है।

अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय को हम एक अपराधी मुकदमे से समझ सकते हैं। ऐसे मुकदमे में इच्छित परिणाम यह होता है कि अगर घोषित अपराधों ने वास्तव में यह अपराध किया है जिसका कि उस पर आरोप है तब उसे अपराधी घोषित किया जाए। मुकदमे की प्रक्रिया इस प्रकार की जाती है कि इससे संबंधित सत्य को पहचान कर उस सत्य को स्थापित किया जा सके लेकिन ऐसे कानूनी नियमों को बनाना लगभग असंभव है जो सही परिणामों तक इसको ले जा सके। मुकदमे का सिद्धान्त यह परीक्षण करता है कि वे कौन-सी प्रक्रियाएं और नियम हैं जो इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए सर्वश्रेष्ठ है तथा दूसरे कानूनों से संगत है। इसलिए विभिन्न मुकदमों को सुनने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग व्यवस्थाएं की जाती है जिससे की सही परिणाम आ सके। एक कानून का सही प्रकार से अनुसरण करने और उसकी कार्यवाही को उचित और सही ढंग से चलाने पर भी गलत निर्णयों पर पहुंचा जा सकता है। अपराधी पकडा जा सकता है और अपराधी को छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार के मुकदमों में हमें न्याय सही प्रतीत नहीं होता लेकिन यह अन्याय किसी मानवीय दोष के कारण नहीं होता अपितु परिस्थितियों के विशेष प्रकार के संयोग का नतीजा होता है जो वैध कानूनों के उद्देश्यों को समाप्त कर देते हैं।

एक अपूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय की मुख्य सीमा यह होती है कि इससे सही परिणामों के लिए एक स्वतंत्र मापदण्ड भी होता है लेकिन उसको प्राप्त करने के लिए सही प्रक्रिया नहीं होती है। एक पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय में प्रक्रिया की उचितता होती है जिससे कि परिणाम उचित व सही आते हैं। इस प्रकार एक पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें न्याय पूर्ण परिणामों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रक्रियाओं को अपनाया जा सकता है। परिणाम न्यायी तब ही हो सकते हैं जब आवश्यक प्रक्रियाएं वास्तव में अपना ली गयी हो। इसलिए पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय को विवरणात्मक स्थिति में लागू करने के लिए न केवल संस्थाओं की न्यायिक व्यवस्था की स्थापना आवश्यक है अपितु उन्हें निष्पक्ष रूप से प्रशासित करना भी आवश्यक है। न्यायिक मूल संरचना की पृष्ठभूमि में ही न्यायिक प्रक्रिया का अस्तित्व होता है और यह संरचना एक न्यायपूर्ण राजनैतिक संविधान तथा आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं की न्यायपूर्ण व्यवस्था से बनती है। इससे यह प्रतीत होता है कि उचित अवसरों के सिद्धान्त की भूमिका यह है कि वह सहयोग की व्यवस्थाओं को एक पूर्ण प्रक्रियात्मक न्याय के रूप में स्थापित करे और जब ऐसा न हो तब तक विवरणात्मक न्याय की बात न की जाए।

इस प्रकार रॉल्मीय न्याय पूर्ण का पूर्ण कथन निम्नांकित तरीके से लिखा जा सकता है-

प्रथम सिद्धान्त - प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी अत्यन्त विस्तृत स्वतंत्रता का समान अधिकार है जो दूसरो की ऐसी ही स्वतंत्रता के अनुरूप हो।

द्वितीय सिद्धान्त - सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ इस से व्यवस्थित की जाए जिससे कि वे (अ) सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति के अधिकतम लाभ का कि न्यायपूर्ण बचत के

सिद्धान्त के संगत हो। तथा (ब) अवसरों की न्यायोचित समानता की स्थिति के अन्तर्गत सबके लिए खुले पद एवं पदानुशग से सम्बन्धित हो।

प्रथम प्राथमिकता का नियम (स्वतंत्रता की प्राथमिकता) - न्याय के सिद्धान्तों को शब्दकोशीय व्यवस्था में पदानुकमित किया जाएगा और इसलिए स्वतंत्रता स्वतंत्रता के लिए ही बाधित हो सकती है। इस प्रकार दो स्थितियां हैं- प्रथम - कम स्वतंत्रता सबके साझे की स्वतंत्रताओं की पूर्ण व्यवस्था को शक्ति प्रदान करे एवं द्वितीय - स्वतंत्रता से कम स्वतंत्रता वाले नागरिकों को यह स्थिति स्वीकृत हो।

द्वितीय प्राथमिकता का नियम (दक्षता एवं कल्याण की तुलना में न्याय की प्राथमिकता)

न्याय का दूसरा सिद्धान्त दक्षता के सिद्धान्त एवं लाभों के योग का अधिकतमकरण से शब्दाकोशीय क्रम से पूर्व है एवं उचित अवसर विभेद सिद्धान्त से पूर्व है।

दो स्थितियां हैं - **(अ)** अवसरों की असमानता उन लोगों क अवसर, जिनके पास कम अवसर हैं। **(ब)** बचत की बढ़ी हुई दर उन लोगों के कष्ट कम कर सके अपेक्षाकृत कष्ट मयी जीवन व्यतीत कर रह हैं।

सामान्य अवधारणा

सभी प्राथमिक-सामाजिक वस्तुओं (मूल्यों)- स्वतंत्रता एवं अवसर, आय एवं धन एवं आत्म-सम्मान के आधारों को समान रूप से वितरित किया जाए जब तक कि सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति का अहित न हो।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि राल्स न्याय का एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहा है जो न्याय के मूल स्वरूप एवं वितरण दोनों से सम्बन्धित है तथा जिस आधारित राजनैतिक व्यवस्था उदारवादी होने के साथ-साथ सामाजिक न्याय को स्थापित भी कर सके। इस सिद्धान्त ने उदारवाद के उपयोगितावाद आधार की कमियों को दूर किया है तथा उदारवाद को दुनिया में एक लगभग विकल्पहीन विचारधारा के रूप में स्थापित करने में मदद की है।

10.6 सारांश

जॉन रॉल्स न्याय को सामाजिक संस्थाओं का प्रथम सद्गुण मानता है, और इसलिए वह एक ऐसे आदर्श समाज की संरचना करना चाहता है जो न्याय पर आधारित हो। रॉल्स का न्याय प्राकृतिक न्याय नहीं होकर सामाजिक न्याय है। रॉल्स यह मानता है कि उचित न्याय के लिए न्याय के सिद्वान्त की प्रक्रिया भी उचित होनी चाहिए। प्रक्रिया को महत्व देने के कारण रॉल्सीय न्याय को प्रक्रियात्मक न्याय भी माना जाता है। न्याय के सिद्धान्तों के खोज की उचित प्रक्रिया अपनाने के लिए रॉल्स मूल स्थिति की अवधारणा देता है। मूल स्थिति वह आरम्भिक स्थिति है जिसमें न्याय के सिद्धान्तों को खोजने के लिए व्यक्ति सामाजिक समझौते का सहारा लेते है। यह मूल स्थिति एक काल्पनिक अवस्था है ऐतिहासिक या वास्तविक नहीं। राज्य की उत्पत्ति के लिए रॉल्स, हाब्स, लॉक एवं रूसो की तरह सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को मानता है। रॉल्स की "मूल स्थिति" सामाजिक समझौतावादियो की "प्राकृतिक अवस्था" की अवधारणा से तुलनीय है। मूल स्थिति के व्यक्ति विवेकी होते है और न्याय के सिद्धान्तों की

खोज वस्तुनिष्ठ तरीके से करने के लिए "अज्ञान के पर्दे" में रहते हैं। यह "अज्ञान के पर्दे" व्यक्ति की वर्गीय स्थिति विस्तृत कर देता है। जिससे व्यक्ति विवेकीकृत तरीके से वस्तुनिष्ठता में न्याय के सिद्धान्त खोजता है। ऐसा व्यक्ति स्वतंत्र, विवेकी, नैतिक, अज्ञान के पर्दे से विस्मृत हुआ एवं अन्य व्यक्तियों के प्रति उदासीन है।

रॉल्स के अनुसार विवेकी व्यक्ति स्वहित से प्रेरित होता है और परोपकार उसका स्वाभाविक गुण नहीं है। इसलिए वह समझौता स्वहित को पूरा करने के लिए ही करता है। ऐसे व्यक्ति जिस न्याय की खोज करते हैं उसे रॉल्स "न्याय उचितता के रूप में" परिभाषित करता है। ऐसे व्यक्ति एक ही कृत्य में आपस में समझौता करते हैं। उनके द्वारा ऐसे सिद्धान्त चुने जाते है जिनमें व्यक्तियों को मूल अधिकार एवं कर्त्तव्य दिये जा सके एवं सामाजिक लाभे का बंटवारा हो सके। न्याय के वे सिद्धान्त दो तरह के होते हैं। **सामान्य सिद्धान्त एवं विशिष्ट सिद्धान्त।**

सामान्य सिद्धान्त के अनुसार - सभी प्राथमिक -सामायिक वस्तुएँ (मूल्य) स्वतंत्रता एवं अवसर, आय एवं धन एवं आत्म-सम्मान के आधारों को समान रूप से वितरित किया जाए जब तक कि सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति का अहित न हो।

वशिष्ठ सिद्धान्त के दो सिद्धान्त हैं - (1) प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी अत्यन्त विस्तृत मूल स्वतंत्रता का समान अधिकार है जो दूसरों की ऐसी ही स्वतंत्रता के अनुरूप हो। (2) सामाजिक और आर्थिक असमानाऐ इस प्रकार से व्यवस्थित की जाए जिससे कि (अ) सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति को अधिकतम लाभ मिल सके, तथा (ब) अवसरों की न्यायोचित समानता की स्थितियों के अन्तर्गत सबके लिए खुली पद एवं पदानुशंग से सम्बन्धित हो।

विशिष्ट सिद्धान्त में शब्दकोषिय व्यवस्था का प्राथमिकता का सिद्धान्त लागू होता है जिसका अर्थ है कि जब तक प्रथम सिद्धान्त तुष्ट नहीं होगा, दूसरा सिद्धान्त आरम्भ नहीं होगा। इस प्रकार जब तक लोगों को समान व पर्याप्त स्वतंत्रता नहीं मिलेगी तब तक सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति के लाभ की बात न रह जाएगी। रॉल्स न्याय के विशिष्ट सिद्धान्त में अधिक रूचि लेता है तथा अपनी पुस्तक में विचार से इसकी विवेचना करता है। न्याय के ऐसे सिद्धान्त चुनने के पश्चात् उन पर आधारित राज्य को मूर्त स्वरूप प्रदान करने के लिए एक संवैधानिक सम्मेलन बुलाया जाता है जिसमें लोगों के प्रतिनिधि न्याय के विशिष्ट सिद्धान्त पर आधारित राज्य का संविधान बनाते हैं तथा संविधान को लाग करने के नियम बनाते हैं। ऐसे आदर्श राज्य को रॉल्स "संविधानिक प्रजातंत्र" नाम देता है। संस्थागत कार्यो के लिए रॉल्स सरकार को चार शाखाओं में विभाजित करता है- आवंटिन शाखा, स्थरीकरण शाखा, स्थानान्तरण शाखा एवं वितरणात्मक शाखा।

10.7 परिभाषित शब्दावली

1. मूल संरचना :

किसी समाज की वे संस्थाएँ (राजनैतिक संविधान, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाऐं इत्यादि) जो समाज में अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का वितरण करती है तथा, सहयोग से प्राप्त लाभों को विभाजित करती है।

2. विभेदी सिद्धान्त :

रॉल्सीय न्याय में इसका अर्थ है कि आर्थिक-सामाजिक असमानताएँ तभी तक न्यायोचित है जब तक उससे समाज के सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति को लाभ हो।

3. न्याय उचितता के रूप में :

न्याय के सिद्धान्त को बनाने की प्रक्रिया उचित होने के कारण न्याय उचितता के रूप में परिभाषित होता है।

4. शब्दकोशिय व्यवस्था

रॉल्सीय न्याय में इसका अर्थ है कि जब तक न्याय का पहला तुष्ट नहीं हो जाए दूसरे सिद्धान्त तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

5. मैक्सीमिन नियम :

मूल स्थिति में विशिष्ट न्याय के दूसरे सिद्धान्त के पहले भाग बनाने में मैक्सीमिन नियम लाग होता है। जिसके अनुसार सामाजिक, आर्थिक असमानताओं को बनाए रखा जा सकता है जब उससे सबसे कम लाभान्वित व्यक्ति को लाभ मिल सके।

6. मूल स्थिति :

वह उपयुक्ता काल्पनिक आरम्भिक स्थिति जिसमें किया गया समझौता उचित होता है। यह समझौता न्याय के ऐसे सिद्धान्त बनाने के लिए किया जाता है उचित है। इसकी तुलना सामाजिक समझौतावादियो के "प्राकृतिक अवस्था" से की जा सकती।

7. विमर्शी समत्व

ऐसी आरंभिक स्थितियां जिसमें उपयुक्त परिस्थितियां हो और जो व्यक्तियों के सोचे समझे निर्णयों के अनुकूल सिद्धान्तों को जन्म देती हो।

8. सामाजिक समझौता :

वह सिद्धान्त जिसके अनुसार राज्य, सरकार या समाज का निर्माण व्यक्तियों द्वारा सामाजिक समझौते में किया जाता है। हॉब्स, लॉक, रूसो एवं कॉण्ट इसके प्रमुख प्रणेता है।

9. अज्ञान का पर्दा :

मूल स्थिति में व्यक्ति समझौता करते समय अपनी वर्गीय, सामाजिक हैसियत, स्वाभाविक योग्यता, बुद्धि एवं क्षमताऐं नहीं जानता है जिससे की वस्तुनिष्ठ तरीके से हो सके। व्यक्ति के इस अज्ञान को रॉल्स "अज्ञान का पर्दा" की संज्ञा है।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1. 1 रॉल्सीय न्याय का मूल विचार बताइये।
2. रॉल्सीय न्याय के दोनों सिद्धान्तों को समझाइये।
3. "उचित अवसर की समानता" से क्या तात्पर्य है?

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नरेश दाधीच – जॉन रॉल्स का न्याय का सिद्धान्त, आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2003

2. लीलाराम गुर्जर – बीसवीं सदी के राजनीतिक विचारक, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
3. जॉन राल्स – ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हारवर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, कैम्बिज, 1971

इकाई-11

विधि के शासन व संविधानवाद

इकाई की रुपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 विधि के शासन व संविधानवाद का अर्थ

11.2.1 विधि के शासन का अर्थ

11.2.2 विधि के शासन की सीमाएं

11.3 संविधानवाद

11.3.1 संविधानवाद का अर्थ व परिभाषा

11.3.2 संविधान व संविधानवाद में अन्तर

11.3.3 संविधानवाद के आधार व तत्व

11.3.4 संविधानवाद की विशेषताएं

11.3.5 संविधानवाद की अवधारणाएं

11.3.6 संविधानवाद की समस्याएं एवं समाधान

11.4 सारांश

11.5 अभ्यास प्रश्न

11.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे -

- विधि के शासन एवं संविधानवाद के तर्क एवं प्रांसगिकता के साथ प्रस्तुतीकरण
- विधि के शासन एवं संविधानवाद के अर्थ व विशेषताओं का निरुपण, तथा
- विधि के शासन एवं संविधानवाद का मूल्याकंन तथा उसकी उपयोगिता उपादेयता का स्पष्टीकरण।

11.1 प्रस्तावना (Introduation)

प्रस्तुत इकाई में हम आपको विधि का शासन एवं संविधानवाद की अवधारणा, अर्थ एवं उपयोगिता के बारे में जानकारी प्रदान करने की कोशिश करेंगे। हम देखेंगे की विधि के शासन की अवधारणा सबसे पहले पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन में प्राचीन यूनान में दिखाई पडती है। उस काल में सुकरात ने निर्दोष होते हुए भी विधि की पालना हेतु मृत्युदण्ड को स्वीकार किया। प्राचीन में तो रोमन सम्राट जस्टीनियन ने विधि शास्त्रियों की सहायता से विधि का संहिताकरण करवाया था। जंहा तक भारत के सन्दर्भ में विचार करे तो हमें ज्ञात होगा कि प्राचीन भारत में ऐसी परम्पराओं का उल्लेख मिलता है जो किसी न किसी रूप में विधि के शासन का अर्थ,

विशेषताएं व आलोचनाओं का विभिन्न बिन्दुओं में अध्ययन कर उसकी उपयोगिता का विश्लेषण करेंगे।

विधि के शासन के साथ-साथ संविधानवाद का अध्ययन भी हमारा विषय क्षेत्र रहेगा। हम संविधानवाद क्या है ? इसका उत्तर भी तलाशने का प्रयास करेंगे। इस के सन्दर्भ में के. सी. व्हीलर का मत है कि "सविधानवादी शासन का अर्थ किसी संविधान के कानूनों के अनुसार शासन किये जाने से कुछ अधिक है। इसका अर्थ है कि स्वेच्छाचारी शासन से विपरीत प्रकृति वाले कानूनों के अनुसार शासन। संविधानवाद की वास्तविक सार्थकता और उसमें निहित मौलिक उद्देश्य यही है कि शासन की सीमायें सुनिश्चित की जा सकें और शासक वर्ग पर कानूनों एवं नियमों के पालन का बन्धन स्थापित हो। सामान्य शब्दों में हम कह सकतें है कि राजसत्ता के प्रयोग की सीमायें एवं मर्यादायें सुनिश्चित किया जाना ही संविधानवाद है।

11.2 विधि के शासन एवं संविधानवाद का अर्थ

विधि के शासन की धुधली अवधारणा तो हम लोग सभ्यता के प्रारम्भ से ही देख सकतें है लेकिन स्पष्ट अवधारणा का चित्रण सर्वप्रथम प्राचीन यूनान में दिखाई देता है। आपको ज्ञात होगा कि सुकरात प्राचीन यूनान के एथेन्स राज्य का नागरिक था, जो विधि (कानून) को प्राकृतिक व अनुल्लंघनीय मानता था। इस महान् दार्शनिक पर तत्कालीन लोकतांत्रिक सरकार ने एथेन्स की विधि के उल्लंघन का झूठा आरोप लगाया और मृत्युदण्ड की सजा दी। उसके शिष्यों ने उसे जेल से भगाने का पूरा इन्तजाम कर दिया किन्तु उसने जेल से भागने के बजाय एथेन्स की विधि के पालनार्थ जहर पीकर मृत्युदण्ड को स्वीकार किया।

प्राचीन रोम सम्राज्य में भी हमें विधि के शासन की अवधारणा का उल्लेख मिलता है। रोमन सम्राट जस्टीनियन ने तो विधि के शासन का संहिताकरण भी करवाया था। यहां यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि जहां यूनानी विधि का आधार नैतिक व दैवीय था, वही रोम में विधि का आधार लौकिक था।

भारत के परिवेष में यदि हम विचार करते है तो हमें ज्ञात होगा कि प्राचीन भारत में ऐसी परम्पराएं रही है जो किसी न किसी रूप में विधि के शासन को प्रतिपादित करती है। जहां मनु शुक्र ने राजा को देशांश तो माना है किन्तु उसकी शक्ति पर धर्म, नैतिकता व परम्परा का बन्धन भी स्थापित किया है।

11.2.1 विधि के शासन का अर्थ

सामान्य शब्दों में यदि हम विधि के शासन को परिभाषित करे तो इससे आशय यह होगा कि शासन का निर्माण विधि के अनुसार हो, शासन की शक्तियों का निर्धारण विधि द्वारा हो एवं शक्तियों का प्रयोग भी विधि के अनुसार ही किया जाये। और अधिक सरल शब्दों में यदि हम समझने का प्रयास करे तो कहा जा सकता है कि विधि के शासन का आधार विधि होना चाहिये।

वर्तमान उदारवादी राजनीतिक विचारधारा ने तो विधि के शासन को सुखद आधार प्रदान किया है। यहाँ इतिहास के उस सत्य को स्वीकार करती है कि सर्वोतम व्यक्ति का शासन चाहे

कितना ही अच्छा क्यों न हो, अंत में स्वेच्छाचारी शासन में बदल ही जाता है, इसलिए व्यक्ति के शासन के स्थान पर विधि का शासन ही स्थापित किया जाना चाहिये।

विधि के शासन की अवधारणा पर मुख्य रूप से तीन बातों पर जोर दिया जाता है, और इन बिन्दुओं को प्रो. डायसी ने अपने ग्रंथ 'इन्ट्रोडत्मान टू दि लॉ ऑफ दि कॉन्स्टिट्यूशन में उल्लेख किया है। ब्रिटेन के संविधान का आधारभूत सिद्वान्त विधि का शासन ही है आधुनिक विश्व के अधिकांश राष्ट्रो ने इस सिद्वान्त को स्वीकारा है। प्रो. डायसी के अनुसार के शासन की तीन प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार है:

I. **विधि शासक से सर्वोच्च है -** इस व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान विधि को प्राप्त है, शासन की सत्ता का प्रयोग करने वाले किसी सम्राट या अधिकारी को नहीं। इस शासन व्यवस्था में शासक या सरकारी अधिकारियों को अपने मनमाने तरीके से शासन संचालन का अधिकार नहीं मिलता है अपितु वे विधि द्वारा स्थापित व्यवस्था के अन्तर्गत ही अपनी शक्तियों का प्रयोग कर शासन संचालन करते है। किसी भी व्यक्ति को अधिकारियों द्वारा तभी दण्डित किया जा सकेगा, जब उस व्यक्ति पर न्यायलय द्वारा यह आशय सिद्ध किया जाये कि उसने देश की सामान्य विधि का उल्लंघन किया है।

II. **विधि के समक्ष सभी समान -** विधि राजा या रंक में कोई भेद नहीं करेगी। विधि के शासन व्यवस्था में शासन की शक्ति का प्रयोग करने वाला शासक या अधिकारी सर्वोच्च शक्तिशाली नहीं होगा बल्कि विधि को सर्वोच्च स्थान प्राप्त रहेगा। शासक या अधिकारी के अधिकार विधि में निहित रहेगा, न कि वे स्वयं शक्ति के स्त्रोत होगे। उस व्यवस्था में शासक को मनमाने तरीके से शक्तियों के प्रयोग का अधिकार नहीं होगा, बल्कि वह विधि द्वारा निर्धारित शक्तियों का प्रयोग विधि की सीमाओं के अन्तर्गत रहकर ही कर सकता है। विधि के सम्मुख सभी व्यक्ति समान होगें तथा न्यायलयों द्वारा सभी व्यक्तियों के लिए समान न्यायिक प्रक्रिया अपनाई जायेगी। सामान्य शब्दों में समझाये तो इसका आशय यह है कि नागरिकों के सभी वर्गों पर एक ही प्रकार की विधि लागू होगा। डायसी के शब्दों में हमारे लिए प्रधानमंत्री से लेकर एक सिपाही या कर वसुलने वाले तक सभी प्रशासनिक व्यक्ति अपने ऐसे कार्यो के लिए जो विधि की सीमा का उल्लंघन करते हो, विधि के सामने उतने ही जवाब देही होगें जितना कोई सामान्य नागरिक होता है।

III. **व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा -** विधि के शासन के प्रबल समर्थक डायसी का मानना है कि जहाँ विश्व के अय राष्ट्रों में मनुष्यों को संविधान द्वारा अधिकार प्रदत किये गये है एवं उसकी रक्षा के लिए संवैधानिक उपायों को प्रावधान किया गया है वही ब्रिटेन में व्यक्तियों के अधिकारों का आधार अतीत के न्यायिक निर्णय व अभिसमय है। मनुष्य को मनुष्य होने के नाते कुछ ऐसे अधिकार भी प्रदत्त हैं जिनको संविधान के दायरें में नहीं माना जा सकता तथा इन अधिकारों की व्याख्या भी केवल न्यायालय द्वारा ही सम्भव है। विधि के शासन की अवधारणा ही ब्रिटेन में व्यक्ति को शासक की शक्ति से मुक्त करती है। हमें यहाँ यह ध्यान देना है कि डायसी महोदय इसे ओर अधिक स्पष्ट

समझाते का प्रयास करते है। उनके अनुसार सिर्फ उस स्थिति को छोड़कर कि जब विधि द्वारा एकदम स्पष्ट कर दिया गया हो कि विधि का उल्लंघन किया गया है, किसी व्यक्ति को दण्ड नहीं दिया जा सकता था उसे कानूनी आधार पर शारीरिक या आर्थिक हानि नहीं पहुचाई जा सकती है। इस अर्थ में विधि का शासन, शासन की ऐसी प्रत्येक प्रणाली का विरोधी है, जो सत्ताधारियों को आयोजनो पर बलपूर्वक विभिन्न प्रतिबन्ध लगाने की ऐच्छिक व स्व-विवेकिय शक्तियां देने में विश्वास करती हो।

11.2.2 विधि के शासन की सीमाएं

हम ब्रिटिश शासन व्यवस्था का अध्ययन करते है तो पायेगें कि अनेकों ऐसे तथ्य मौजूद है जो विधि के शासन की अवधारणा से विपरित है। आपको ज्ञात होगा कि डायसी ने ब्रिटेन में विधि के शासन की तीन सैद्धान्तिक मान्यताओं को स्वीकार किया है जिसे आज की ब्रिटेन की शासन व्यवस्था का सैद्वान्तिक आधार कहा जाता है। परन्तु वास्तव में आज के सिद्वान्त व्यवहार में लागू नहीं है और यह कहना ज्यादा उचित होगा कि "ब्रिटेन में राजनीतिक आवश्यकताओं एवं वास्तविकताओं के दबाव में विधि के शासन की धारणा को नये रूप में परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन विधि के मूल विचार का उल्लंघन नहीं हैं, अपितु उसका अपवाद मात्र है। "आज के ब्रिटेन में विधि के शासन का मूल विचार सैद्वान्तिक रूप से मान्य है, परन्तु आधुनिक युग की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार विधि के शासन की सीमाएं स्वीकार ली गई हैं। जिनको हम निम्न बिन्दुओं से समझ सकते है -

I. अधिकारियों को प्रदत्त विवेकात्मक शक्तियां - यहां हमें यह मालूम होगा कि डायसी द्वारा की गई विधि की व्याख्या में अधिकारियों को किसी प्रकार की विवेकात्मक शक्तियां प्रदान नहीं की जाती है क्योंकि इससे अधिकारियों के स्वेच्छारी बनने की आशंका रहती है। इससे नागरिकों की स्वतन्त्रता पर भी विपरित प्रभाव पडने की सम्भावना रहती है, किन्तु आधुनिक युग में लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में सार्वजनिक हित पूर्ति हेतु अधिकारियों को विवेकात्मक शक्तियां प्रदान कर दी गयी जिससे वे दायित्वों को पूर्ण कर सकेंगे।

II. लोक सेवा अधिकारियों की विशेष स्थिति - यह तो आपको मालूम ही है कि विधि के शासन में सामान्य नागरिकों व लोक अधिकारियों में कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन ब्रिटेन में लोक सेवा अधिकारियों को एक सीमा तक विशेष अधिकार प्रदान किये गये है, जो सामान्य नागरिकों को नहीं है। उदाहरण के लिए सन् 1892 का "लोक अधिकारी संरक्षण अधिनियम" प्रशासनिक अधिकारियों को दो प्रकार से कानूनी सुरक्षा प्रदान करता है जोकि निम्न हैं -

किसी सरकारी कर्मचारी के खिलाप कोई भी न्यायिक मुकदमा उसके द्वारा किये गये अपराध के छः महीने के काल में ही चलाया जा सकता है, उस समयावधि के बा द नहीं। 2. यदि सरकारी कर्मचारी पर न्यायालय द्वारा अपराध सिद्व नहीं किया गया तो मुकदमा चलाने वाले व्यक्ति को खर्च देना पडेगा।

उपरोक्त व्यवस्था के कारण कोई सामान्य व्यक्ति लोक सेवक पर मुकदमा दायर करने की हिम्मत ही नहीं कर पायेगा।

III. प्रदत्त व्यवस्थापन - पिछले कुछ समय से राज्य के कार्यो व कानूनों की संख्या अधिक बढ जाने के कारण व्यवस्थापिका के द्वारा अपनी कानून निर्माण की शक्ति का एक बड़ा हिस्सा कार्यपालिका को सौंप दिया है, जिसे ही प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा भी विधि के शासन के सीमित किया जाता है। डायसी के द्वारा प्रतिपादित विधि के शासन का अर्थ यह है कि प्रशासन को प्रत्येक कार्य या तो सामान्य कानून द्वारा या संसदीय कानून द्वारा अधिकृत हो किन्तु प्रदत्त व्यवस्थापन की व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासन स्वयं द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार ही कार्य करता है।

IV. न्यायालय एवं प्रशासनिक नियमों की व्यवस्था - विधि के शासन के अनुसार सामान्य व राजकीय अधिकारी, यानि दोनों के लिए समान नियम व समान न्यायालय हो, किन्तु ब्रिजे के व्यवहार में ऐसा नहीं है। आधुनिक काल में ब्रिटेन में प्रशासनिक नियमों तथा प्रशासनिक न्यायालयों की ऐसी व्यवस्था पायी जाती है, जो साधारण व्यक्ति तथा प्रशासनिक अधिकारियों को अर्द्व-विधायी एवं अर्द्व-न्यायिक अधिकार प्राप्त हो गये है। और साधार व्यक्ति सामान्य विधि एवं सामान्य न्यायालय के स्थान पर उनके नियन्त्रण में आ गया है ' इस व्यवस्था को समझने के लिए हम किराया अधिनियम को ही ले सकते है। किसी मकान की कीमत "मूल्य निर्धारण अधिकारी' द्वारा निश्चित की जाती है मकान के इस मूल्य के आधार पर उस अधिकारी द्वारा ही मकान का किराया तय, जाता है। यह कार्य अधिकारी द्वारा उसके विभाग के बनाये गये नियमों के अनुसार है। यदि सम्बन्धित पक्ष को उस निर्णय से सहमति नहीं है तो वह 'मूल्य निर्धारण " में अपील कर सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि उपयुक्त व्यवस्था के ' को बनाने, लागू करने तथा इसके आधार पर न्याय करने आदि सभी कार्य करने वाला प्रशासनिक अधिकारी वर्ग होता है। इस प्रकार हम देखते है कि यह सम्पूर्ण व्यवस्था विधि शासन की मूल भावना का उल्लंघन करती है किन्तु आधुनिक काल में इस व्यवस्था को माना जाता है।

V. विधि के शासन की कुछ अन्य सीमाएं - हमें यहां यह भी लेना चाहिये कि कुछ ऐसे क्षेत्र भी है जहां इग्लैण्ड की विधि का कोई नियन्त्रण नहीं है। उदाहरण के तौर पर यदि हम देखे तो, इग्लैण्ड के सम्राट के विरूद्ध किसी भी में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता एवं किसी न्यायालय के सम्मुख उसे पेश नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार विधि का शासन विदेशी शासकों व राजदूतों पर भी नहीं होता। गृहमंत्री को यह अधिकार है कि वह किसी विदेशी नागरिक को ब्रिटिश का अधिकार दे सकता है, या छीन सकता है।

वास्तव तकें आज ब्रिटेन में उस रूप में विधि का शासन विद्यमान नहीं -जिस रूप में डायसी के द्वारा उसका चित्रण किया गया है। आज इंग्लैण्ड में विस्तृतरूपों में इसका उल्लंघन किया जाता है।

बोध प्रश्न- 1

नोट दी गई खाली जगह में उतर लिखे।

प्रश्न1. विधि के शासन से आप क्या समझते है ?

उत्तर: ……..……..

……..……..

प्रश्न2. विधि के शासन की प्रमुख विशेषताएं बताइये ?

उत्तर: ……..……..

……..……..

प्रश्न3. विधि के शासन की सीमाओं का वर्णन करे ?

उत्तर: ……..……..

……..……..

11.3 संविधानवाद

यहां हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि संविधानवाद क्या है? हम देखते हैं कि ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप ही संविधानिक राज्यों का जनम हुआ सी.एफ स्ट्रोंग के अनुसार संविधान का अस्तित्व वहां है जहां "शासन की शक्तियों, शासनों के अधिकार और इन दोनों के बीच संबंधो का समायोजन करती है। संविधानवाद को जितना प्राचीन माना जाता है उतनी ही इसे नवीन विचारधारा के रूप में भी स्वीकार करते है। प्राचीन समाज में राजसत्ता के उदय के साथ ही अनुमान लगाया जाता रहा है राजसत्ता के प्रति दो प्रकार की स्थायी प्रतिक्रियाएं हुई (1) पहली सार्वजनिक हित की रक्षा हेतु राजसत्ता का बने रहना तथा (2) दूसरी राजा द्वारा राजसत्ता का अमर्यादित व निरंकुश प्रयोग व्यक्ति की स्वतंत्रता व सार्वजनिक हित के लिए घातक हो सकता हैं, अत: राजसत्ता के प्रयोग की सीमाएं व मर्यादायें सुनिश्चित की जानी चाहिए। इस दूसरी प्रतिक्रिया ने ही उस राजनितिक चिंतन की परम्परा को जन्म दिया जिसका विकास आधुनिक युग में "संविधानवाद" के रूप में हुआ है।

हम देखते हैं कि मनुष्य द्वारा राजसत्ता के अत्याचार व दुरूपयोग के बचने के प्रयास के परिणाम स्वरूप संविधानवाद का जन्म हुआ। जहां प्राचीन यूनान में प्लेटो में संविधानवाद को मूलत:। नैतिक दृष्टिकोण से स्वीकारा वहीं अरसा ने इसे कानूनी दृष्टिकोण से विकसित करने का प्रयास किया है। अरसा से प्रारम्भ हुए इस विधिक दृष्टिकोण एवं परम्परा को ही आधुनिक संविधानवाद का आधार माना जाता है। यद्यपि हम देखते है कि आधुनिक संविधानवाद के विस्तृत आधार हैं, किन्तु इसका मूल आधार "विधि का शासन' ही माना जाता है।

प्राचीन काल से ही ऐसे विविध विचारो पर चिन्तन किया जाता रहा हैं जो राजसत्ता को प्रभावी ढंग से नियंत्रित कर सके एवं उसके सद्-प्रयोग में सहायक बन सके। इस दृष्टिकोण से प्राचीनकाल से ही राजसत्ता एवं नैतिक अभिबन्धनों एवं धार्मिक मान्यताओं के साथ हो शाश्वत

विधि, प्राकृतिक विधि दैवीय विधि एवं मानवीय विधि के रूप में विभिन्न उपायों पर विचार करने की लम्बी परम्परा दिखाई पडती हैं।

आधुनिक युग की यह विशेषता है कि इसमें केवल लौकिक विधि को ही संविधानवाद का मुख्य आधार माना जाता है, किन्तु व्यवहार में लौकिक विधि की पृष्ठभूमि में सदैव ही एक नैतिक या मूल्यात्मक दृष्टिकोण पाया जाता है, अत: विधि के साथ मूल्य को भी संविधानवाद का आधार माना जाता है। इस प्रकार संविधानवाद कानूनी अवधारणा के साथ ही मूल्यात्मक अवधारणा भी है।

11.3.1 संविधानवाद का अर्थ व परिभाषा

संविधानवाद को दो अर्थो में देखा जाता हैं - (1) सीमित अर्थ (2) व्यापक अर्थ। हम जानने का प्रयास करेंगे कि सीमित अर्थ में संविधानवाद से आशय हैं - एक ऐसी धारणा है जो संविधान के अनुसार शासन किये जाने को संविधानवाद माना जाता है। किन्तु यहां यह ध्यान देने की बात है कि जब स्वयं संविधान का निर्माण ही निरंकुश शासन की स्थापना के लिए हो, उसे संविधानवाद नहीं कहा जा सकता है। संवैधानिक सरकार की स्थापना यानि सीमित शक्तियों वाली सरकार का निर्माण संविधानवाद की पूर्व शर्त मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए नाजी जर्मनी में संविधान तो था किन्तु वहां संवैधानिक शासन नहीं था। वहां नाजी नेता हिटलर का निरंकुश शासन था. जिसे साधारणतया ' 'हिटलरशाही' के रूप में जाना जाता है। अतीत के सोवियत संघ पर भी हम दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि वहां संविधान तो था जिसे साम्यवादी दल व नेतृत्व दुनिया का सबसे पहला जनतांत्रिक शासन भी कहते थे, किन्तु वास्तव में वहां संविधानवाद का अभाव था। अधिकांश पश्चिमी विद्वान मानते हैं कि सोवियत संघ में संविधानवाद का अभाव था। इन उदाहरणो के निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि संविधानवाद का सीमित अर्थ व व्याख्या दोष पूर्ण है।

संविधानवाद का दूसरा दृष्टिकोण अधिक उदार व सारपूर्ण है। इसमें संविधानवाद का अर्थ केवल स्थापित संविधान अथवा विधि के अनुसार शासन नहीं है बल्कि संविधानवाद का मूल आधार ही यह है कि स्वयं संविधान व विधि इस प्रकार की हो कि वे निरंकुश व स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर उचित एवं मर्यादित शासन की स्थापना करें। **के. सी. व्हीलर** की परिभाषा उचित हैं संविधानवाद शासन का अर्थ किसी संविधान के कानूनों के अनुसार किये जाने रो कुछ अधिक है। इसका अर्थ है स्वेच्छाचारी शासन के विपरीत प्रकृति वाले ' के अनुसार शासन।

विलियम जी येण्ड्रूज के अनुसार ' 'संविधानवाद के अन्तर्गत पर दो प्रकार से मर्यादायें लागू की जाती है शक्तियों का निर्धारण करने तथा उनके प्रयोग की प्रक्रिया को तय करने। इसका अर्थ है कि संविधानवाद के दो पहलू हैं (1) स्वतंत्रता संबंधी तथा (2) प्रक्रिया संबंधी। "यहां यह उल्लेखनीय है कि अपने व्यापक अर्थ में संविधानवाद ऐसे सीमित शासन पर बल नहीं देता है जो नागरिकों की स्वतंत्रता का रक्षक हो, अपितु यह की स्वेच्छाचारिता को भी सीमित व नियन्त्रित करता हैं। संविधानवाद की अवधारणा में मुख्य बाते इस प्रकार है।

1. व्यक्ति के स्थान पर संस्थाओं के माध्यम से शासन की हो।

2. संस्थाओं के संगठन, शक्तियां व कार्य विधि द्वारा निश्चित हो।
3. विधि द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता व समानता का आदर व हित तथा सामाजिक कल्याण का उद्देश्य हो।
4. संविधानवाद का मूर्तरूप संविधान है, जिसमें संविधानवाद के लक्षण हो।

11.3.2 संविधान व संविधानवाद में अन्तर

अनेकों बार संविधान के अनुसार शासन किये जाने को संविधानवाद कह दिया जाता है, किन्तु वास्तव में यह गलत विचार है। यह आपको भलीभाती ज्ञात है कि संविधान निरंकुश व स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना भी कर सकता है, तब ऐसे संविधान स्थिरता शासन को संविधानवाद नहीं कहा जा सकता है। विलियम जी. एण्डूज ने लिखा है "संविधान का होना संविधानवाद की गारण्टी नहीं है। निरंकुश शासन संविधान को अपनी छिपाने का अच्छा साधन मान सकते हैं और ऐसा कर भी रहे है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ' व संविधानवाद में पर्याप्त घनिष्ठता के बावजूद भी अन्तर हैं, जिसे अपन निम्न प्रकार जान है।

1. **परिभाषा की दृष्टि से :-** संविधान शासन से संबंधित संस्थाओं के संगठन का भौतिक स्वरूप है जबकि संविधानवाद एक विचार व दर्शन है जो शासन मूल्यों व आदर्शों से संबंधित है।
2. **उत्पत्ति की दृष्टि से :-** संविधानवाद विकास का परिणाम है। यह ज्ञात होगा कि संविधानवाद शासन संबंधी ऐतिहासिक अनुभवों से उत्पन्न है, जबकि संविधान का प्रत्यक्ष निर्माण किया जाता है। राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार प्रचलित संविधान के स्थान पर नया संविधान भी बनाया जा सकता है।
3. **वैधता के आधार पर अन्तर :-** संविधानवाद की वैधता विचारधारा। के आधार पर होती है, किन्तु संविधान की वैधता कानून के आधार पर होती है।,
4. **कार्यक्षेत्र की दृष्टि से :-** हम देखेंगे कि संविधान की तुलना में संविधानवाद का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। संविधान का प्रभाव क्षेत्र वो राज्य ही होता है, वह संविधान है जबकि संविधानवादी विचारधारा का व्यापक क्षेत्र में प्रभाव होता। वर्तमानकाल में संविधानवाद के दो प्रमुख प्रकार बताये गये हैं - (1) उदारवादी (2) साम्यवादी संविधानवाद। इसमें प्रत्येक प्रकार की अवधारणा का क्षेत्रफल विस्तृत। तक विस्तृत है।

उपरोक्त अन्तरों के बाद भी संविधान व संविधानवाद दोनो एक दूसरे पूरक है। दोनो में घनिष्ठ संबंध है। संविधान के अभाव में संविधानवाद की कल्पना नहीं की सकती है। यद्यपि संविधानवाद के अभाव में संविधान हो तो सकता है, किन्तु उसे वास्तविक नहीं कह सकते है।

11.3.3 संविधानवाद के आधार व तत्व

संविधानवाद की मान्यता है कि व्यक्ति व समाज के लिए राज्य एक अनिवार्य संस्था तो है किन्तु राज्य व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि शासित पक्ष भी ऐसा ही महसूस करें। शासन एवं शासित जनता के बीच उर्पयुक्त प्रकार दही सहमति संविधानवाद के अस्तित्व एवं सारपूर्ण संचालन के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। संविधानवाद के प्रमुख आधार निम्न प्रकार है।

1. **समाज की सामान्य मान्यताओ को स्वीकारना :-** संविधानवाद के अस्तित्व व सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक समाज के सामान्य उद्देश्यों के बारे में शासन तथा जनता के अधिकांश भाग में सहमति पाई जाये। अनेको बार शासन व जनता के बीच परस्पर असहयोग, विरोध, संघर्ष आदि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो कुशल संचालन में बाधा उत्पन्न करता है

2. **शासन का आधार "विधि का शासन" :-** शासक व शासित के मध्य यह सहमति होनी चाहिये कि शासन का आधार विधि का शासन' 'है। शासन की शक्तियां विधि के द्वारा अनिश्चित होनी चाहिए और शासन को शक्तियों का प्रयोग भी विधि के अनुसार करना चाहिये। यहां यह उल्लेखनीय है कि आपातकाल की स्थिति में जनता आपातकाल की चुनौती का मुकाबला करने के लिए शासन को कुछ समय के लिए विशिष्ट शक्तियां भी सपने को तैयार हो जाती हैं, जो संविधानवाद की रक्षा के लिए " विधि के शासन" का अपवाद रूप में उल्लंघन होता है।

3. **संस्थात्मक आस्था :-** आम नागरिक का संस्थाओं के ढांचे व प्रक्रियों में विश्वास होना अतिआवश्यक है। जब आम जनता यह महसूस करती है कि शासन की संस्थाओं का संगठन तथा इनकी प्रक्रिया उनके हितों की रक्षक है तो वह शासन के प्रति सहयोग का रूख अपनाती है जिससे संविधानवाद का आधार मजबूत होता है। यदि नागरिकों की बडी संख्या यह महसूस करती है कि सरकारीतंत्र अन्यायपूर्ण व अत्याचारी ढंग से संचालित हो रहा है तो वे सरकारी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेंगे। अत: संस्थाओं के ढांचे व प्रक्रियाओं पर नागरिकों का समर्थन आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है।

4. **नीतिगत मुद्दों पर सहमति :-** किसी भी राजनीतिक समाज के नीतिगत मुद्दे भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते है। उदाहरण के तौर पर किसी समाज में राष्ट्रीय भाषा नीति, धर्म व राजनीति के पारस्परिक संबंध के बारे में नीति आदि। जब इस विशेष नीतिगत मुद्दों पर शासन व जनता के बीच सहमति पायी जाती है तो ऐसी नीति को लागू करने में जनता का सहयोग भी मिलता है ओर संविधानवाद को भी स्थायित्व व सफलता मिलती है किन्तु जब किसी जब किसी राजनीति क समाज में इन मुद्दों पर असहमति पायी जाती है तो जनता के विभिन्न वर्ग शासन के प्रति असहयोग, विरोध व संघर्ष की नीति अपनाते है। इससे सम्पूर्ण राज-व्यवस्था के स्थायित्व के साथ ही संविधानवाद के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो जाता है।

संविधानवाद के उपयुक्त चारों आधार किसी भी राज्य में इसकी व्यवहारिक उपलब्धि की आवश्यक शर्त है। अगर किसी राजनीतिक व्यवस्था में यह आधार उपस्थित न हो तो संविधानवाद की व्यवस्था अधिक दिन स्थायी नहीं रह सकती है।

इन उपरोक्त चारों आधा से के अलावा संविधानवाद के चार प्रमुख तत्व भी पाये जाते हैं जिनका उल्लेख निम्नानुसार होगा।

1. **सरकार की आधारभूत संस्थाओं की स्पष्ट व्यवस्था :-** संविधानवाद के प्रथम तत्व के रूप में शासन के तीनों अंग, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व के गठन शक्तियों, कार्यो व पारस्परिक संबंधों की स्पष्ट व्यवस्था होनी चाहिये। संविधानवाद के इस तत्व के अभाव

में किसी भी शासन के संचालन में अव्यवस्था उत्पन्न जाती है और उसका स्थायित्व संकट के पड़ जाता है।

2. **राजनीतिक शक्ति के प्रतिबंध के रूप में -** दूसरा आवश्यक है कि शासन की शक्तियों पर उचित एवं प्रभावशाली नियन्त्रण की व्यवस्था हो। सम्पूर्ण शासन या उसका कोई एक अंग निरंकुश शक्ति का उपभोग नहीं कर पाता है व्यक्ति व समुदाय की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है। इसके लिए प्रत्येक लोकतांत्रिक व्यवस्था के संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान किये जाते हैं, जो सरकार को हर समय व कदम पर नियन्त्रित प्रतिबंधित करते हुए अपने अधिकार क्षेत्र में सीमित रखते है।

3. **संविधान विकास की दिशा का निदेशक -** हम जानते हैं कि संविधानवाद के सुनिश्चित विकास की दिशा तय करने के लिए एक निश्चित का मार्ग होना आवश्यक है। जब किसी संविधान में यह तत्व पाया जाता है तो संविधान न केवल वर्तमान के विकास संबंधी मूल्यों व बिन्दुओं को ही प्रकट करता है, संविधान में ऐसी व्यवस्था करता है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए भी विकास संबंधी व आकांक्षाओं को पूर्ण कर सकें।

4. **सरकार की अधिकार शक्ति की व्यवस्था :-** चौथे तत्व के रूप अपन सरकार की सत्ता की अधिकारयुक्त को स्वीकार करते हैं सरकार के विभिन्न की कार्य प्रक्रिया को इरा प्रकार निर्धारित किया जाना चाहिये जिसमें शासित वर्ग की प्राप्त हो। तभी हम इसे वैध सत्ता के रूप में स्वीकार का सकेंगे। इस वैधता की प्राप्ति बाद ही सरकार को व्यवहार में अधिकार युक्ता का गुण मिलेगा तथा वह अ अधिकारपूर्वक करने में समर्थ होगी।

11.3.4 संविधानवाद की विशेषताएं

इन विशेषताओं को हम दो भागो में बांटकर अध्ययन को ज्यादा बन सकते है। पहले वर्ग में संविधानवाद की आधारभूत व्यवस्थाओं का अध्ययन तथा दूसरे वर्ग में संविधानवाद की सामान्य विशेषताओं को जानने का प्रयास करेंगे।

1. **संविधानवाद की आधारभूत विशेषताएं :-** इसे हम सैद्धान्तिक भी कह सकते हैं। ये विशेषताएं संविधानवाद के मूल्यों दर्शन व दृष्टिकोण पर प्रकाश है। हमें ज्ञात है कि आधुनिक युग में संविधानवाद का भौतिक आधार राष्ट्र राज्य है। प्रत्येक राष्ट्र अपना जीवन मूल्य होता है। जिसका निर्माण उसके दर्शन, इतिहास व संस्कृति से होता है। राष्ट्र के इस जीवन मूल्यों को स्वीकारता है और इनके अनुसार राज्य व्यवस्था के साध्यों निश्चित करता है।

संविधानवाद का संबंध राष्ट्र-राज्य से है। विभिन्न राज्यों के जीवन व साध्य भिन्न-2 हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में संविधानवादी अवधारणा में अन्तर आना है। उदाहरण के तौर पर साम्यवादी राज-व्यवस्था व उदारवादी राज-व्यवस्था के प्रसंग में "अवधारणों में अन्तर है।

संविधानवादी मूल्यों व साध्यों से संबंधित अवधारणा है अत: जब राज्य के मूल्यों व साध्या में परिवर्तन आता है तो उससे संबंधित संविधानवाद में भी परिवर्तन,। इस अवधारणा को गत्यात्मक अवधारणा माना जाता है। उदाहरण के रूप में ब्रिटेन व में लम्बे समय तक

व्यक्तिवाद पर आधारित उदारवादी संविधानवाद मान्य रहा है, किन्तु यह समय के साथ क्रमश: लोक कल्याणकारी सिद्धान्त पर आधारित उदारवादी संविधानवादी अवधारणा में बदल गया है।

संविधानवाद सहमति की अवधारणा है यह शासक व शासित के मध्य पारस्परिक सहमति पर बल देता है। यह सहमति राज्य व्यवस्था के मूल्यों व साध्यों के साथ-साथ शासन की संस्थाओं के संगठन, शक्ति व कार्यो के बारे में भी होती है। अन्त में हम इसकी विशेषता के रूप में संविधानवाद व संविधान के विशिष्ट संबंध का उल्लेख करते है। किसी भी देश का संविधान उसकी संविधानवाद संबंधी अवधारणा पर आधारित होता है। सामान्य शब्दों में संविधानवाद जिन मूल्यों को स्वीकारता हैं, उनका संविधान में न केवल उल्लेख होता अपितु संविधान में कानूनी आधार पर यह व्यवस्था भी की जाती है कि उन्हें किस प्रकार व्यवहार में प्राप्त करें।

2. संविधानवाद की सामान्य विशेषताएं :- संविधानवाद मूल्य एवं संस्कृति सम्बद्ध आवधारणा है। इसका संबंध उन मूल्यों, विश्वासों व राजनीतिक आदर्शों से है जो हर नागरिक को प्रिय है: जो हर राष्ट्र का जीवन आधार है। इसका संबंध स्थान विशेष की संस्कृति से भी पाया जाता है। हर देश के आदर्श, मूल्य व विचारधाराएं उस देश की संस्कृति की उपज ही होते है। मूल्यों व संस्कृति के साथ-साथ संविधानवाद की विशेषताएं के रूप में हम गत्यात्मकता व सहभागी अवधारणा को भी स्वीकार करते हैं। संविधानवाद में स्थायित्व के साथ-2 गत्याताकता भी पाई जाती है, जिसके कारण यह राष्ट्र की प्रगति में बाधक नहीं बन सकता है। समय के साथ-2 मूल्यों में परिवर्तन आता है तथा संस्कृति विकसित होती है, जिसे आत्मसात करना संविधानवाद की गत्यात्मकता का प्रतिक है। जहां तक सहभागी का प्रश्न है, चूंकि एक राष्ट्र के मूल्य विश्वास आदर्श व संस्कृति के प्रति अन्य राष्ट्रों की भी निष्ठा हो सकती हैं। कई देशों में तो आदर्श व मूल्य समान भी पाये जाते है। ऐसे देशों में संविधानवाद आधारभूत समानताएं रखता है।

संविधानवाद साध्यों पर आधारित अवधारणा होते हुए भी साधनों की पूर्णतया अवहेलना नहीं करता है। प्रमुख रूप से संविधानवाद मुख्यत: लक्ष्यों का ही सूचक है। संविधानवाद साध्य प्रधान अवधारणा है जिसे समाज साध्य के रूप में स्वीकार करता है। संविधानवाद का मूल आधार संविधान है। सामान्य परिस्थितियों में प्रत्येक लोकतांत्रिक राज व्यवस्था में मूल्यों व गन्तवयों का संविधान से स्पष्ट उल्लेख किया जाता है। ऐसे संविधान पर ही संविधानवाद आधारित होता है।

उपरोक्त बिन्दुओं के आधार पर हम संविधानवाद की विशेषताओं का संक्षिप्त में अध्यापन कर उसकी विशेषताओं को समझ सकेंगे।

11.3.5 संविधानवाद की अवधारणाएं

संविधानवाद राजनीतिक समाज के उद्देश्यों व इन उद्देश्यों की प्राप्ति से संबंधित अवधारणा है। भिन्न-2 राज्य व्यवस्थाओं के उद्देश्य भिन्न-2 होगें, इसलिए संविधानवाद की अवधारणा में भी भिन्नता होगी।

हम विभिन्न राजनीतिक समाजों के उद्देश्यों एवं इस उद्देश्यों की प्राप्ति के साधनों के आधार पर आधुनिक संविधानवाद की निम्न तीन अवधारणाओं को स्वीकार करते है।

1. पाश्चात्य या उदार जनतांत्रिक अवधारणा :- पाश्चात्य संविधानवाद का आधार उदारवादी है। इसे उदार लोकतांत्रिक संविधानवादी अवधारणा भी कहते है। इस उदारवादी दर्शन में प्रयुक्त राजनीतिक मूल्यों व साध्यों में हम व्यक्ति को अधिकतम स्वतंत्रता, व्यक्तियों के मध्य राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय एवं लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्वीकार करते है।

पाश्चात्य दर्शन ने अपने उपरोक्त साध्यों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक सत्ता को एक साधन के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार की उदारवादी राजनीतिक सत्ता की स्थापना के लिए उदारवादी दर्शन लोकतांत्रिक शासन प्रणाली का समर्थन करता है।

2. साम्यवादी अवधारणा :- इसका आधार कार्ल मार्क्स का वैधानिक समाजवाद है। साम्यवादी संविधानवाद ने मार्क्स द्वारा प्रतिवादित दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकारा है। इसके अनुसार विकास का आधार द्वन्हात्मक भौतिकवाद हो तथा व्यक्ति की तुलना में समाज का अधिक महत्व है। आर्थिक शक्ति राजनैतिक शक्ति से शक्तिशाली हैं एवं राज्य एक वर्गीय संस्था है। आर्थिक स्वतंत्रता व समानता व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

साम्यवादी संविधानवाद की अवधारणा की प्राप्ति के लिए मार्क्स ने साध्य भी बताये है। मार्क्स के अनुसार राजसत्ता पर पूंजीवाद या पूंजीपति के अधिकार समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का अधिकार स्थापित हो। उत्पादन के साधनों पर सामाजिक रहे तथा सम्पत्ति का न्यायपूर्ण वितरण होना चाहिये। संक्षेप में साम्यवादी अवधारणा एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना करना, जिसका अन्त एक वर्ग व राज्य विहीन समाज की स्थापना है।

मार्क्स ने उपयुक्त साध्य की प्राप्ति हेतु कुछ साधनों का वर्णन भी किया है। सर्वहारा की तानाशाही, साम्यवादी दल का एकाधिकार एवं आर्थिक लोकतंत्र द्वारा इस व्यवस्था को स्थापित किया जा सकता है।

3. विकासशील लोकतांत्रिक राज्यों की अवधारणा - यहां लोकतांत्रिक राष्ट्रों से अर्थ ऐसे अफ्रीका, एशियाई एवं लेटिन अमरीकी राज्यों से जिन्होंने लोकतांत्रिक शासन पद्वति को तो अपनाया है, किन्तु इन राज्यों का आर्थिक विकास पर्याप्त नहीं हुआ है। साध्यों की दृष्टि से जहां इन राष्ट्रों का झुकाव पश्चातय की और है वहीं साधनो की दृष्टि से साम्यवादी संविधानवादी अवधारणा से भी प्रभावित हैं। संक्षेप में विकासशील लोकतांत्रिक राज्यो के संविधानवाद के संबंध में यह जा सकता है कि इन राज्यों में संविधानवाद का मिश्रण रूप दिखाई पड़ता है, यह अभी भी स्थिर एवं निश्चित रूप को प्राप्त नहीं कर पाया है, यह विकास की प्रक्रिया से गुजर हैं, किन्तु यह अभी भी स्पष्ट नहीं है कि इसके विकास की निश्चित दिशा कौन सी है

11.3.6 संविधानवाद की समस्याएं एवं समाधान

जहां संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा व पश्चिमी यूरोप में की जड़े काफी मजबूत है वहीं चीन, उत्तरी कोरिया, क्यूबा आदि साम्यवादी राष्ट्रों में लड़खड़ा रहा है। साम्यवादी राष्ट्रों के

सम्मुख उदारवादी अर्थ व्यवस्था एवं मानव-अधिकारों राजनीति ने समस्याएं उत्पन्न कर दी है। पूर्व सोवियत संघ के भंग होने के बाद जिन नये राज्यों निर्माण हुआ है, उसमें भी संविधानवाद की स्थिति कमजोर है। विकासशील लोकतांत्रिक राज्यों के सन्दर्भ में ही संविधानवाद -की समस्याओं का अध्ययन किया गया है जिसमें पाया गया युद्ध का वातावरण या प्रत्यक्ष युद्ध, आपातकालीन शक्तियों का दुरूपयोग, निरंकुशतावाद आदि-2 संदिधानवाद के घोर शत्रु हैं। जन असंतोष की स्थिति में भी कोई भी सवैधानिक व्यवस्था सुरक्षित ' रह पाती है। विभिन्न वर्गो द्वारा स्वतंत्रता का दुरूपयोग व जनता की अयोग्यता भी इसमें बाधाएं करती है। शासक वर्ग पर प्रशासनिक कार्यो का भार एवं अस्थिर व कमजोर सरकारों से भी को नुकसान पहुंचाया है।

उपरोक्त समस्याओं के समाधान हेतु हम संविधानवाद की दिशा में सहायक तत्वों को भी जानने का प्रयास करेंगे। संविधानवाद के लिए जरूरी है कि शासन सीमित एवं मर्यादित शक्तियों का ही प्रयोग करे। शक्ति पृथक्करण शक्ति नियंत्रण व संतुलन व सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाये। लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयास एवं राजनीतिक व्यवस्था में अपेक्षित सुधार जरूरी है। अंत में विश्व बन्धुत्व व अंतर्राष्ट्रीवाद का समर्थन एवं विकास की दिशा में प्रयास संविधानवाद की दिशा में सकारात्मक कदम होगे।

उपयुक्त बिन्दुओं के आधार पर हम विधि का शासन एवं संविधानवाद के अर्थ, क्षेत्र व समालोचना कर सकते है।

11.4 सारांश

विधि का शासन व संविधानवाद एक सिक्के के दो पहलु है। राजनीति दर्शन में ब्रिटिश संविधान और शासन व्यवस्था का नाम विधि के शासन के साथ जुड़ गया। डायसी ने विधि के शासन की तीन विशेषताएं (1) विधि की सर्वोच्चता (2) समान विधि व न्यायालय (3) विधि का शासन व्यक्तियों के अधिकारों का रक्षक हैं। डायसी के बाद के काल में भी ब्रिटेन की विधिक व प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं जिन्हें विधि के शासन का उल्लंघन कहा जा सकता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

संविधानवाद वह राजनीतिक व्यवस्था है जिसका संचालन विधियों और नियमों द्वारा होता है। संविधानवाद संविधान के नियमों के अनुरूप शासन संचालन से अधिक है। इसका अर्थ है, निरंकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न1. संविधानवाद से क्या अभिप्राय है?

उत्तर: .....

.....

प्रश्न2. संविधान व संविधानवाद में दो प्रमुख अन्तर बताइये।

उत्तर: .....

.....

11.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

प्र0.1 विधि के शासन की विशेषताएं व सीमाओं को समझायें। (100 शब्द)

प्र0.2. विधि के शासन से आप क्या समझते हैं? यह संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना में किस प्रकार योग देता है? (500 शब्द)

प्र0.3. संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा क्या है? (100 शब्द)

प्र0.4. संविधानवाद क्या है? इसके प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए। (500 शब्द),

11.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ब्लॉन्डेल जे. – एन इंट्रोडक्श्यन टु कम्पेरोअइव गवर्नमेन्ट एण्ड निकल्सन, लंदन, 1969
2. के.सी. व्हीमर – मॉडर्न कॉस्टीट्यूशन्स ऑक्सफोर्ड यूनिव्सिर्टी प्रेस, न्यूयॉर्क, 1966
3. सी.एफ स्ट्रॉग – मॉर्डन पोलिटिकल कॉन्सटीट्यूशन, "एण्ड जैक्सन, 1963
4. फ्राइडरिख, कार्ल जे. – कॉन्सटीट्यूशनल गवर्नमेन्ट एण्ड डेमोक्रेसी ऑक्सफोर्ड एण्ड आई. बी.एच. नई दिल्ली, 1968

1. डायसी – "ली ऑफ दी कास्टीट्यूशन"
2. मैक्सी – पोलिटिकल फिलोशोफिज
3. केसी. व्हीलर – मॉडर्न कॉस्टीट्यूशन
4. डी. पी.डी.शर्मा – तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं
5. डी. बी.एल.फडिया – राजनीति विज्ञान के मूल आधार

इकाई-12

प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त इकाई की रूपरेखा

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

12.3 प्रतिनिधित्व की प्रमुख प्रणालियां

12.4 अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न पद्धतियां

12.4.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

12.4.2 सीमित मत प्रणाली

12.4.3 एकत्रित या सामूहिक मत प्रणाली

12.4.4 पृथक निर्वाचन प्रणाली

12.4.5 सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली

12.5 सारांश

12.6 अभ्यास प्रश्न

12.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे:-

- प्रतिनिधित्व के प्रमुख सिद्धान्त;
- प्रतिनिधित्व की प्रमुख प्रणालियों के प्रकार; तथा
- अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न पद्धतियों का विश्लेषण।

12.1 प्रस्तावना

लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली अत्यन्त लोकप्रिय और इसे विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में अपनाया गया है। लोकतन्त्र के दो रूप प्रत्यक्ष लोकतन्त्र एवं अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में नागरिक विधायी कार्यो में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते है अत: इसमें प्रतिनिधि चुनने की आवश्यकता नहीं होती। राज्यों की जनसंख्या एवं क्षेत्रफल में वृद्धि हो जाने के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव नहीं रह गया है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में नागरिक प्रत्यक्ष रूप से विधायी कार्यो में भाग नहीं लेते, अपितु समस्त विधायी कार्य 'जनप्रतिनिधियों' द्वारा किया जाता हैं इसलिए अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Indirect Democracy) को 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' (Representative Democracy) कहा जाता हैं अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधित्व प्रजातन्त्र में जनता शासन के कार्यो में सीधे या प्रत्यक्ष रूप से भाग न लेकर नियत समय के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। प्रतिनिधियों के चुनाव में लेने के अधिकार को मताधिकार कहते है। इस प्रकार प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त, की प्रणालियों एवं अन्य सम्बन्धित मुद्दों का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र से है। इसका

अध्ययन? प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त प्रतिनिधित्व की मुख्य प्रणालियां एवं अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने मुख्य प्रणालियाँ शीर्षक के रूप में कर सकते है।

12.2 प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त

प्रतिनिधित्व एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम कोई बडा 'समूह स्वयं में निहित प्रभुसमा का प्रयोग करता है। प्रतिनिधि के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित 'है :-

- **निर्देशित प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के? प्रत्येक प्रतिनिधि को अपने निर्वाचकों से प्राप्त निर्देश के अनु_सार ही व्यवस्थापिका अपने कार्य करने चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रतिनिधि सदैव अपने निर्वाचकों के होता है ओर वह मात्र उनकी इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इस सिद्धान्त में को सर्वाधिक महत्व देते हुए यह स्वीकार किया जाता हैं कि यदि कोई प्रतिनिधि में अपने निर्वाचकों की इच्छा (निर्देश) की उपेक्षा करता है अथवा उसके विपरित आचरण करता है तो निर्वाचक उसे अपना प्रतिनिधि मानने से इन्कार कर सकते हैं और उन्हें जनप्रतिनिधि को वापिस बुलाने अर्थात प्रतयावर्तन (Recall) का अधिकार है।

  रूसो एवं रोबेस्पीयर विचारको ने इस विचार का समर्थन है। स्विटजरलैण्ड के कुछ राज्यों में प्रतिनिधि की वापसी के सिद्धान्त अर्थात प्रत्यावर्तन (Recall) के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। यह सिद्धान्त मूलत: प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र वर्तमान युग में निर्देशित प्रतिनिधित्व का अप्रचालित है। दलीय आधार पर निर्वाचन के संचालन के कारण मतदाताओं द्वारा मताधिकार का प्रयोग दलीय नीति एवं कार्यक्रमों के आधार पर करने के कारण समाजों की जटिल संरचना एवं दुरूपयोग की आशंका के कारण निर्देशित का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है।
- **अनिर्देशित प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त -** निर्देशित के सिद्धान्त के विपरीत इस सिद्धान्त की मान्यता है कि प्रतिनिधि निर्वाचकों के मात्र (Advocate) अथवा अभिकर्ता (Agenls) नहीं होते हैं अपितु निर्वाचकों के हितों के रक्षक होते हैं अत. स्वविवेक से निर्णय लेने एवं कार्य करने में स्वतन्त्र है।

  इस सिद्धान्त के अनुसार एक निर्वाचित प्रतिनिधि एक साथ राष्ट्रीय दलीय एवं स्थानीय हितों का प्रतिनिधित्व करता है। वह तीनों में संयोजन करता है। इन हितों में अर्न्तविरोध होने पर वह राष्ट्रीय हितों को महत्व देता है। इस।? सिद्धान्त की मान्यता है कि निर्वाचित जनप्रतिनिधि केवल स्थान विशेष के निर्वाचकों का प्रतिनिधि नहीं वरण सम्पूर्ण राष्ट्र के हित का संरक्षक बन जाता है। उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं वृद्धि में सहयोग देना होता है।।
- **प्रतिनिधित्व का उदार लोकतन्त्रवादी सिद्धान्त -** इस की मान्यता है कि निर्वाचित जनप्रतिनिधि को निर्वाचक समूह के प्रति उत्तरदायी मानता है किन्तु उसे मात्र उनका अभिकर्ता नहीं मानता है। यह सिद्धान्त प्रतिनिधि को के अनुसार राष्ट्रीय हित में कार्य

करने की स्वतन्त्रता देता है। व्यक्ति को विवेक्युक्त प्राणी मानते हुए यह सिद्धान्त सभी व्यक्तियों को मताधिकार का अधिकार प्रदान करता है।

यह सिद्धान्त व्यक्ति के अधिकारों को महत्व देता है विशेषत: निजी सम्पति के अधिकार को। आवश्यक अंग मानता है तथा व्यक्ति के हितों की रक्षा के लिए उदार संविधानवाद अर्थात 'सीमित शासन के सिद्धान्त में विश्वास करता है।

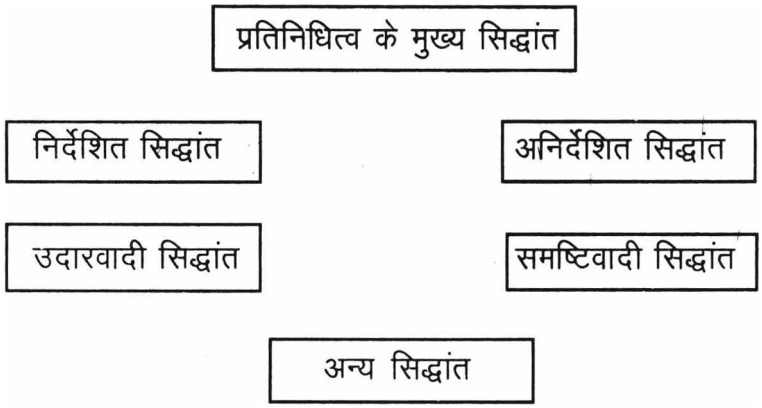

- **प्रतिनिधित्व का समष्टिवादी सिद्धान्त :-** प्रतिनिधित्व का यह सिद्धान्त मूलत : प्रतिनिधित्व के उदारवादी सिद्धान्त से भिन्न है। यह सिद्धान्त जनता की प्रभुसत्ता तथा बहुमत की इच्छा दोनों पर बल देते हुए सर्वहारा वर्ग की प्रभुसत्ता तथा सर्वहारा वर्ग की इच्छा को बहुमत की इच्छा मानता है। उदारवादी लोकतन्त्र की तुलना में आर्थिक लोकतन्त्र की श्रेष्ठता को महत्वपूर्ण मानते हुए इस सिद्धान्त की मान्यता है कि व्यवस्थापिका को बहुसंख्यक वर्ग के मत का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। समाज में बहुसंख्यक वर्ग सर्वहारा होता है अत: व्यवस्थापिका को मात्र इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व ही करना चाहिए। प्रतिनिधित्व का समष्टिवादी सिद्धान्त मूलत : समाजवादी सिद्धान्त है जिसे साम्यवादी देशों द्वारा अपनाया गया।
- **प्रतिनिधित्व के अन्य सिद्धान्त :-** प्रतिनिधित्व के प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक टॉमस हॉब्स एवं एलेक्जेडर हेमिल्टन है। यह सिद्धान्त व्यवस्था और सत्ता की आवश्यकता पर आधारित है। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता है कि शासक वर्ग ही लोकमत का सर्वोतम रक्षक और साधक है। यह सिद्धान्त सताधारियो पर जनसाधारण के किसी भी प्रकार के नियन्त्रण को अस्वीकार करता हैं। अत : बहुत से विचारक इस सिद्धान्त को अस्वीकार करते है। प्रतिनिधित्व के रूढिवादी सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक एण्डमण्ड वर्क और जेम्स मेडीसन है। ये सिद्धान्त सताधारियो पर जनसाधारण के नियन्त्रण को स्वीकार करता है किन्तु शासन प्रक्रिया में जनसाधारण की सहभागिता को अनुमति नहीं देता है।

सारतः प्रतिनिधित्व के उक्त सभी सिद्धान्तों में सर्वाधिक मान्य एवं प्रचलित सिद्धान्त उदारवादी सिद्धान्त है। प्रतिनिधित्व के समष्टिवादी सिद्धान्त का समर्थन मार्क्सवादी साम्यवादी सिद्धान्तकारों ने किया था। किन्तु पूर्व सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोपीय देशों में जहाँ साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था प्रचलित थी की असफलता ने प्रतिनिधित्व के समष्टिवादी सिद्धान्त को अमान्य सिद्ध किया।

बोध प्रश्न- 1

1. प्रतिनिधित्व का समष्टिवादी सिद्धान्त क्या है

उत्तर: .....

.....

12.3 प्रतिनिधित्व की प्रमुख प्रणालियाँ

प्रतिनिधि प्रजातन्त्र के आज के युग में प्रतिनिधियों के निर्वाचन लिए प्रमुखत: अग्राकिंत तीन प्रणालियां प्रचलित हैं :-।

व्यावसायिक (प्रकार्यात्मक) (Functional Representation)

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का आधार व्यवसाय या होता है। इस प्रणाली के समर्थकों के अनुसार एक ही व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों के हित से होते हैं न कि एक ही एक प्रादेशिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के। व्यक्तियों के हितों में वास्तविक एकता व्यावसायिक आधार पर होती है। अत: प्रतिनिधित्व भी व्यावसायिक होना चाहिए। इससे व्यवस्थापिका सभी वर्गो का सही प्रतिनिधित्व कर सकेगी।

व्यवस्थापिका प्रतिनिधित्व के प्रमुख समर्थक सिडनी वैब, जी.डी.एच.कोल, ग्राहम वैल्स विलीयम मैकडॉनल्ड एवं श्रेणी समाजवादी विचारक है। इन विचारकों ने प्रतिनिधित्व प्रणाली का विरोध किया है। उनकी मान्यता है कि कार्य या व्यवसाय के आधार हो प्रतिनिधित्व शामिल है। उदाहरण के लिए एक निर्वाचन क्षेत्र में रहने वाले अध्यापकों, डॉक्टरों, व्यवसायिओं आदि का एक प्रतिनिधि न होकर विभिन्न व्यवसायों से सम्बन्धित प्रतिनिधित्व अलग अलग होना चाहिए।

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह प्रणाली व्यवस्थापिका में विविध व्यवसायों के वर्गो का प्रतिनिधित्व करने से लाभप्रद प्रतीत होती है किन्तु व्यवाहारिक रूप से इस प्रणाली में गम्भीर जटिलताएँ मौजूद है। इस प्रणाली में अग्राकिंत दोष मौजूद है :-

- व्यावसायिक आधार पर गठित राष्ट्रीय विधायिका वर्गीय एवं विशेष। हितों की सभा बन जाती है। ये प्रतिनिधि राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते है। यह प्रणाली परम्परागत राजनीतिक दलों के स्थान पर छोटे राजनीतिक गुटों को जन्म है इससे उपजी दलबन्दी एवं वर्गीय संघर्ष न केवल राष्ट्रीय प्रभुसता का भी हास करता।
- इस पद्धति का व्यावहारिक क्रियान्वयन सम्भव नहीं है क्यों कि राष्ट्र के समस्त व्यवसायों का उचित एवं सन्तोषजनक वर्गीकरण सम्भव नहीं है।
- व्यवस्थापिका में विभिन्न व्यवसायों के अनुपात को निश्चित सम्भव नहीं है।

- व्यावसायिक आधारों पर बनाये गये निर्वाचन क्षेत्र आकार में बड़े और प्रकृति में बिखरे हुए होते है उनमें चुनाव कराना जटिल है।

सारतः इस प्रणाली में व्यावाहारिक त्रुटियाँ है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को इटली एवं जर्मनी में अपनाया था किन्तु यह असफल रहा। किन्तु यह प्रणाली पूर्णत: महत्वहीन नहीं है। इसी कारण कुछ राज्यों ने व्यवस्थापिका को द्वितीय सदन के गठन में सीमित रूप से व्यावसायिक वर्गो को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की ' जाती है।

प्रादेशिक (क्षेत्रीय) प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Territorial Representation)

इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रादेशिक आधार पर निर्वाचन के क्षेत्र बनाये जाते हैं तथा उस क्षेत्र में निवास करने वाले सभी मतदाता चुनाव में मतदान करते हैं। यह प्रणाली इस मान्यता पर आधारित है कि एक क्षेत्र के निवासियों के महत्वपूर्ण सामान्य हित होते है जिनकी सा के लिए व्यवस्थापिका -में उनका सामान्य प्रतिनिधि भेजा जाना चाहिए।

यद्यपि इस प्रणाली की व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के समर्थकों ने आलोचना की हैं तथापि वर्तमान समय में विश्व के सभी देशों में प्रादेशिक (क्षेत्रीय) प्रतिनिधित्व की प्रणाली मान्य सिद्धान्त है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Proportional – Representation)

एक आदर्श लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था का अर्थ केवल बहुमत का शासन नहीं है बल्कि ऐसा शासन है जिसमें सभी वर्गो के प्रतिनिधियों को प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त हों। अनेक देशों में एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों की प्रथा के कारण अल्पमत एवं अल्पसंख्यको को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता है। इस सीमा को दूर करने के लिए अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए निर्वाचन की अनेक प्रणालीयाँ प्रचलित है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के द्वारा किसी राजनीतिक दल को व्यवस्थापिका में उसी अनुपात में स्थान प्राप्त होते हैं जिस अनुपात में उसे जनता के मत प्राप्त होते है। अत: इसे प्रतिनिधित्व की आनुपातिक प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली का इसी अध्याय में पृथक शीर्षक में अध्ययन किया गया है।

12.4 अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न पद्धतियां

एक आदर्श लोकतांत्रिक व्यवस्था के संगठन के लिए यह आवश्यक है कि विधानमण्डल सभी वर्गो के प्रतिनिधियों से मिलकर बना हो। एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली में जनता के सभी वर्गो को व्यवस्थापिका सभा में स्थान नहीं मिलता। इससे प्रतिनिधि लोकतंत्र बहुमत का शासन बन जाता है। एक राष्ट्रीय लोकतांत्रिक व्यवस्थापिका के गठन के लिए अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देना आवश्यक है।

जे.एस. मिल के अनुसार 'एक ऐसे लोकतन्त्र में जो वास्तविक अर्थ में सभी के लिए समान हो। जनसंख्या के प्रत्येक वर्ग को उसके अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।'

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की विभिन्न पद्धतियाँ निम्नलिखित है :-

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

सीमित मत प्रणाली
एकत्रित या सामूहिक मत प्रणाली
पृथक निर्वाचन प्रणाली
सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली

12.4.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

यह प्रणाली अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की पद्धतियों में सर्वाधिक श्रेष्ठ मानी जाती है। यह सभी वर्गो को उनकी संख्या के अनुपात में राष्ट्रीय विधानमण्डल से प्रतिनिधित्व दिलाने का श्रेष्ठ प्रयास हैं इस प्रणाली के द्वारा किसी दल को व्यवस्थापिका में उसी अनुपात में स्थान (seats) प्राप्त होते है। जिस अनुपात में उसे जनता से मत प्राप्त होते हैं। अत: इसे प्रतिनिधित्व की आनुपातिक प्रणाली कहा जाता है। इस मत प्रणाली के प्रवर्तक 19 वीं सदी के अंग्रेज विद्वान थॉमस हेयर थे अत: इसे 'मतदान की हेयर प्रणाली' भी कहा जाता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के मुख्य तत्व निम्न है -

(i) निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय न होकर बहु सदस्यी होंगे। ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जिनमें कम से कम 3 प्रतिनिधि निर्वाचित हो सके। अर्थात एक

(ii) एक निर्वाचन क्षेत्र से अनेक सदस्य चुने जा सकते है। प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत डालने का अधिकार होगा जितने कि किसी निर्वाचन क्षेत्र से प्रतिनिधि निर्वाचित होने हैं।

(iii) (ई) प्रत्येक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए एक निश्चित संख्या में मत अर्थात निर्वाचन कोटा प्राप्त करना आवश्यक है।

निर्वाचन कोटा निकालने के लिए हेयर ने निम्नलिखित फार्मूला बताया है :

$$\text{निर्वाचन कोटा} = \frac{\text{कुल डाले गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या}}$$

ड्रूप नाम विचारक ने हेयर के फार्मूले में संशोधन किया है अत: नये फार्मूले को 'ड्रूप प्रणाली' कहते हैं। इसका सूत्र इस प्रकार है -

$$\text{निर्वाचन कोटा} = \frac{\text{कुल डाले गये मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} = \text{भजनफल} + 1$$

इस सूत्र को एक उदाहरण द्वारा भी समझ सकते है। माना कि निर्वाचन क्षेत्र से 3 सदस्य निर्वाचित होने है और डाले गये मतों की कुल संख्या 1,00,000 हे तो कोटा 25001 होगा।

$$\frac{1,00,000}{3+1} = 2500 + 1 = 25001 \text{ मत}$$

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दो रूप है -

(क) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली
(Single Transferable Vote System)

(ख) सूची प्रणाली (List system)

बोध प्रश्न- 2

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राणाली के दो रूप क्या है

उत्तर: .....

.....

(क) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली

एकल संक्रमणीय मत प्रणाली हेयर प्रणाली का संशोधित रूप है। इसे एण्ड्रे प्रणाली (Andre System) भी कहते हैं। डेनमार्क के मन्त्री इन्हें ने 1856 में इसे सर्वप्रथम डेनमार्क। में लागू किया था। इस प्रणाली को अधिमान्य अथवा वरीयता प्रणाली भी कहते है, क्योंकि मतदाता उम्मीदवारों को मत देते समय मतदान पत्र पर अपनी वरीयता अर्थात् पसन्द (Preference) अंकित करता है। इस प्रणाली की मुख्य बातें निम्न प्रकार है :-

(i) मतदान की विधि :- एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में प्रत्येक मतदाता वोट तो एक ही देगा परन्तु मतदाता अपने मत पत्र पर अपना वरीयता क्रम में अपनी पसन्द जरूर लिखता है। उदाहरणार्थ यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से 10 उम्मीदवार खडे है तथा उनमें से किन्हीं चार का चुनाव होना है तो प्रत्येक मतदाता को अपने मत पत्र में वरीयता से 4 पसन्द ही लिखेगा। वह अपनी पसन्द के अनुसार ही वरीयता क्रम में क्रमश: 1, 2, 3, 4 अपनी पसन्द दर्ज करेगा।

(ii) मतगणना :- मतों की गणना इस पद्धति में विशेष महत्वपूर्ण है। मतगणना से पूर्व निर्वाचन कोटा उपर बताये गये 'ड्रप फार्मूले' के अन्तर्गत निकाला जाता है। मतगणना के एकाधिक दौर चलते हैं। सर्वप्रथम सभी मतदाताओं के पहली पसन्द के वोट छांटें जाते है। जिन उम्मीदवारों को निर्वाचन कोटा के बराबर या उससे अधिक मत मिल जाते है। उन्हें निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। विजित उम्मीदवार के अधिक वोट जो उसे निर्वाचन कोटा से अधिक प्राप्त हुए हैं। दूसरी पसन्द के उम्मीदवार को संक्रमण)transfer) कर दिये जाते हैं यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है। जब तक कि अपेक्षित उम्मीदवारों को चुन नहीं लिया जाता है। इस प्रणाली में वोटों का एक उम्मीदवार से दूसरे को संक्रमण होता है, इसलिए इसे 'एकल सक्रमणीय मत प्रणाली' कहते हैं। इस प्रणाली द्वारा प्रत्येक मतदाता चाहे वह अल्पसंख्यक वर्ग से ही क्यों न हो का उम्मीदवार किसी न किसी पसन्द के रूप में निर्वाचित हो जाता है।

(ख)सूची प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की दूसरी विधि सूची प्रणाली हैं। इसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार है:

(i) इस चुनाव प्रणाली में भी निर्वाचन क्षेत्र बहुसदस्यीय होते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र से 20 तक प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

(ii) किन्तु इस प्रणाली में निर्वाचन का आधार व्यक्तिगत उम्मीदवार नहीं होते वरन् प्रत्येक राजनीतिक दल उतने उम्मीदवारों की सूची पेश करता है, जितने कि एक निर्वाचन क्षेत्र सें प्रतिनिधि निर्वाचित होने है।

(iii) मतदाता व्यक्तिगत उम्मीदवारों को वोट न देकर सूचियों को वोट देता है। प्रत्येक मतदाता को अपने सारे के सारे मत किसी एक दल की सूची को देने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से कुल 1 0प्रतिनिधि चुने जाने हैं तो प्रत्येक मतदाता को कुल 1 0मल प्राप्त होंगे और वह इन 10 मतों को किसी एक दल की सूची को ही देगा।

(iv) मतदान होने के बाद मतगणना शुरू होती है। सर्वप्रथम प्रत्येक सूची को प्राप्त वैध मतों की गणना की जाती हैं। इस प्रकार की वैध मतों की कुल संख्या ज्ञात करने के पश्चात् तब लूप प्रणाली द्वारा चुनाव कोटा ज्ञात किया- जाता है। उदाहरणार्थ :- यदि चुने जाने वाले जन प्रतिनिधियों की संख्या 2 0हो, कुल डाले गए वैध मतों की संख्या इक्कीस लाख हो तो चुनाव कोटा एक लाख एक मत होगा।

$$\text{चुनाव कोटा} = \frac{21,00,000}{20 + 1} = 1,00,000 + 1 = 1,00,001$$

(v) मतगणना के द्वारा यह मालूम पड़ जाता है कि किसी राजनीतिक दल को कुल कितने वैध मत प्राप्त हुये है और तब इन वैध मतों में चुनाव कोटे का भाग दे देते हैं। इस प्रकार प्राप्त भजनफल से यह मालूम हो जाता है कि किसी सूची (राजनीतिक दल) के कुल कितने सदस्य चुने जायेंगे।

इस निर्वाचन प्रणाली को कुछ संशोधनों के साथ स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क एवं स्विट्जलैण्ड में अपनाया गया है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के निम्नलिखित गुण हैं :-

(i) अल्संख्यकों में सुरक्षा को यह प्रणाली श्रेष्ठ रूप से सुनिश्चित करती है, क्योंकि इसमें प्रत्येक वर्ग को उसकी शक्ति एवं प्रभाव के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिल जाता हैं।

(ii) यह प्रणाली अधिक लोकतन्त्रीय मानी जाती है क्योंकि इससे विधानमण्डल का निर्माण प्रजातान्त्रिक हो जाता है क्योंकि उन असंख्यक लोगों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिनकी कोई सुनवाई नहीं होती।

लॉर्ड ऐक्टन के अनुसार यह अत्यधिक लोकतान्त्रिक है क्योंकि यह उन हजारों व्यक्तियों के प्रभाव को बढ़ता है जिनकी सरकार में अन्यथा कोई आवाज नहीं होती और ऐसी व्यवस्था करके यह लोगों को समानता के अधिक निकट लाता है।

(iii) यह प्रणाली मताधिकार की सार्थकता सिद्ध करता है। इस पद्धति में मतों की अनुपयोगिता नहीं रहती क्योंकि अतिरिक्त मतों को दूसरे उम्मीदवारों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसके साथ ही जिन देशों में अनेक जातियाँ एवं अल्पसंख्यक वर्ग है वहां के लिए यह प्रणाली विशेष रूप से उपयुक्त है।

(iv) यह प्रणाली न्याय पर आधारित है, क्योंकि सभी राजनीतिक दलो एवं वर्गो को उचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है और विधानमण्डल राष्ट्र का दर्पण बन जाता है।

(v) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का सूची प्रणाली का रूप मतदाताओं के दृष्टिकोण से सरल है। यह प्रणाली कम खर्चीली भी है क्योंकि प्रचार दलीय स्तर पर किया जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं :-

(i) यह प्रणाली छोटे-छोटे राजनीतिक दलों को बढ़ावा देती है। यह आमुशासनिक राजनीतिक दलों के विकास के मार्ग में बाधा डालती है तथा दलों में गुटबदी की व्याधियों को प्रोत्साहित करने से विधानमण्डल का राष्ट्रीय स्वरूप' समाप्त हो जाता है। फाइनर के शब्दों में, 'इससे समस्त राष्ट्र में अनेक गुट या समूह बन जाते है जो राष्ट्र की एकता के लिए खतरा होते है।

(ii) आनुपातिक प्रणाली जटिल एवं पेचीदा है जिसे साधारण मतदाता सही समझ सकता है। लास्की के अनुसार 'निर्वाचन प्रणाली में इस जटिलता का परिणाम यह होगा कि जनता में राजनीति के प्रति उदासीनता पैदा हो जायेगी।

(iii) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के रूप सूची प्रणाली में न केवल मतदाताओं एवं जनप्रतिनिधि का सम्पर्क समाप्त कर देती है बल्कि दलीय प्रणाली के दुर्गुणों के भी सामने लाती है। इस प्रणाली में किसी एक राजनीतिक दल को विधानमण्डल में बहुमतान मिल पाने के कारण अस्थायी सरकारों क बनने की सम्भावना बनी रहती है। प्रो. स्ट्रांग अनुसार, 'सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ही सभी प्रकार से श्रेष्ठ होती है, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है।

सारतः अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में वास्तविक गुण कम है दोष अधिक है। यह अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की दृष्टि से एक उत्तम प्रणाली है लेकिन यह उनका कल्याण करने का एकमात्र मार्ग नहीं है।

12.4.2 सीमित मत प्रणाली

अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने के लिए यह एक ओर प्रणाली है। इस प्रणाली की दो प्रमुख बाते है -

(i) यह प्रणाली बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में अपनायी जाती है। प्राय: एक निर्वाचन क्षेत्र से 4-5 प्रतिनिधि चुने जाते हैं।

(ii) प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक परन्तु कुल निर्वाचित होने वारने सदस्यों से एक कम वोट देने का अधिकार होता है। यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से 4 सदस्य निर्वाचित होने है तो प्रत्येक मतदाता को 3 वोट देने का अधिकार होगा। इसके फलस्वरूप अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों का भी कुछ प्रतिनिधित्व हो सकता है।

इस प्रणाली से सबल एवं सुसंगठित अल्पसंख्यक वर्गो को प्रतिनिधित्व मिल सकेगा। किन्तु इस प्रणाली से सभी अल्पसंख्यक वर्गो को अपनी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं होता है। यह प्रणाली एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों से प्रयुक्त नहीं हो सकती।

12.4.3 एकत्रित या सामूहिक मत प्रणाली

इस प्रणाली के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित है :-

(i) अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने वाली यह प्रणाली भी बहु सदस्यी निर्वाचन क्षेत्रों में अपनायी जाती है।

(ii) इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता को उतने ही वोट देने का अधिकार होता है, जितने किसी निर्वाचन क्षेत्र में प्रतिनिधि निर्वाचित होने है।

(iii) इस प्रणाली में मतदाता को यह अधिकार रहता है कि यदि वह चाहे तो अपने समस्त वोट एक ही उम्मीदवार को दे सकता है। इस प्रकार यदि अल्पसंख्यक वर्ग के मतदाता अपने सारे वोट अपने वर्ग के उम्मीदवार को दे देंगे तो वह निर्वाचित हो जायेगा।

12.4.4 पृथक निर्वाचन प्रणाली या साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व

इस प्रणाली के अन्तर्गत विशेष सम्प्रदाय को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया जाता है। भारत में अंग्रेजों ने फूट डालो और शासन करों (क्पअपकम दक त्नसम) नीति के अन्तर्गत मुसलमानों को 1909 में पृथक प्रतिनिधित्व दिया। 1919 एवं 1935 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारत में सिक्ख इसाइयों आदि को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दिया।

निर्वाचन की इस प्रणाली को एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करने के लिए विधानमण्डल में स्थान सुरक्षित किए गये और इन स्थानों की संख्या के बराबर उनके लिए निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते हैं जिनमें अल्पसंख्यक वर्ग के लोग ही मतदाता एवं उम्मीदवार हो सकते हैं।

इस निर्वाचन प्रणाली से यद्यपि अल्पसंख्यकों को सुनिश्चित मात्रा में प्रतिनिधित्व मिल जाता है तथापि यह प्रणाली राष्ट्रीय एकता के लिए सर्वाधिक हानिकारक है तथा अलगाववाद की भावना पनपाती है।

बोध प्रश्न- 3

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. सामूहिक मत प्रणाली की कोई दो विशेषताएं बताइये।

उत्तर: ... ...

... ...

12.4.5 सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली।

राष्ट्रीय एकता को हानि पहुँचाये बिना अल्पसंख्यकों को सुनिश्चित मात्रा में प्रतिनिधित्व देने के लिए सुरक्षित स्थान युका संयुक्त निर्वाचन प्रणाली श्रेष्ठ मानी जाती है। प्रणाली के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित है: -

(i) इस प्रणाली को एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में अपनाया जाता है।

(ii) अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित बनाने के लिए व्यवस्थापिका में उनकी सीटें सुरक्षित कर दी जाती हैं।

(iii) इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र संयुक्त ही रहते है अर्थात् साधारण निर्वाचन क्षेत्र ही होते हैं जिसमें सभी जाति एवं वर्ग के मतदाता होते है, विशेष साम्प्रदायिक आधार पर

निर्वाचन क्षेत्र नहीं बनाये जाते हैं। इस निर्वाचन में केवल अलपसंख्यक -उम्मीदवार चुनाव लड़ते हैं, किन्तु मतदान सभी वर्गो के मतदाता करते हैं।

सारतः अल्पसंख्यकों को प्रचलित वित्त प्रतिधित्व प्रणालियों के माध्यम से विधानमण्डलों को राष्ट्रीय स्वरूप देने का प्रयास किया जाता है। जिससे लोकतान्त्रिक शासन पद्धतियां केवल बहुमत का शासन न बन सके वरन् सभी वर्गो के हितों का प्रतिनिधित्व हो। अधिकांश। देशों में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की पद्धति प्रचलित है। इसके साथ ही अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व। देने के लिये उक्त प्रणालियों में से अनुकूल प्रणाली को अपनाया जाता है।

12.5 सारांश

लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली अत्यन्त लोकप्रिय और इसे विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में अपनाया गया है। लोकतन्त्र के दो रूप प्रत्यक्ष लोकतन्त्र एवं अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र है,। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में नागरिक विधायी कार्यो में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते है अत: इसमें प्रतिनिधि चुनने की आवश्यकता नहीं होती। राज्यों की जनसंख्या एवं क्षेत्रफल में वृद्धि हो जाने के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव नहीं रह गया है। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र में नागरिक प्रत्यक्ष रूप से विधायी कार्यो में भाग नहीं लेते, अपितु समस्त विधायी कार्य 'जनप्रतिनिधियों' द्वारा किया जाता हैं इसलिए अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Indirect Democracy) को 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' (Representative Democracy) कहा जाता हैं अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधित्व प्रजातन्त्र में जनता शासन के कार्यो में सीधे या प्रत्यक्ष रूप से भाग न लेकर नियत समय के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेने के अधिकार को मताधिकार कहते है। इस प्रकार प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त, प्रतिनिधित्व की प्रणालियों एवं अन्य सम्बन्धित मुद्दों का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र से है।

प्रतिनिधित्व के प्रमुख सिद्धान्त- निर्देशित, अनिर्देशित, उदारवादी एवं समष्टिवादी सिद्धान्त हैं। कुछ अन्य सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी एवं रूढ़िवादी सिद्धान्त भी हैं। इनमें सर्वाधिक मान्य सिद्धान्त उदारवादी सिद्धान्त हैं।

प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए मुख्य प्रणालियां-व्यावसायिक प्रणाली, प्रादेशिक प्रतिनिधित्व एवं आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली प्रचलित हैं।

एक आदर्श लोकतांत्रिक व्यवस्था के संगठन के लिए यह आवश्यक है कि विधानमण्डल में सभी वर्गो के प्रतिनिधियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। इसीलिए विविध देशों में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए विविध प्रणालियां प्रचलित हैं। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की पद्धतियां-आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली, सीमित मत प्रणाली, एकत्रित या सामूहिक प्रणाली, पृथक निर्वाचन प्रणाली, सुरक्षित स्थानयुक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली प्रचलित है। विविध देशों में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली के माध्यम से विधान मण्डलों को अधिक प्रतिनिधित्वकारी बनाया जाता है।

12.6 अभ्यास प्रश्न

1. प्रतिनिधित्व के मुख्य सिद्धान्तों का पीरेचय दीजिए।

2. प्रतिनिधित्व की प्रमुख प्रणालियों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

3. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की कौन-कौन सी प्रणालियां प्रचलित हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का विवेचन कीजिए।

12.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बिर्च ए.एच. – रिप्रजेन्टेटिव एण्ड रिस्पॉन्सिबिल गवर्नमेन्ट, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1964
2. वाइल, एम. – कॉन्स्टीट्यूशनलिज्य एण्ड सेपरेशन ऑफ पावर्स, ऑक्सफोर्ड, 1967
3. फ्राइडरिख, सीजे – कॉन्स्टीट्यूशनल गवर्नमेन्ट एण्ड डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई. बी. एच. नई दिल्ली, 1968
4. एप्टर, डेविड ए. – इंट्रोडमान टु पोलिटिकल एनालिसिस, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली, 1978

इकाई -13

प्रत्ययवाद एवं अराजकतावाद

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 प्रत्ययवाद का अर्थ

13.3 प्रत्ययवाद का विकास

13.4 प्रत्ययवाद की प्रमुख विशेषतायें

13.5 प्रत्ययवाद की धारायें

13.5.1 उग्रवादो विचारक-हीगल

13.5.2 उदारवादी विचारक-टी एच. ग्रीन

13.6 प्रत्ययवाद का मूल्यांकन

13.7 अराजकतावाद का अर्थ एवं परिभाषा

13.8 अराजकतावाद का विकास

13.9 अराजकतावाद की विचारधारायें

139.1 व्यक्तिवादी अराजकतावाद

139.2 समाजवादी या साम्यवादी अराजकतावाद

139.3 ईसाई अराजकतावाद

13.10 अराजकतावाद की मूल मान्यतायें

13.11 अराजकतावादी समाज

13.12 अराजकतावाद के साधन

13.13 अराजकतावाद और भारतीय राजनीतिक विचारधारा

13.14 अराजकतावाद का मूल्यांकन

13.15 सारांश

13.16 अभ्यास प्रश्न

13.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप जान पायेंगे-
- प्रत्ययवाद का अर्थ, -विकास और उसके मूल लक्षण;
- प्रत्ययवाद की दो धाराओं उग्रवाद और उदारवाद के सन्दर्भ में क्रमश: हीगल और टी. एच. ग्रीन के विचार,
- प्रत्ययवाद का मूल्यांकन;

- अराजकतावाद का अर्थ और परिभाषा;
- अराजकतावाद की विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण और उसकी मूल मान्यताओं से अन्तरंगता, तथा
- अराजकतावादी समाज और उसके साधन तथा भारतीय राजनीतिक विचारधारा में अराजकतावाद की स्थिति।

13.1 प्रस्तावना

प्रत्ययवाद राज्य से सम्बन्धित विचारधारा है। प्रत्ययवाद के अनुसार राज्य सर्वोपरि है, राज्य साध्य है, तथा विश्व चेतना का साक्षात् रूप है। राज्य एक नैतिक आदर्श व्यवस्था है तथा व्यक्ति अपने नैतिक विकास की कल्पना राज्य में रहकर ही कर सकता हैं, राज्य से बाहर नहीं।

अराजकतावादी विचारधारा शासनरहित समाज- की कल्पना करती है। क्योंकि राजसत्ता हिंसा पर टिकी होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि समाज का गठन बिना किसी राजसत्ता के होना चाहिए। सभी अराजकतावादी चिन्तक इस बात पर एकमत है कि निरंकुश राज्य के स्थान पर व्यक्तियों के आपसी सहयोग द्वारा बिना किसी शासनतन्त्र का कोई संगठन स्थापित होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार हर व्यक्ति में इतनी अच्छाइयाँ और नैतिक समझ अर्न्तनिहित होती है जो शान्ति और कानून व्यवस्था बनाये रखने में सक्षम है।

13.2 प्रत्ययवाद या विचारवाद का अर्थ

अंग्रेजी शब्द आइडियलिज्म (Idealism) की व्युत्पजि आइडिया(Idea) शब्द से हुई है। आइडिया (Idea) का अर्थ है विचार। इसलिए आइडियलिज्म का हिन्दी रूपान्तर विचारवाद है। डा. इकबाल नारायण के अनुसार चूंकि राजनीतिक दार्शनिकों ने जगत के मूल में प्रत्यय रूप चेतन तत्व अर्थात आत्मा को माना, इसीलिए विचारवाद को प्रत्ययवाद भी कहते हैं। प्रत्ययवादियों के अनुसार पूर्णता केवल विचार में ही सम्भव हो सकती है बाह्य दृश्य जगत में नहीं। इस अर्थ में इसे आदर्शवाद भी कहा जाता है।

विचारवाद मूल रूप से एक दार्शनिक-विचार प्रणाली हैं। प्राचीन समय से ही दार्शनिक इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते रहे हैं कि संसार क्या है, इसकी मूल प्रकृति क्या है, इसका मूल तत्व क्या है आदि। जगत के मूल तत्व को लेकर मुख्यत: दो मत है। एक मत के दार्शनिकों के अनुसार जगत का मूल तत्व पदार्थ(Matter) है, जो जड है, भौतिक है। जो कुछ भी संसार में दिखाई देता है वहीं सत्य है, वहीं वास्तविकता है। इस प्रकार भौतिक वस्तु या पदार्थ को सत्य व वास्तविक मानने वाले दार्शनिकों को भौतिकवादी(Materialistic) कहा गया।

दूसरे मत के अनुसार जगत का मूल तत्व जड़ पदार्थ न होकर चेतन तत्व अर्थात आत्मा है और उसी की अभिव्यक्ति हम बाह्य जगत में अनेक रूपों एवं नामों में देखते है। जगत के मूल में माने जाने वाले चेतन तत्व के बारे में ज्ञान प्राप्त करने का इन दार्शनिकों का तरीका विचारवादी है.। और इनका मानना है कि जगत सम्बन्धी सत्य को पूर्ण रूप से विचार में जाना जा सकता है। इसलिए ये दार्शनिक विचारवादी (Idealistic) कहलाए। ये भौतिक वस्तुओं या पदार्थ की यर्थाथता व पूर्णता पर विश्वास नहीं करते। इनके अनुसार विचार पूर्ण है तथा

वास्तविकता है। दृश्य जगत में जो कुछ दिखाई पडता है वह विचार की ही बाह्य अभिव्यक्ति है। संसार की वस्तुओं के अनुभव के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह ज्ञान अपूर्ण है। क्योंकि यह ज्ञान जिन वस्तुओं के आधार पर इन्द्रियों से प्राप्त किया जाता है वे वस्तुऐं स्वयं में अपूर्ण है। और यदि।, हमें जगत के मूल तत्व के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है तो हम उसे पूर्ण के आध्यात्मिक चिन्तन के द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। और यह पूर्णता केवल विचार में ही सम्भव है। इसी विचार का जन्म हुआ। दार्शनिक विचारवाद का प्रयोग जब राजनैतिक जगत के मूल से, सत्य की खाज के लिए किया गया तो उसे राजनीतिक विचारवाद कहा गया।

राजनीतिक जगत सम्पूर्ण जगत का ही एक भाग है। इस प्रकार राजनीतिक जगत के मूल में भी वही चेतन तत्व या आत्मा है। और राजनीतिक जगत की संस्थाओं जैसे राज्य और व्यक्तियों के राजनीतिक क्रियाकलाप भी व्यक्तियों के आध्यात्मिक के ही परिणाम हैं। अत: राजनीतिक प्रत्ययवाद इस बात की विवेचना करता है कि राजनीतिक कार्यकलापों का, राजनीतिक संस्थाओं का क्या आधार और स्वरूप है, राज्य का आदर्श क्या है, राज्य को कैसा होना चाहिए आदि। इस प्रकार विचारवादी सिद्धान्त राज्य की विवेचना क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से करता है इसलिए इसे राज्य का 'आध्यात्मिक सिद्धान्त' भी कहते हैं। साथ ही हरन का दार्शनिक आधार है इसलिए इसे राज्य का दार्शनिक सिद्धान्त कहते हैं। गैटेल इसे 'नैतिक सिद्धान्त', सी. ई. एम. जोड राज्य का 'निरपेक्ष सिद्धान्त तो मैकीवर 'रहस्यवादी सिद्धान्त' से सम्बोधित करता है।

13.3 प्रत्ययवाद का विकास

प्रत्ययवादी विचारधारा का विकास क्रम अत्यन्त प्राचीन है। प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध रचना "द रिपब्लिक" में राजनीतिक प्रत्ययवाद का वर्णन किया है। उसके राज्य मानव आत्मा की बाह्य छाया की भाँति है। प्लेटो के शिष्य अरस्तु का विचार था कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति को सद्जीवन प्रदान करने के लिए है। प्लेटो और अरसा दोनों के ही मत में राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन, राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। प्लेटो यह भी मानता है कि राज्य एक नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास करना है। ये दोनों ही विचारक व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता को राज्य में विलीन कर देते हैं। अरस्तु के बाद लगभग। एक हजार वर्षो तक यह विचारधारा तब तक लुप्त रही, जब तक कि मैकियावली ने राज्य के निरंकुश रुप का समर्थन करने वाली विचारधारा को पुर्नजीवित किया। तत्पश्चात 17 वीं शताब्दी में हॉक तथा स्पिनोजा ने राज्य के स्थान पर राजा को सर्वशक्तिमान माना और कहा कि राजा की आज्ञा मानना व्यक्ति का परमधाम है। और राजा ही सम्पूर्ण नैतिकता तथा कानून का जन्मदाता है। सरथामस मूर ने अपनी पुस्तक **'यूटोपिया'** में एक आदर्श राज्य का चित्र प्रस्तुत करके राज्य की प्रकृति तथा मानव व राज्य के सम्बन्धों पर नया प्रकाश डाला। 18 वीं शताब्दीं में फ्रांसीसी विचारक; रूसो ने अपनी पुस्तक "सामाजिक अनुबन्ध" में 'सामान्य इच्छा सिद्धान्त' के माध्यम से राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों की व्याख्या करके आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) को एक प्रभावशाली आधार प्रदान किया जो उसके पश्चात् से जर्मन और ब्रिटिश प्रत्ययवादियों का वेदमन्त्र बन गया।

रूसो के बाद आधुनिक प्रत्ययवादी विचारकों कान्ट, हीगल, फिस्टे, ब्रेडले, ग्रीन, बोसांके आदि ने प्रत्ययवाद की व्याख्या की। और इसे नवीन रूप प्रदान किया। इनमें टी. एच. ग्रीन का प्रत्ययवाद "व्यक्तिवादी आदर्शवाद" के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

13.4 प्रत्ययवाद की प्रमुख विशेषताएं

प्रत्ययवाद के अनुसार राज्य के मुख्य लक्षण या विशेषताएं निम्न प्रकार है-

(1) **राज्य एक प्राकृतिक संस्था है -** व्यक्तिवाद एवं उपयोगितावाद ' की मान्यता के विपरीत प्रत्ययवाद राज्य को कृत्रिम संस्था न मानकर प्राकृतिक व संस्था मानता है। इनके अनुसार राज्य मनुष्य की उस स्वाभाविक अर्न्तवृत्ति का परिणाम है जो उसे समाज बनाकर रहने के लिए प्रेरित करती है। ग्रीन के अनुसार राज्य इसलिए प्राकृतिक एवं स्वाभाविक संस्था है क्योंकि यह व्यक्ति की नैतिक चेतना से विकासित हुआ है। जबकि हीगल राज्य एवं व्यक्ति दोनों को ही विश्वात्मा की नैतिक चेतना का अंग मानते है।

(2) **राज्य एक नैतिक संस्था है -** विचारवाद राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है। अरस्तु के शब्दों में राज्य सभ्य जीवन की पहली आवश्यकता है तथा वह हमारे नैतिक विचारों का प्रतिफल है। और चूंकि राज्य कोई भौतिक संस्था न होकर आध्यात्मिक संवाद है इसलिए राज्य का कार्य व्यक्तियों के बाद क्रियाकलापों को नियन्त्रित करने के साथ-साथ व्यक्ति में नैतिकता, योग्यता एवं विवेक का विकास करना है। बोसाके के अनुसार 'राज्य एक नैतिक प्रत्यय है। "

ग्रीन के अनुसार राज्य इसलिए नैतिक संस्था है कि इसका विकास व्यक्ति की नैतिक चेतना से हुआ है। जबकि हीगल के अनुसार 'राज्य विश्वात्मा से उत्पन्न होने के कारण स्वयं नैतिकता का स्रोत है, इसलिए नैतिक संस्था है।

(3) **राज्य साध्य है -** इस विचार धारा के अनुसार यदि व्यक्ति को मानव जीवन के परम उद्देश्यों एवं प्रयोजनों की सिद्धि करनी है तो उसे राज्य की साधना करनी चाहिए। यही कारण है कि राज्य साध्य और व्यक्ति को उसका साधन मात्र समझा जाता है। हीगल ने सावयव सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा था कि जिस प्रकार शरीर में विभिन्न अंग होते है उसी प्रकार राज्य में व्यक्ति स्थित है। सम्पूर्ण शरीर के हित साधन के लिए अंगों का प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार राज्य के उद्देश्य प्राप्ति के लिए व्यक्ति भी साधन मात्र है

(4) **राज्य सर्वशक्तिमान है -** जिस प्रकार शरीर का अंग हमेशा शरीर के अधीन होता है। उसी प्रकार व्यक्ति भी हमेशा राज्य के अधीन होता है। रूसो के अनुसार राज्य व्यक्तियों की सामान्य इच्छा का स्वरूप है इसलिए यह सर्वोपरि व सर्वशक्तिमान है तथा व्यक्ति इस सामान्य इच्छा के अधीन है। हीगल के अनुसार व्यक्ति के अधिकार व स्वतंत्रताऐं राज्य पर निर्भर करती है। राज्य के विरूद्ध उसके अधिकार को मान्यता नहीं दी जा सकती है। राज्य के प्रति मनुष्य के केवल कर्तव्य हो सकते है। और

क्योंकि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना है, इसलिए राज्य व व्यक्ति के बीच कोई विरोध भी नहीं हो सकता।

(5) राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं - ग्रीन राज्य का आधार इच्छा मानते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य शक्ति का प्रयोग नहीं करता। इसका मतलब है कि राज्य के बल प्रयोग करने में भी लोगों की सामान्य इच्छा निहित होती है। इसीलिए राज्य का मुख्य गुण शक्ति नहीं, बल्कि इच्छा है।

(6) राज्य व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रता का स्रोत है - प्रत्ययवाद के अनुसार वास्तविक रूप से व्यक्ति स्वतंत्र तब होता है जब वह अपनी स्वतंत्र नैतिक इच्छा के अनुसार करता है उन परिस्थितियों की व्यवस्था राज्य करता है। इसलिए राज्य व्यक्ति को -' स्वतंत्रता प्रदान करता है।

प्रत्ययवादी इस बात में विश्वास नहीं करते कि राज्य से पहले भी व्यक्ति के अधिकार थे इनके अनुसार राज्य व्यक्ति के अधिकारों का जन्मदाता व संरक्षक दोनों ही है। राज्य के अभाव व्यक्ति के अधिकारों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

बोध प्रश्न 1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. प्रत्ययवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर: ... ...

... ...

2. चार प्रत्ययवादी विचारकों के नाम बताइऐं ?

उत्तर: ... ...

... ...

3. प्रत्ययवाद के अनुसार राज्य की तीन विशेषताऐं लिखिए?

उत्तर: ... ...

... ...

13.5 प्रत्ययवाद की धाराऐं

इस विचारधारा से सम्बन्धित विद्वानों में मतभिन्नता के कारण विचारधारा को दो धाराओं में विभाजित किया जा सकता है-उग्रवादी प्रत्ययवाद एवं उदरवादी प्रत्ययवाद।

उग्रवादी प्रत्ययवाद की धारा के विचारकों में हीगल, फिक्टे, ट्रीट्स्के, आगस्टो वीरा, क्रोशे आदि प्रमुख है। इनके अनुसार ईश्वरीय चेतना (विश्वात्मा) से राज्य सर्वशक्तिमान, निरंकुश, साध्य एवं नैतिक संस्था है। राज्य का अपना व्यक्तित्व और इच्छा है।

उदारवादी प्रत्ययवाद के प्रतिनिधि विचारक टी. एच. ग्रीन, ब्रेडले आदी हैं। उग्रवादी धारा के विपरीत इनका मानना है कि व्यक्ति की नैतिक चेतना से उत्पन्न राज्य साधन है और व्यक्ति साध्य। राज्य का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति की नैतिक उन्नति करना तथा ऊन बाधाओ को दूर करना है जो व्यक्ति के पूर्ण विकास के मार्ग में बाधक है।

यहां हम उग्रवादी प्रत्ययवाद के प्रतिनिधि विचारक हीगल और -ऐ प्रत्ययवाद के प्रतिनिधि विचारक टी. एच. ग्रीन के विचारों की संक्षेप में चर्चा करेगें। इनमें हमें सम्पूर्ण प्रत्ययवाद के दर्शन हो जाते है।

13.5.1 उग्रवादी विचारक-जी डब्ल्यू एफ. हीगल

हीगल जर्मन प्रत्ययवादी दार्शनिक है। उसने काण्ट और फिक्टे प्रतिपादित प्रत्ययवाद को चरम सीमा तक पहुंचाया और उसे उग्र प्रत्ययवाद का रूप प्रदान। हीगल के प्रत्ययवादी दर्शन की मुख्य बातें निम्न हैं-

1. **द्वन्द्वादी पद्धति -** हीगल ने इस पद्धति को प्राचीन यूनानी सुकरात से ग्रहण किया था। प्राचीन यूनान में सत्य की खोज के लिए वाद-विवाद प्रचलित थी। हीगल ने इस पद्धति को समाज, राज्य, सृष्टि की उत्पत्ति एवं विकास स्पष्ट करने के लिए किया। इस पद्धति के तीन स्तर है। किसी वस्तु या विचार की मूल अवस्था को 'वाद' (Thesis) कहा जाता है। लेकिन कुछ समय पश्चात् इस अवस्था अर्न्तविरोधों के कारण दूसरी अवस्था का विकास होता है, जिसे हीगल प्रतिवाद (Anti–Thesis) कहता है। 'वाद' और 'प्रतिवाद' के गुण एक दूसरे सें भिन्न व विपरीत होते है। और उनमें परस्पर द्वन्द्व (संघर्ष) होता है, जिसके परिणामस्वरूप विकास की एक नई अवस्था जन्म लेती है जिसे संवाद' (Synthesis) कहा जाता है। संवाद अपने पूर्वगामी वाद एवं प्रतिवाद से सर्वथा भिन्न और उससे उत्तम श्रेणी का होता है। इस प्रकार विकास का एक स्तर पूर्ण हो जाता है। लेकिन कुछ समय बाद यह संवाद स्वयं वाद बन जाता है। और इसमें अर्न्तनिहित आन्तरिक विरोध के कारण इसका प्रतिवाद विकसित होता है। फिर वाद व प्रतिवाद में संघर्ष होता है। और फिर नये संवाद का जन्म होता है। इस प्रकार विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। और विकास की यह प्रक्रिया प्रत्येक अवस्था में अर्न्तनिहित अर्न्तविरोध से संचालित व नियंत्रित होती है।

   हीगल के अनुसार राज्य की उत्पत्ति प्रत्यय या विश्वात्मा से हुई है। परिवार आत्मा के विकास का 'वाद' है और समाज इसका 'प्रतिवाद' है। परिवार का आधार प्रेम एवं सहयोग है। समाज में प्रेम के स्थान पर पारस्परिक विरोध एवं सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्द्धा होती है। सामाजिक संघर्ष एवं प्रतिस्पर्द्धा को विवेक पूर्ण बनाये रखने के लिए 'राज्य' रूपी संवाद का विकास होता है। जिसमें परिवार एवं समाज दोनों के लक्षण पाये जाते है।

2. **हीगल के राज्य संबंधी विचार -** हीगल ने राज्य को नैतिक, स्वाभाविक, निरकुंश, सर्वशक्तिमान एवं सर्वोच्च संस्था कहा है। राज्य की उत्पत्ति विश्वात्मा (प्रत्यय) से हुई है। राज्य एवं व्यक्ति दोनों एक ही विश्वात्मा की नैतिक चेतना के अंग है। राज्य विश्वात्मा के विकास की सर्वोच्च अवस्था है। इसलिए राज्य एक नैतिक संस्था है। यह ईश्वरीय चेतना का मूर्त रूप है। इसका कोई कार्य अनैतिक नही हो सकता है, क्योंकि यह स्वयं नैतिकता का स्त्रोत है। और यह व्यक्ति को नैतिक बनाने में समर्थ हैं।

हीगल की मान्यता है कि राज्य निरंकुश व सर्वशक्तिमान है। राज्य केवल आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं वरन् अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में भी सर्वोच्च है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून समझौते एवं नैतिकता के नियमों को स्वीकार या अस्वीकार करना राज्य की इच्छा पर निर्भर करता हैं। राज्य पर कोई अन्तराष्ट्रीय कानून भी लागू नहीं हो सकते। इस प्रकार हीगल ने युद्ध एवं साम्राज्यवाद की नीति का भी समर्थन किया है। युद्ध राज्य को सबल बनाता है। और युद्धों से गृहयुद्धों की सम्भावना भी समाप्त होती है।

3. **अधिकार संबंधी धारणा -** हीगल के अनुसार राज्य व्यक्ति के अधिकारों का जन्मदाता है। राज्य के विरूद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते, व्यक्ति के अधिकार केवल वे ही हो सकते है जो राज्य द्वारा व्यक्ति को दिये जाते हैं। व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का भी अधिकार नहीं है क्योंकि राज्य एवं व्यक्ति में कोई विरोध नहीं है और राज्य एक प्रकार से व्यक्तियों के हितों के लिए ही कार्य करता है।

   हीगल के अनुसार राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है। राज्य का कार्यक्षेत्र भी असीमित है और उसे व्यक्ति के जीवन में पूर्ण हस्तक्षेप का अधिकार है।

4. **स्वतन्त्रता संबंधी धारणा -** हीगल के अनुसार राज्य व्यक्ति को स्वतंत्रता प्रदान करता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता राज्य का विरोध करने में नहीं हैं बल्कि वह सही अर्थो में पूर्ण स्वतंत्र तभी होता है जब वह राज्य के आदेशों एवं कानूनों का पालन पूर्ण आस्था एवं विश्वास के साथ करता है। क्योंकि राज्य का आदेश सामान्य इच्छा का मूर्तरूप होता है। और सामान्य इच्छा व्यक्ति की इच्छा का ही व्यापक रूप है। राज्य व्यक्ति के अधिकारों का जन्मदाता है। राज्य के बिना अधिकार एवं स्वतंत्रता की बात सोची भी नहीं जा सकती।

13.5.2 उदारवादी विचारक -टांमस हिल ग्रीन

ग्रीन ने अपने विचारों में राज्य की महानता के साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता का तालमेल स्थापित करने का प्रयास किया है। अन्य प्रत्ययवादियों की भाँति ग्रीन भी राज्य को नैतिक संस्था मानता है। लेकिन फिर भी उसे ईश्वर तुल्य न मानकर मानव चेतना से उत्पन्न मानता है। ग्रीन के मुख्य राजनीतिक विचार इस प्रकार है -

1. **स्वतंत्रता संबंधी विचार :-** ग्रीन के विचारों की शुरूआत स्वतंत्रता के विचार से होती है और इसी के आधार पर वह अधिकारों एवं राज्य का प्रतिपादन करता है। ग्रीन स्वतंत्रता को मानवीय आत्मा का आवश्यक गुण मानता. है। स्वतंत्रता ही अधिकारों को जन्म देती है। स्वतंत्रता का अर्थ 'बन्धनों का अभाव' नहीं है। और न इसका अर्थ स्वच्छन्दता से है। अर्थात मनमानी करने की छूट को स्वतंत्रता नहीं माना जा सकता। स्वतंत्रता का रूप नैतिकतापूर्ण है। ग्रीन के विचार में स्वतंत्रता का अर्थ नैतिक दृष्टि से उचित एवं, वांछित कार्यो को करने की उस सुविधा एवं क्षमता से है जिससे व्यक्ति का नैतिक विकास हो। इस स्वतंत्रता के दो रूप है :-

   (क) आन्तरिक स्वतंत्रता :- यह नीतिशास्त्र का विषय हैं। इन्द्रियों के वश में होकर व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता खो देता है। व्यक्ति को सच्ची आन्तरिक स्वतंत्रता तभी प्राप्त

होती है जब व्यक्ति अपनी इन्द्रियों, वासनाओं एवं बुरी मनोवृतियों आदि से संचालित न होकर उन्हें अपनी इच्छानुसार संचालित एवं नियन्त्रित करें।

(ख) बाह्य स्वतंत्रता :- यह राजनीतिशास्त्र का विषय है। इसका अभिप्राय ऐसी बाहरी परिस्थितियां उत्पन्न करना है कि जिनमें अपने वास्तविक हितों को पूरा कर सके और अपने नैतिक विकास करने में किसी बाधा का सामना न करना पड़े।

2. **वैयक्तिक अधिकार संबंधी विचार :-** ग्रीन के अनुसार अधिकार '। व्यक्ति के द्वारा अपने नैतिक विकास के लिए समाज से की जाने वाली बाह्य आवश्यक परिस्थितियों की मांगें है जिन्हें समाज लोककल्याण के लिए आवश्यक मानकर व्यक्ति को प्रदान करता है। इस प्रकार अधिकार में निम्न बातें निहित हैं।

(क) ये व्यक्ति की माँगे है (ख) ये समाज द्वारा स्वीकृत हैं (ग) इन्हें राज्य का संरक्षण प्राप्त हैं अत: ' अधिकारों का जन्मदाता समाज है, राज्य नहीं। राज्य इन अधिकारों को संरक्षण प्रदान करता है। इस प्रकार ग्रीन राज्य पर समाज का बन्धन आरोपित करूगा है। ग्रीन के अनुसार राज्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक है। उग्र प्रस्थ्यवादियों से भिन्न ग्रीन का मानना है यदि राज्य व्यक्ति के उच्च नैतिक आदर्शो की पूर्ति नहीं कर पाता तो व्यक्तियों को राज्य के विरूद्ध किन्हीं आवश्यक परिस्थितियो में विद्रोह करने! का अधिकार है। और अधिकार क्योंकि व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए अनिवार्य दशाऐं है इसलिए इन्हें प्राकृतिक या स्वाभाविक कहा जा सकता है।

3. **राज्य का आधार इच्छा, शक्ति नहीं :-** ग्रीन के अनुसार राज्य की उत्पत्ति व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा की इच्छा या उद्देश्य से हुई है। अधिकांश व्यक्तियों की यह सामान्य इच्छा रहती है कि सभी व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करने कोई संस्था होनी चाहिए। और इसी सामान्य इच्छा के परिणामस्वरूप राज्य की हुई है। इस प्रकार राज्य सामान्य इच्छा का ही मूर्तरूप है। और यही इच्छा राज्य का आधार है। यद्यपि राज्य कई बार व्यक्ति के विरूद्ध शक्ति का प्रयोग कर सकता है और कही भी है। लेकिन फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि राज्य का आधार शाक्ति है। क्योंकि राज्य के शक्ति प्रयोग करने के मूल में भी लोगों की सामान्य इच्छा की स्वीकृति निहित होती है। और तभी वह शक्ति का प्रयोग करता है। इसलिये ग्रीन ने कहा है कि राज्य का वास्तविक आधार शक्ति नहीं बल्कि इच्छा है।

4. **ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचार :-** प्रत्ययवादी परम्परा के अनुसार ग्रीन राज्य को प्राकृतिक और अनिवार्य मानता है। उसके अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है, जो व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। परन्तु वह राज्य को सर्वशक्तिमान नहीं मानता क्योंकि राज्य भी व्यक्तियों की ही भांति अनैतिक मार्ग पर जा सकता है। ग्रीन राज्य की शक्ति पर कुछ सीमायें भी लगाता है जैसे : -

नागरिक का सविनय अवज्ञा का अधिकार, समाज में अन्य समुदायों का अस्तित्व और अर्न्तराष्ट्रीय कानून आदि।

5. **सविनय अवज्ञा का अधिकार :-** ग्रीन विशेष परिस्थितियों में नागरिकों को राज्य की अवज्ञा करने का अधिकार भी देता हैं परन्तु ग्रीन यह भी कहता है कि आज्ञा उलघंन का उद्देश्य निजी स्वार्थ न होकर राज्य का सुधार होना चाहिए। उसका यह भी मानना है कि राज्य का विरोध करना नागरिकों का कर्तव्य नहीं हो सकता यह तो केवल सविनय अवज्ञा का ही अधिकार है।

6. **राज्य के कार्यो का सिद्धान्त :-** ग्रीन राज्य को एक नैतिक संस्था मानता है। राज्य का कार्य मनुष्य का नैतिक उत्थान करके उसे अच्छा जीवन व्यतीत कर सकने योग्य बनाना है। उसके कार्यो का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। जिन्हें वह कानून द्वारा हटा सकता है। इस प्रकार ग्रीन ने राज्य के कार्यो के बारे में ' 'बाधाओं के सामने बाधा का सिद्धान्त ' 'प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ' राज्य का कार्य उन दशाओं को जन्म देना है जिनमें नैतिकता सम्भव हो सके "। इस प्रकार राज्य का कार्यक्षेत्र मनुष्य का बाहरी आचरण ही हो सकता है अन्त : कारण नहीं।

7. **युद्ध और विश्वबन्धुत्व पर ग्रीन के विचार :-** ग्रीन ने युद्ध का विरोध किया है। वह हीगल की इस बात से सहमत नहीं है कि युद्ध लोगों के नैतिक मूल्यों जैसे- देशभक्ति, त्याग, वीरता आदि जाग्रत करता है। ग्रीन ने विश्वबन्धुत्व या अर्न्तराष्ट्रीयता का समर्थन किया है। ग्रीन न केवल राष्ट्रवाद का विरोधी था बल्कि बाह्य क्षेत्र में भी राज्य के आचरण पर प्रतिबन्ध लगाने का समर्थक था। वह हीगल के इस मत के विरूद्ध था कि कोई अर्न्तराष्ट्रीय विधान नहीं हो सकता।

बोध प्रश्न- 2

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. प्रत्ययवाद की दो धाराओं के नाम बताइये।

उत्तर: .....

प्रश्न2. व्यक्ति और राज्य पर ग्रीन व हीगल के विचारों में कोई एक अन्तर लिखिए।

उत्तर: .....

प्रश्न3. हीगल की द्वन्द्ववादी पद्धति के क्या अंग हैं?

उत्तर: .....

प्रश्न4. ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता क्या है?

उत्तर: .....

13.6 प्रत्ययवाद का मूल्यांकन

प्रत्ययवाद की अनेक विचारकों द्वारा कटु आलोचनायें की गयी लूँ। सी० एम० जोड़ ने तो यहाँ तक कहा है कि "यह सिद्धान्त न तो सिद्धान्त की दृष्टि से सही है और न तथ्यों के अनुकूल है। इसमें वर्तमान राज्यों की विदेश नीति के क्षेत्र में अविवेकपूर्ण कार्यो का। समर्थन करने की प्रवृत्ति मौजूद है'। संक्षेप में प्रत्ययवाद में निम्न दोष देखे जा सकते है -

(1) यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है क्योंकि जिस राज्य की कल्पना प्रत्ययवादी विचारक करते है वह व्यावहारिक नहीं है। स्वयं अरस्तु ने स्वीकार किया है कि आदर्श राज्य स्वर्ग में ही कदाचित स्थापित हो सके पृथ्वी पर तो वह नहीं है'

(2) यह सिद्धान्त राज्य को सर्वशक्तिमान मानता है और व्यक्ति को आंखे बन्द करके राज्य की आज्ञा पालन करने का सबक देता है, जो उचित नहीं है।

(3) प्रत्ययवादी राज्य और समाज में कोई अन्तर नहीं करते है यह उनकी भूल है। सामाजिकता का रूप केवल राज्य ही नहीं है, मानव समाज में अन्य समुदाय भी हैं। राज्य साध्य भी नहीं है

(4) राज्य व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति राज्य के लिए नहीं।

(5) प्रत्ययवादी राज्य को एक पूर्ण संस्था स्वीकार करते है, परन्तु व्यवहार में ऐसा कोई पूर्ण राज्य नहीं है। अब तक जितने भी राज्य हुए है उनमें दासता, अत्याचार और शोषण रहा है और वर्तमान में भी है।

(6) प्रत्ययवादियों का कहना है कि राज्य और व्यक्ति में कोई विरोध महीं है लेकिन ऐसा नहीं है। राज्य और व्यक्ति में हमेशा अर्न्तविरोध देखे गये है।

यद्यपि प्रत्ययवादी सिद्धान्त की अनेक आलोचनायें की गयी है। लेकिन फिर भी इस विचार धारा को हम निरर्थक नहीं कह सकते। सर्वप्रथम यह सिद्धान्त राजनीति नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रत्ययवाद राज्य और समाज की आंगिक एकता भी जोर देता है और इस बात को भुलाया भी नहीं जा सकता कि राज्य से बाहर व्यक्ति के का विकास नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने का सकारात्मक पक्ष प्रस्तुत किया है।

13.7 अराजकतावाद का अर्थ एवं परिभाषा

अराजकतावाद अंग्रेजी शब्द एनार्किज्म का हिन्दी अनुवाद है। भाषा के 'एनार्किया शब्द से एनार्किज्म की व्युत्पति हुई है। जिसका शाब्दिक अर्थ है का अभाव 'अर्थात् अराजकतावाद का अभिप्राय एक शासनविहीन समाज से है जिसमें राज्य की कोई चीज न हो, क्योंकि राज्य शोषण और अत्याचार का परिचायक है। लेकिन यह भी स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए ऐच्छिक समुदाय आवश्यक है जिसमें किसी भी बाध्यकारी शक्ति के अधीन नहीं हो, बल्कि पूर्ण स्वतंत्र हो और व्यक्तियों के आपसी 'व स्वतंत्रता, प्रेम, एकता एवं सहयोग पर आधारित हो। अर्थात् अराजकतावाद एक ऐसे समाज के निर्माण को लक्ष्य मानता है जिसमें सेना, न्यायालय तथा जेलों का कोई स्थान न हो, व्यक्ति नियमों का पालन किसी भय से नहीं बल्कि स्वयं अपनी इच्छा से करें।

परिभाषा:- अराजकतावाद की परिभाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभिन्नता दिखाई देती है।

हक्सले- "अराजकतावाद समाज की वह स्थिति है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा।"

एफ.डब्ल्यू. कोकर- 'अराजकतावाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार राजनीतिक सत्ता प्रत्येक रूप से अनावश्यक है।

ई० वी० जेंकर- "आदर्श एवं अराजकतावाद का अर्थ उस पूर्ण स्वतंत्र व्यक्तिगत शासन से है जिसका उद्देश्य प्रत्येक प्रकार के बाह्य शासन की अनुपस्थिति से है।"

जी० डी० एच० कोल- "एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद का अभिप्राय उस स्वतंत्र समाज से है जिसमें बाध्यकारी तत्वों का लोप हो चुका है।"

अत: अराजकतावादी समाज व्यवस्था विहीन समाज नहीं है। यह शोषण और नियंत्रणहीन समाज का स्वप्न है। अराजकतावादियों ने इसे एक व्यवस्थित दर्शन का रूप दिया है। वर्तमान युग की राजनीतिक विचारधाराओं को भी अराजकतावादियों ने काफी मात्रा में प्रभावित किया है।

13.8 अराजकतावाद का विकास

आधुनिक अराजकतावाद के विकास में यद्यपि प्रौधा बैकुनिन क्रोपोत्किन आदि विचारकों का महत्वपूर्ण योगदान है, लेकिन अराजकतावाद के प्रथम व्याख्याकार प्राचीन ग्रीक स्टोइक दर्शन के प्रवर्तक जेनो को माना जाता है। जेनो ने एक ऐसे समाज की कल्पना की, जिसमें राज्य का कोई अस्तित्व न हो, और जिसमें व्यवस्था के मुख्य आधार स्वतन्त्रता व समानता हो। 18वीं सदी के अन्त में गॉडविन (1756- 1836) ने राज्य व व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध किया। गॉडबिन का मानना था कि व्यक्ति अपने स्वभाव से विवेकशील व न्यायप्रिय होता है। राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति के इन गुणों का हनन करते है। यदि इन दोनों का अन्त कर दिया जाए तो व्यक्ति एक दूसरे के साथ सहयोग व प्रेम से रह सकता है। गॉडविन के अनुसार राज्य शोषण की पूंजीवादी व्यवस्था को संरक्षण प्रदान करता है। यद्यपि गॉडविन शोषण की व्यवस्था के अन्त के पश्चात् कुछ समय तक के लिए राज्य की आवश्यकता महसूस करते हैं लेकिन आधुनिक विचारक राज्य को तुरन्त समाप्त कर देने के पक्षधर हैं।

प्रोधां (1809- 1865) राज्य को शोषण व अत्याचार का प्रतीक मानता था। उसके अनुसार राज्य शक्ति पर आधारित होता है और इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता का हनन होता है। प्रोधां व्यक्तिगत सम्पत्ति के असमान वितरण के स्थान पर उसके न्यायसंगत व समान वितरण के वश में था। प्रोधा ने राज्य के अन्त के बाद के समाज की व्यवस्था का स्वरूप भी बताया जिसमें कि व्यक्ति तथा ऐच्छिक समुदाय मिलकर उत्पादन की व्यवस्था को संभाल लेंगे। थोरियों (1817- 18782) की मान्यता थी कि यदि व्यक्ति को राज्य के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया जाग तो उसके अधिकतम नैतिक विकास की सम्भावना है।

बैकुनिन (1814 - 1876) राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं पूंजी वाद तथा धर्म को व्यक्ति व समाज के लिए हानिकारक समझता था। उसके अनुसार राज्य शक्ति पर आधारित होने के कारण नागरिकों से बलपूर्वक उनकी इच्छा के विरूद्ध अपना आदेश मनवाता है। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं पूंजीवाद को शोषण व निर्धनता का कारण मानता है।

टालस्टॉय (1828-1910) ने ईसाई अराजकतावाद को विकसित किया। इसके वाद क्रोपोत्किन, सिमिड आदि विचारकों एवं भौतिकवादी विचारधारा के साथ-साथ हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों के प्रभाव ने भी अराजकतावादी चिन्तन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

139. अराजकतावाद की विचारधाराएं

आधुनिक अराजकतावादी विचारधारा को मुख्य रूप से तीन वर्गो में बांटा जा सकता है। व्यक्तिवादी अराजकतावाद, समाजवादी या साम्यवादी अराजकतावाद और ईसाई अराजकतावाद।

1. **व्यक्तिवादी अराजकतावाद -** इस विचाराधारा का मानना है कि व्यक्ति समाज से ऊपर है। व्यक्तिवादी विचारधारा में अतिवाद के समर्थक किसी भी प्रकार के समूह को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वे सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार सामाजिक व्यवस्था का संचालन नैतिक मान्यताओं के आधार पर होमा चाहिये। इस विचारधारा के समर्थकों में जोसिओं वारेन, वेन्जामिन टुकर, मैक्स स्टिर्नर आदि प्रमुख हैं।
2. **समाजवादी या साम्यवादी अराजकतावाद -** साम्यवादी विचारधारा व्यक्तिवादी विचारधारा के विपरीत संगठनों और समुदायों अर्थात सामूहिक जीवन पर ज्यादा बल देती है। इस विचारधारा के समर्थकों ने छोटे-छोटे आत्मनिहित समुदायों के एक ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें न तो कोई राजसत्ता होगी और न ही निजी सिग्लन। इस प्रकार के समाज का आधार पूर्ण स्वतंत्रता और आर्थिक समानता होगा। समाजवादी अराजकतावादियों में गॉडविन बैकुनिन, कोपोत्किन आदि प्रमुख हैं।
3. **ईसाई अराजकतावाद -** इसके प्रमुख चिन्तक टालस्टॉय थे। वे अत्याचार और ऐशो-आराम की जिन्दगी से नफरत करते थे। टालस्टॉय का मत था कि निजी सम्पत्ति और राज्य दोनो ही ईसाई मत के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते। उन्होंने पुलिस बल पर प्रशासन चलाने वाले राज्य की घोर निन्दा की, क्योंकि इस प्रकार का राज्य बुराई मिटाने के लिए बल प्रयोग न करने के ईसामसीह के निर्देश का उल्लंघन करता है। टालस्टॉय के अनुसार कुछ लोग व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पर्क के कारण दूसरों के परिश्रम की कीमत पर ऐशों-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं। यह ईसामसीह के दया करने और बन्धुत्व के साथ रहने के निर्देश के विरूद्ध है।

13.10 अराजकतावाद की मूल मान्यताएँ

अराजकतावाद को राज्यविहीन समाज का प्रभावशाली दर्शन कहा पाता है। यह एक विशिष्ट दर्शन है जिसका उद्देश्य मनुष्य को अधिक स्वतंत्रता प्रदान करना। है। इसकी प्रमुख मान्यताएं अग्रलिखित हैं-

1. **राज्य को एक आवश्यक बुराई मानना:-** अरारनकावादी राज्य को एक व्यर्थ संस्था मानते है। उनके अनुसार राज्य जो कार्य करता है वे कार्य ऐच्छिक सदस्यों द्वारा अधिक कुशलतापूर्वक किये जा सकते हैं। आंतरिक पुनर्निर्माण और देश की सुक्षम का कार्य यदि स्वतंत्र समुदायों द्वारा किया जाये तो ज्यादा उचित होगा।

अराजकतावादी तो यहां तक कहते हैं कि यदि सेनायें न भी हों तो सहज की सुरक्षा का प्रश्न कोई मुश्किल नहीं होगा। इतिहास इस बात का गवाह है कि जड़ क्रांतिया विदेशी आक्रमणों का मुकाबला सेनाओं की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ कुश्ती है।

2. **सरकार विरोधी:-** सरकार राज्य की प्रतिनिधि होती है। इसका संगठन. ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित होता है। जो अपने स्वार्थों के लिये सरकार की सत्ता का दुरूपयोग करते हैं। प्रतिनिधि शासन को न्यायोचित भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसमें प्रतिनिधि हर व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं करता। इसमें प्रतिनिधि भ्रष्ट हो जाते हैं, अपनी नैतिकता खो देते हैं तथा स्वार्थो की पूर्ति के लिये सत्ता का दुरूपयोग करते हैं।

3. **व्यक्ति की स्वतंत्रता का महान समर्थक:-** व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये किसी भी प्रकार के बाह्य नियंत्रण को अराजकतावादी अनुचित मानते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता ही सर्वोच्च हित है, और यह तभी प्राप्त की सकती है जब व्यक्ति पर समाज द्वारा लगाये गये बाह्य नियंत्रणों से वह मुक्त हो। राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक तीनों क्षेत्रों में मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता देना अराजकतावाद का प्रमुख उद्देश्य है।

4. **धर्म का विरोधी:-** अराजकतावादियों के अनुसार धर्म व्यक्ति को अन्धविश्वासी एवं भाग्यवादी बना देता है, जिसके कारण व्यक्ति डरपोक और अन्याय सहन करने वाला हो जाता है। धर्म के अधीन व्यक्ति की स्वतंत्रता कुठिंत हो जाती है। और कभी-कभी शासकों द्वारा धर्म के नाम पर अन्याय भी किया जाता है।

5. **निजी संपत्ति का विरोध:-** अराजकतावादी निजी संपत्ति को भी बुराईयों की जड मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्तिगत संपत्ति शोषण तथा असमानता पर आधारित है। संपत्ति के स्वामी राज्य का उपयोग गरीबों के शोषण के लिये करते हैं। संपत्ति आम आदमी के लिये गरीबी और तबाही पैदा करती है जबकि चन्द अमीर अकर्मण्यता और ऐशों-आराम की जिन्दगी व्यतीत करते हैं।

6. **विकेन्द्रीकरण पर विश्वास:-** अराजकतावादी समाज में केन्द्रीकृत राज्य के बदले छोटे-छोटे स्वैच्छिक समुदाय या समूह के पक्षधर होंगे। क्षेत्रीय जरूरतों की पूर्ति के लिये एक क्षेत्र के कई समुदाय मिलकर संघ बनायेंगे। जैसा कि जार्ज बुडलॉक ने कहा है कि "ग्राम समुदाय क्षेत्रीय संघों के लिये प्रतिनिधि चुनेंगे और क्षेत्रीय संघ राष्ट्रीय संघ के लिये। किसी भी प्रतिनिधि को सिर्फ उन कामगारों की बात रखने का अधिकार होगा जो उसे चुनेंगे। कोई भी प्रतिनिधि किसी भी समय वापिस बुलाया जा सकता है।"

7. **सामूहिक स्वामित्व के हिमायती:-** अराजकतावादी विचारक सिर्फ उत्पादन के साधनों का ही नहीं बल्कि श्रम के उत्पादों के भी सामूहिक स्वामित्व के हिमायती हैं। वितरण के मामले में उनका मानना है कि यदि उत्पादन सीमित हो तो वितरण जरूरत के अनुसार होगा। कमजोर, वृद्ध लोगों तथा बच्चों को वरीयता दी जायेगी। क्रोपोत्किन के अनुसार वितरित सामग्री का उपयोग सामूहिक रूप से करना जरूरी नहीं हैं। उसका उपयोग लोग अपने घरों में मित्रों और संबंधियों के साथ कर सकते हैं।

बोध प्रश्न-3

प्रश्न1. अराजकतावाद की विभिन्न विचारधाओं के नाम बताइये।

उत्तर: ……

……

प्रश्न2. तीन अराजकतावादी विचारकों के नाम बताइये।

उत्तर: ……

……

प्रश्न3. अराजकतावाद की चार विशेषताएं

उत्तर: ……

……

13.11 अराजकतावादी समाज

अराजकतावादी विचारकों का मानना है की व्यक्ति अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिये स्वयं को स्वेच्छापूर्वक संगठित करने में सक्षम है। सामूहिक जरूरत की आवश्यकता पड़ने पर लोगों का एक समूह प्रयास और गलती, सुधार और प्रयोग के तरीके से अस्त-व्यस्तता में से उचित व्यवस्था को जन्म देंगे। यह व्यवस्था बाहर से थोपी गयी किसी भी व्यवस्था से अधिक स्थायी होगी। किसी भी आवश्यक कार्य के लिये लोग स्वेच्छा से आगे आयेंगे और ऐसे लोगों की! संख्या कार्य की गंभीरता के अनुरूप बढ़ती जायेगी।

अराजकतावादी समाज आर्थिक समानता का समाज होगा। जिसमें न कोई शोषक होगा न शोषित। समाज के असहाय व्यक्ति समाज की देखरेख में रहेंगे। इन्हें पूर्ण सुख प्रदान किया जायेगा। समाज की सभी चीजों पर सबका अधिकार होगा। उत्पादन की होने पर उपभोग भी बढ़ेगा और न्यायपूर्ण आर्थिक प्रणाली विकसित होगी। अराजकतावादी में पुलिस और कचहरी की भी कोई जरूरत नहीं होगी। क्योंकि व्यक्तिगत संपत्ति की समाप्ति के साथ अपराध भी समाप्त हो जायेंगे। किसी भी सत्ता की अनुपस्थिति में मनुष्य के अच्छे और न्यायपूर्ण स्वाभाविक गुण अपना वर्चस्व स्थापित कर सकेंगे।

13.12 अराजकतावाद के साधन

अराजकतावाद राज्य, सम्पत्ति और धर्म जैसी संस्थाओं को फेंक कर एक नवीन सामाजिक संरचना के निर्माण के लिये प्रयत्नशील है। इस कार्य के लिए अराजकतावादियों ने क्रांति और एक संगठित आन्दोलन का समर्थन किया है। अराजकतावादियों को अनुसार इस क्रांति का नेतृत्व ऐच्छिक समुदायों द्वारा ही किया जायेगा।

अत: यह कहा जा सकता है कि केवल दण्डात्मक साधनों से ही अराजकतावादी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। बैकूनिन और क्रोपोत्किन के क्रमबद्ध विकास की अवस्था में हिंसा से भी परहेज नहीं है। बैकूनिन तो अराजक क्रांति पर जोर देते हुए "जनहित" के विरूद्ध सभी अड़चनों को नष्ट करने की बात करते है। अराजकतावादियों ने इस बात की भी कल्पना की है

कि समाज के विभिन्न समुदाय स्वयं ही व्यवस्थित हो जायेंगें। उन्हें व्यवस्थित करने तथा उनके बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिये किसी भी बाह्य सत्ता की जरूरत नहीं होगी।

13.13 अराजकतावाद और भारतीय राजनीतिक विचारधारा

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राज्यविहीन समाज के आदर्श के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी और उनके सर्वोदय अनुयायियों जैसे-विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण के विचारों में अराजकतावाद की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती है।

गांधी जी ने कई जगह राज्यविहीन समाज को आदर्श बताया है। गांधी जी ने पूर्ण रूप से अहिंसक समाज की कल्पना राज्यविहीन समाज के रूप में ही की थी। 21 जुलाई 1940 के 'हरीजन' के अंक में उन्होंने लिखा कि " वही पूर्ण रूपेण अहिंसक एवं आदर्श राज्य जिसमें लोगों पर कम से कम शासन हो। शुद्ध अराजकतावाद का निकटतम रूप अहिंसा पर जनतन्त्र होगा और पूर्ण अहिंसा पर आधारित समाज का संगठन पूर्ण अराजकता का दृष्टान्त होगा।"

पश्चिमी दार्शनिकों की तरह गांधी जी और सर्वोदय दार्शनिकों का भी मानना है कि मनुष्य स्वभावत: व्यवस्थित, शांति-प्रेमी और आपसी सहयोग का समर्थक है तथा अपने साथी व्यक्तियों के प्रति दया, प्रेम और सहयोग की भावना रखता है। भारतीय अराजकतावादियों में मानव स्वभाव के बारे में आध्यात्मिकता की तरफ विशेष झुकाव पाया जाता है, जो पश्चिमी अराजकतावादियों में नहीं है। गांधी जी के विचार में सभी मनुष्यों में मौलिक मानवीय गुण होते हैं।

भारतीय नीति के पुनर्निर्माण का समर्थन करते हुये जयप्रकाश नारायण का कहना है कि क्योंकि लोकनीति एक नैतिक समस्या है इसलिये इसके विकास में राज्य की भूमिका नगण्य है। सहयोग की भावना, हिंसा से घृणा, स्वतंत्रता, समानता, प्रेम, जैसे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य लोकतंत्र की सफलता के प्रमुख आधार हैं। समाजवाद के नाम पर राजकीय हस्तक्षेप में वृद्धि को जयप्रकाश नारायण निन्दनीय बताते है। गांधी जी और जयप्रकाश नारायण दोनों ही राज्य के साथ-साथ लोकतंत्र के सभी अंगों पार्टियों और चुनाव आदि का भी विरोध करते हैं। उनका कहना है कि पार्टियां अनुशासन के नाम पर अपने सदस्यों को पंगु बना देती है।

गांधी जी ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन इसलिये किया क्योंकि "उपयुक्त बल प्रयोग के बिना केन्द्रीकरण को बरकरार रखना संभव नहीं है। "भारतीय अराजकतावादी चिन्तन में दो प्रवृतियों स्पष्ट देखी जा सकती है। पहली राज्यविहीन समाज और विक्रेन्द्रीकरण की और दूसरी अहिंसा की। विनोबा भावे ने तीन चरणों में राज्यविहीन समाज और अहिंसा प्राप्ति का समर्थन किया। पहला चरण 'केन्द्रीय स्वराज' तथा सुरा चरण विभाजित स्वराज्य' और तीसरा चरण 'राज्य मुक्ति' या 'अराज्य। भारतीय अराजकतावादी 'ग्राम' को मौलिक इकाई मानते हैं। गांधी, बिनोवा भावे, और जयप्रकाश नारायण तीनों इस बात से सहमत हैं कि आदर्श अराजकतावादी समाज में कृषि-औद्योगिक ग्राम समुदायों की छोटी-छोटी इकाइयां होगी। भारतीय अराजकतावादी इस बात पर भी जोर देते हैं कि ज्यादा से ज्यादा अधिकार ग्राम पंचायतो के पास ही होने चाहिए।

बोध प्रश्न 4

नोट नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. राज्य के विरोध में अराजकतावादी किन तरीकों का इस्तेमाल करना चाहते हैं?

उत्तर: ……..……..

……..……..

प्रश्न 2. किन अर्थो में गांधी जी को अराजकतावादी कहा जा सकता हैं?

उत्तर: ……..……..

……..……..

प्रश्न 3. तीन भारतीय अराजकतावादी विचारकों के नाम बताओ?

उत्तर: ……..……..

……..……..

13.14 अराजकतावाद का मूल्यांकन

अराजकतावाद की आलोचना का मुख्य आधार इसकी बहुत सी संदिग्ध परिकल्पनाओं को लेकर हैं। सर्वप्रथम कहा जा सकता है कि अराजकतावाद एक आदर्शात्मक दर्शन है। जिस समाज की कल्पना अराजकतावादी करते हैं वह केवल स्वर्ग में ही सम्भव हो सकता है। यदि राज्य को खत्म कर दिया जाये तो क्या मानव शांतिपूर्वक रह सकेगा। मनुष्य केवल गुणों की ही खान नहीं है बल्कि उसमें घृणा, द्वेष, स्वार्थ, अहम् जैसी प्रवृतियां भी पायी जाती है। ये बाहरी सत्ता जैसे राज्य, सरकार आदि द्वारा ही नियंत्रित हो सकती हैं। यदि मान भी लिया जाये कि ऐच्छिक समुदाय इस कार्य को कर लेंगें, लेकिन इन समुदायों के बीच होने वाले विवादों को कैसे सुलझाया। अत: राज्य अपरिहार्य है।

अराजकतावादियों का राज्य के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी गलत है, क्योंकि मनुष्य ने आज तक जो भी प्रगति की है वह राज्य में रहकर ही की है। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिये भी कुछ सीमा तक राज्य को उत्तरदायी माना जा सकता है।

अराजकतावाद की यह मान्यता कि राज्य व्यक्ति में नैतिकता एवं अच्छाई पैदा नहीं कर सकता, ठीक नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि राज्य का प्रत्येक कार्य नैतिकता को नष्ट करता। राज्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऐसी परिस्थितियां अवश्य उत्पन्न कर सकता है जो लोगों में नैतिकता के विकास में सहायक होती हैं।

अराजकतावादियों ने धर्म का विरोध इस आधार पर किया है कि धर्म मनुष्य को अन्धविश्वास की ओर ले जाता है। तथा व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना के विकास में बाधक बनता है। जहां तक धर्म के उस रूप का, जो अन्धविश्वास, कुप्रथा, कुपरम्पराओं और वर्ग व्यवस्थाओं जैसी विकृत वस्तुओं का प्रतिपादन करता है, वह गलत हो सकता है लेकिन धर्म मनुष्य में आस्तिकता जागृत करके उसे नैतिक भी बनाता है। यह व्यक्ति के चरित्र निर्माण में भी सहायक होता है।

अराजकतावादी विचारक बैकुनिन और क्रोपोत्किन ने अराजकतावादी समाज के निर्माण के लिये हिंसा के मार्ग पर बल दिया है। हिंसा से किसी भी स्थायी पद्धति का निर्माण नहीं

किया जा सकता है। हिंसा तो केवल हिंसा को ही जन्म दे सकती है। हिंसा के माध्यम से पुन: एक शासक वर्ग पैदा होगा जो हिंसा को अपने हितों का स्थायी साधन बना लेगा। परिणामस्वरूप अराजकतावादी समाज केवल स्वप्न बनाकर ही रह जायेगा।

समकालीन अराजकतावादी बहुमत के शासन का विरोध करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि बहुमत के निर्णय का मतलब 51 प्रतिशत लोगों की इच्छा को 49 प्रतिशत लोगों को थोपना है। संसद में बहुमत का निर्णय बहस और वाद-विवाद के पश्चात् लिया जाता है। अत: उसमें विरोधी दृष्टिकोण भी शामिल होते हैं। इसके अलावा कानून की तुलना निर्देश से करना भी ठीक नहीं है। कानून का स्वरूप निर्देश जैसा नहीं होता। कानून की उत्पत्ति प्रथाओं, परम्पराओं और समकालीन विवेक से होती है। जबकि निर्देश अपने से बडे अधिकारी का होता है। कानून सभी पर समान रूप से लागू होता है।

13.15 सारांश

प्रत्ययवादी सिद्धान्त राज्य को सर्वोपरि मानता है, व्यक्ति के नैतिक विकास की कल्पना राज्य में रहकर ही की जा सकती है, उससे बाहर नहीं। प्रत्ययवाद आदर्श राज्य! की विवेचना करता दे किसी व्यावहारिक अथवा वास्तविक राज्य की नहीं।

प्रत्ययवाद का विकास प्लेटो और अरस्तु के दार्शनिक विचारों से शुरू होता है। इसके बाद सरथामस मूर और रूसो ने प्रत्ययवादी चिन्तन को आगे बढाया। फिर आधुनिक विचारकों कान्ट, हीगल, फिक्टे, टी० एच० ग्रीन व ब्रेडले ने प्रत्ययवाद को नवीन रूप प्रदान करने का प्रयास किया।

प्रत्ययवादी विचाराधारा राज्य को एक नैतिक, प्राकृतिक और सर्वशक्तिमान संस्था मानती है। प्रत्ययवादी विचारकों का मानना है कि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता और अधिकारों का स्त्रोत है। उसका आधार व्यक्ति की इच्छा है, बाहुबल नहीं। प्रत्ययवाद से सम्बन्धित दो विचारधारायें देखी जाती है।एक उग्रवादी विचारधारा जिसका नेतृत्व हीगल करता है। दूसरी उदारवादी विचारधारा जिसका नेतृत्व ग्रीन करता है। हीगल ने राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार बताया तथा अपने द्वन्द्ववाद द्वारा यह सिद्ध किया कि राज्य सामाजिक दृष्टि से मानव प्रगति का चर्मोत्कर्ष है। इसके विपरीत ग्रीन राज्य को एक नैतिक संस्था तो मानता है लेकिन उसे ईश्वर के समान स्वीकार नहीं करता।

प्रत्ययवादी सिद्धान्त की कुछ मान्यताओं को लेकर विचारकों ने संदिग्धता प्रकट की है जैसे यह अव्यावहारिक है, कल्पनावादी है, राज्यों को सर्वशक्तिमान मानना गलत है, राज्य और व्यक्ति में हमेशा विरोध रहे हैं, राज्य अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकता आदि। लेकिन फिर भी सिद्धान्त को हम निरर्थक नहीं कह सकते क्योंकि यह राजनीति और नैतिकता में सम्बन्ध स्थापित करता है तथा समाज और राज्य की आंगिक एकता पर भी जोर देता हैं।

अराजकतावाद ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें किसी प्रकार की प्रशासन व्यवस्था न हो। आधुनिक अराजकतावाद को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बीटा जा सकता है। (अ) अराजकतावाद की व्यक्तिवादी विचारधाराओं व्यक्ति को सर्वोपरि मानती है। (ब) समाजवादी

या साम्यवादी विचारधारा जो छोटे-छोटे समुदायों से मिलकर बने आदर्श समाज की परिकल्पना करती है।

अराजकतावादी सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि मानव मूलत: अच्छा, सौहार्दपूर्ण और सहयोगी होता है। इसके अनुसार मनुष्य विवेकी होने के नाते स्वायत्त होता है। और राज्य, निजी सम्पत्ति तथा धर्म उसमें विकृतियां उत्पन्न कर देते हैं। अराजकतावादी यह भी मानते हैं कि राज्य हिंसा को जन्म देता है, राजकीय निर्देश स्वैच्छिक नष्ट कर देते है। उसके अनुसार धर्म अन्धविश्वास और समर्पण को तथा निजी सम्पत्ति गरीबी को जन्म देती है। अराजकतावादी एक ऐसे समाज की कल्पना करते है जिसमें निजी सम्पत्ति और राज्य नहीं होगें। न तो अपराध होगा और न ही लडाईया होंगी। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए कुछ अराजकतावादी समझाने बुझाने के तरीकों का समर्थन करते हैं तो कुछ हिंसा और क्रांति के साधनों का।

भारत में गांधी जी को अराजकतावाद का समर्थक माना जा सकता है। वे हर प्रकार की हिंसा के विरोधी थे, मानव स्वभाव को अच्छा मानते थे और छोटे-छोटे समुदायों में सादे जीवन के हिमायती थे। विनोबा भावे राज्य को कृत्रिम और निंदनीय मानते है, जबकि जयप्रकाश नारायण का मानना है कि राज्य जनतंत्र विरोधी है, इन्होंने संसदीय जनतंत्र का विरोध करते हुए ग्राम समाजों की प्राथमिक इकाई के रूप में हिमायत की।

अराजकतावादी सिद्धांत अतीत की सही व्याख्या नही करता और मानव स्वभाव के एक ही सकारात्मक पहलू पर जोर देता है, इसलिए संदिग्ध है। इसके सिद्धान्त अर्न्तविरोधों के शिकार है। लेकिन इसके बावजूद भी अराजकतावादी विचारधारा से आज भी मानव चिंतन प्रभावित है।

13.16 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य के प्रत्ययवादी सिद्धान्त की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। इसके विरूद्ध क्या तर्क दिये जाते है।
2. अराजकतावाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए अराजकतावाद के पक्ष- विपक्ष में तर्क दीजिए।
3. प्रत्ययवाद एवं अराजकतावाद दो विरोधी विचारधाराएं हैं।" स्पष्ट कीजिए।

13.17 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आशीवार्दम – राजनीति के सिद्धान्त, अपर इण्डिया, लखनऊ, 1984
2. अतिन्द्रनाथ बोस – ए हिस्ट्री ऑफ एनार्किज, वर्ल्ड प्रेस,1976
3. एपिल कार्टर – दि पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ एनार्किज्म - एण्ड केगनपॉल, लन्दन, 1971
4. सी०ई० जोड – इंट्रोडक्शन टप मार्डन पॉलिटिकल थ्योरी, अक्सफोड़ यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1987
5. एण्ड्रयू हेबुड – पॉलिटिकल आइडियोलोजीज- एन इन्ट्रोडक्शन, पॉलग्रेव मैक्मिलन न्यूयार्क, 2004

इकाई-14

उदारवाद, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 उदारवाद

14.3 उदारवाद के लिए उत्तरदायी कारण

14.4 उदारवाद के मूल सिद्धान्त एवं विशेषताऐं

14.5 उदारवाद की धाराऐं

14.5.1 परम्परागत (नकारात्मक) उदारवाद

14.5.2 सकारात्मक उदारवाद

14.5.3 समसामयिक उदारवाद

14.6 उदारवाद के प्रमुख विचारक

14.6.1 जे. एस. मिल

14.6.2 जॉन लॉक

14.6.3 टी. एच. ग्रीन

14.7 उदारवाद की आलोचना

14.8 उदारवाद का मूल्यांकन

14.9 उदारीकरण एवं वैश्वीकरण

14.10 सारांश

14.11 अभ्यास कार्य

14.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे:-

- उदारवाद की अवधारणा का अर्थ
- उदारवाद में व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धों की विवेचना;
- उदारवाद के उदय के उत्तरदायी कारक;
- उदारवाद की वर्तमान स्थिति; तथा
- उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की विश्वव्यापी अवधारणा एवं प्रक्रिया।

14.1 परिचय

उदारवाद राजनीति का वह सिद्धांत है जो सामंतवाद (Feudalism) के पतन के बाद राजनीति को बाजार-अर्थव्यवस्था (Market Economy) के अनुरूप मोड देने के लिए अस्तित्व में

आया। आरम्भ में इसने व्यक्ति (Individual) को राजनीति का केन्द्र- बिन्दु मानते हुए व्यक्तिवाद (Individualism) को अपनाया, परंतु बाद में इसने राजनीति में समूहों (Groups) की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए बहुलवाद (Pluralism) को अपना लिया। शूरु-शुरू में इसने मुक्त बाजार व्यवस्था (Free Market System) को सर्वहित (Common Interest) का उपयुक्त साधन मानते हुए राज्य के लिए अहस्तक्षेप (Laissez Faire) का समर्थन, परंतु बाद में इसने बाजार-व्यवस्था को सर्व-हित के अनुरूप नियमित करने की स्वीकार करते हुए कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का सिद्धांत अपना लिया। और वैश्वीकरण जैसी विश्वव्यापी अवधारणा भारत भी प्रभावित है। यह एक बहुआयामी है। यह अवधारणा भारत की राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था एवं आर्थिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था व सांस्कृतिक व्यवस्था इत्यादि सभी व्यवस्थाओं को प्रभावित कर रही है।

14.2 उदारवाद

उदारवाद अंग्रेजी शब्द लिबरेलिज्म (Lisberalism) का हिन्दी है। लिबरेलिज्म की उत्पत्ति लैटिन शब्द "लिबरलिस" से हुई है जिसका अर्थ है "स्वतन्त्रता"। यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित विचारधारा है। यह स्वतन्त्र जीवन की वाणी है। व्यक्ति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चिन्तन, अभिव्यक्ति, विचार-विमर्श, विश्वास, व्यवसाय (कार्य), सहयोग, आदि में अधिकाधिक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है। यह व्यक्ति को सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहता है।

उदारवाद व्यक्ति को महत्व देता है, समाज अथवा उसके किसी खण्ड (अंश) को नहीं। इसका आरम्भ और अन्त व्यक्ति से होता है। इसका मापदण्ड या कसौटी व्यक्ति है समाज नहीं।

इंटरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेस (अंतर्राष्तीया सामाजिक विज्ञान विश्वकोश) के अंतर्गत उदारवाद की मुख्य मान्यताओं का सारांश इन शब्दों में, किया

(1) व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को महत्व दिया जाए;

(2) मनुष्य अपनी इस अभिव्यक्ति को अपने लिए भी मूल्यवान सिद्ध कर सकते हैं, समाज के लिए भी; और

(3) उन संस्थाओं और नीतियों को कायम रखा जाए जो इस स्वतंत्र अभिव्यक्ति और स्वतंत्रता में विश्वास को बढ़ावा देती है।

इतिहासकार प्राय: सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैंड के जॉन लॉक (1632-1704) को उदारवार का जनक' मानते हैं और वहाँ की 1688 की गौरवमय क्रांति (Glorious Revolution)ऐ को उदावाद की विजय' के रूप में याद करते हैं। हेरल्ड जे. लास्की के शब्दों में 'वस्तुत: उदारवादी परंपरा के जन्म की व्याख्या एक ही तरह दी जा सकती है: वह इस तरह कि इसके जन्म के साथ-साथ आर्थिक शक्ति एक वर्ग के हाथों से निकलकर दूसरे वर्ग के हाथों में चली गई थी।" पहले यह शक्ति उच्चवर्गीय जमींदारों के हाथों में थी; अब यह मध्यमर्गीय व्यापारियों के हाथों में आ गई थी। उदारवाद का आविर्भाव यह सिद्ध करने के लिए हुआ कि जिस तरह आर्थिक

शक्ति का स्थानांतरण हो गया है, उसी तरह राजनीतिक सत्ता का स्थानांतरण भी उपयुक्त होगा। अपनी इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए उदारवादियों ने बडे-बड़े आदर्शों की दुहाई दी। जिन लोगों ने इंग्लैंड की गौरवमय क्रांति (1688) या फ्रांसीसी क्रांति (1793) का बिगुल बजाया था, और जो 'मनुष्य के अधिकारों का झंडा' उठाकर चले थे, उनकी असली मांग को परखने पर यह बात तनिक भी छिपी नहीं रह जाती यथार्थ के धरातल पर मनुष्य के अधिकारों' से उनका तात्पर्य उस छोटे-से वर्ग के अधिकारों से था जो उत्पादन के साधनों का स्वामी था। लास्की के ही शब्दों में, 'ऐतिहासिक तथ्य यह है कि उदारवादी परंपरा एक बौद्धिक क्रांति थी और इसका प्रमुख ध्येय नए औद्योगिक क्षेत्र में (जिसे नया-नया महत्व प्राप्त हुआ था) संपत्ति के स्वामियों के हितों की रक्षा करना था।

उदारवादी सिद्धांत के अंतर्गत राज्य को एक ऐसा उपकरण माना जाता है जिसका निर्माण मनुष्यों ने अपनी इच्छा के अनुसार और अपने हित साधन के उद्देश्य से किया है। राज्य के कार्यो के संबंध में पुराने उदारवाद और आधुनिक उदारवाद के दृष्टिकोण में महत्त्वपूर्ण अतर देखने को मिलता हे। पुराने उदारवाद (Old Liberalism) या क्लासिकल उदारवाद (Classical Liberalism)के अंतर्गत अहस्तक्षेप की नीति (Laissez Faire) और व्यक्तिवाद (Individualism) को प्रमुखता दी जाती थी। अत: इसे नकारात्मक उदारवाद (Negative Liberalism) कहा जाता है। इसके विपरीत, नए उदारवाद (New Liberalism) या आधुनिक उदारवाद (Modern Liberalism) के अंतर्गत व्यक्तियों के कल्याण के लिए राज्य की सकारात्मक भूमिका पर बल दिया जाता है। अत: उसे सकारात्मक उदारवाद (Positive Liberalism) कहा जाता है। पुराने उदारवाद के प्रवर्तकों में एडम स्मिथ (1723-90), जरमी बेथम (1748-1832)ए, जेमन् मिल (1773-1836) और हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त जॉन स्टुआर्ट मिल (1806-73) ने व्यक्तिवाद के सिद्धांत में महत्त्वपूर्ण योग दिया है परंतु आगे चलकर मिल ने उदारवाद के अंतर्गत राज्य की नकारात्मक भूमिका को सकारात्मक भूमिका में बदलने का प्रयत्न किया और इस तरह उसने नए उदारवाद को बढ़ावा दिया। सकारात्मक उदारवाद के प्रवर्तकों में जे.एस. मिल के अलावा टी.एच. ग्रीन (1836-82)एल.टी हॉबहाउस (1864-1929), एच.जे. लास्की (1893-1950), और मैकाइवर के नाग बहुत महत्वपूर्ण है। व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय पर अब तक दो प्रकार के विचारधाराओं का प्रतिपादन किया गया है। एक प्रकार की विचारधाराएं राउय को समस्त मानवीय जीवन का केन्द्र और अपने आप में एक साध: मानती हैं, लेकिन दूसरी श्रेणी की विचारधाराएं इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि व्यक्ति और राज्य में व्यक्ति ही साध्य है। उदारवाद द्वितीय प्रकार की इन विचारधाराओं का समूह है जो इस बात पर बल देता है कि समस्त मानवीय व्यवस्था का केन्द्र व्यक्ति ही है, राज्य, समाज और अन्य संस्थाएं इस व्यक्ति के कल्याण -के साधन मात्र ही हैं और समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का निर्धारण व्यक्ति को केन्द्र मानकर ही किया जाना चाहिए।

14.3 उदारवाद के लिए उत्तरदायी कारण

राजनीतिक चिन्तन क क्षेत्र में उदारवाद का उदय अनेक प्रवृत्तियों का परिणाम था जिसमें से कुछ निम्न प्रकार हैं :

(1) **औद्योगिक क्रांति का प्रभाव एवं नये समृद्धिशील वर्ग का उदय-** मध्य युग में लोगों का आर्थिक जीवन स्वतन्त्र नहीं था। कृषक सामन्तों के अधीन हुआ करते थे और दस्तकारी तथा व्यापार पर भी अनेक नियन्त्रण थे। दस्तकारों पर उनकी श्रेणियों का नियन्त्रण हुआ करता था, जो 'गिल्ड' कहलाती थीं। इसके अतिरिक्त चर्च भी आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप किया करता था और आर्थिक जीवन की गतिविधियों के सम्बन्ध में अनेक धार्मिक तथा नैतिक नियम थे। 18वीं सदी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप वस्तुओं का बहुत बड़े पैमाने पर उत्पादन होने। इस उत्पादन के परिणामस्वरूप जितनी तेजी से समृद्धि आयी उतनी ही गति से आर्थिक जीवन पर चले आ रहे नियन्त्रण समाप्त होने लगे। समाज में जो नवीन समृद्धिशाली उत्पन्न हो रहा था, उसका एकमात्र उद्देश्य अधिकाधिक सम्पत्ति प्राप्त करना था। यह वर्ग उन समस्त नियमों और प्रतिबन्ध का विरोध करने लगा जो ई सम्पत्ति के अर्जन में बाधक थे। यह नवीन समृद्धिशाली वर्ग सामाजिक जीवन में धीरे-धीरे अधिक प्रभावशाली होता चला गया और उसने अपने इस बढे हुए प्रभाव से इस बात को स्वीकार करवा लिया कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और गतिविधियों पर राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक कोई प्रतिबन्ध नहीं रहने चाहिए। इस आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना ने उदारवाद को जन्म दिया।

(2) **नवजागरण का प्रभाव-** नवजागरण ने व्यक्तियों के दृष्टिकोण लौकिक बनाया व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व को सर्वोच्च महत्व प्रदान किया उन्हें यह सिखाया कि सत्य की प्राप्ति का मार्ग श्रद्धा और अन्धविश्वास का नहीं, व बुद्धि और विवेक का है। इस प्रकार नवजागरण ने व्यक्ति स्वतन्त्रता पर बल देकर उदारवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

(3) **धर्म सुधार आन्दोलन-** मध्य युग ने केवल राजनीतिक वरन् धार्मिक निरंकुशता के लिए भी प्रसिद्ध रहा है। धार्मिक क्षेत्र में पोप लोगों की निरंकुशता थी और ऐसा माना जाता है कि पोप शास्त्रों का जो अर्थ बतलाते हैं, वही प्रामाणिक है। 16वीं सदी में धर्म सुधार की प्रवृत्ति आरम्भ हुई और मार्टिन लूथर, ज्विगली तथा काल्विन, आदि धर्म सुधारकों के द्वारा धार्मिक निरंकुशता का विरोध प्रारम्भ कर दिया गया। धर्म सुधार ने परम्पराओं के बन्धन तोडकर आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त किया।

(4) **अधिनायकवादी एवं निरंकुश शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया-** उदारवाद के जन्म के लिए सबसे प्रमुख उत्तरदायी तत्व निरकुशवादी शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया ही रहा है। 16वीं और 17वीं शताब्दियों यूरोप के इतिहास में निरंकुश के लिए प्रसिद्ध थीं। इनमें से अनेक राज्यों के शासकों द्वारा दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अपने आपको ईश्वर का अवतार घोषित कर दिया गया था। इस प्रकार के निरकुशतावादी शासन के

विरूद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी और जॉन लॉक मिल, स्पेन्सर तथा ग्रीन के द्वारा व्यक्ति स्वातन्त्रय की विचारधारा उदारवाद का प्रतिपादन किया गया।

बोध प्रश्न-1

1. उदारवाद के उदय के दो कारण बताओ ?

उतर: .....

14.4 उदारवाद के मूल सिद्धान्त एवं विशेषताऐं

उदारवाद एक विशाल सागर की भाँति है जिसमें बहुत सी छोटी नदिया आकर स्वत: मिलती है और उनसे प्रवाह क्रम में बहुत्सी शाखाये और प्रशाखाएँ आ मिलती है। उदारवाद के मूल सिद्धान्त निम्नलिखित हैं-

(1) इतिहास तथा परम्पराओं का विरोध- उदारवाद का विश्वास रहा है कि यह प्रगति के लिये इतिहास तथा परम्पराओं के प्रति विद्रोह किया जाना आवश्यक हो तो इस प्रकार का विद्रोह किया जाना चाहिये। इग्लैण्ड के उपयोगितावादी उदारवादियों ने उपयोगिता के नाम पर पहले से चली आ रही व्यवस्था एवं परम्पराओं का खण्डन किया है। उनके प्रभाव के कारण ही 19वीं सदी में इंग्लैण्ड के जीवन के हर क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, लेकिन उदारवादी सदैव ही विद्यमान व्यवस्था के विरोधी नहीं रहे हैं और आज तो वे बहुत सीमा तक विद्यमान राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को बनाये रखने के पक्ष में भी दिखाई देते हैं।

(2) मानवीय विवेक में विश्वास- उदारवादी विचारधारा का प्रमुख तत्त्व मानवीय बुद्धि और विवेक मूलभूत आस्था है। यूरोपीय देशों में मध्य युग के अन्तर्गत ईसाइयत ने मुनष्य की बुद्धि को कठोर बन्धनों में जकड रखा था और ऐसा माना जाता था कि चर्च के अधिकारी, विशेषकर पोप, शास्त्रों का जो अर्थ बतलाते थे, वही प्रामाणिक थे, लेकिन 17वीं और 18वीं सदी में नवजागरण के साथ ही प्रमुख उदारवादी दार्शनिकों ने शास्त्रों का अन्धानुकरण करने के स्थान पर स्वयं अपने विवेक मैं) आधार पर चिन्तन मनन प्रारम्भ कर दिया। जॉन लॉक और टामस पेन ने समस्त रूढिवादियों को चुनौती देते हुए कहा था कि 'हमारा अपना मन ही अपना चर्च है। इस प्रकार उदारवाद इस बात में विश्वास करता है कि भावना पर विवेक को प्रधानता दी जानी चाहिये। उदारवाद ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर स्वतन्त्र चिन्तन मनन को प्रश्रय दिया।

(3) व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास- उदारवादियों का विश्वास रहा है कि व्यक्ति के कतिपय जन्मजात अधिकार हैं, जिन्हें प्राकृतिक अधिकार भी कहा जा सकता है। उनका कथन है कि इन अधिकारों की सृष्टि किसी मानवीय संस्था, समाज या राज्य के द्वारा नहीं की गई है, वरन् ये तो इन संस्थाओं के अस्तित्व के पूर्व से विद्यमान रहे हैं और समाज तथा राज्य की उत्पत्ति इन अधिकारों की रक्षा के लिये ही हुई है। इस सम्बन्ध में लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त विशेष प्रसिद्ध है जिसके अनुसार व्यक्ति के मुख्य प्राकृतिक अधिकार जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के अधिकार है।

(4) **मानव स्वतन्त्रता में अद्य विश्वास-** उदारवाद का सार तत्त्व है व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता। यह 'मुक्त जीवन की वाणी है। (It is the voice of the a free life) इसका मानना है जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की स्वतन्त्रतायें प्राकृतिक, नैसर्गिक और जन्मजात होने से अनुल्लंघन एवं अहरणीय है। डेरक हीटर ने अपनी रचना "समकालीन राजनीतिक विचार" (Contemporary Political Ideas) में कहा है कि "उदारवाद का सार तत्त्व है स्वतन्त्रता..... एक उदारवादी के लिए कुल मिलाकर व्यक्ति महत्व रखता है, समाज अथवा उसका एक खण्ड या अंश नहीं। यह व्यक्ति के को प्राथमिकता देकर स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करता है।" एच.जे. लास्की ने कहा है कि उदारवाद का स्वतन्त्रता से सीधा सम्बन्ध है। इसका जन्म ही समाज में एक वर्ग अथवा धर्म के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकारों के विरोध में हुआ। ' ब्रिटिश उदार दल के संविधान में घोषणा की गई है कि ' 'वह प्रत्येक चीज में स्वतन्त्रता को प्रथम स्थान देता है।

आधुनिक समय में उदारवाद की स्वतन्त्रताओं का स्वरूप नागरिक स्वतन्त्रताओं का है। व्यक्ति की ये स्वतन्त्रतायें विधि, विधि के शासन और संविधानवाद पर आधारित हैं। इन स्वतन्त्राओ का सम्बन्ध जीवन के प्रत्येक क्षेत्र - चिन्तन, कार्य (व्यवसाय), विश्वास, अभिव्यक्ति, विचार विमर्श, सहयोग आदि क्षेत्रों से है। इनका सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन से है। उदाहरणत: वर्तमान समय में व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में वस्तुओं का उत्पादन और वितरण में, आयात-निर्यात में, राजनीतिक क्षेत्र में शासकों क निर्वाचन व बरखास्तगी में, धार्मिक क्षेत्र में, विश्वास की स्वतन्त्रता में अर्थात् आस्तिक या नास्तिक या धर्मनिरपेक्ष बनाने में, सामाजिक क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप में विचरने व सामाजिक संगठनों के निर्माण में अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

(5) **सर्व सत्तावाद एवं निरंकुशता विरोधी दर्शन-** उदारवाद स्वतन्त्रता का दर्शन है। यह बलात (दमनकारी, आतंकित या हिंसक) हस्तक्षेप का विरोधी है। इसके लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का इतना अधिक मूल्य है कि यह हर उस का विरोध करता है जो उसे कम या मन्द करती है अथवा शक्ति या सत्ता का निरंकुश विस्तार या केन्द्रीकरण करती है। इसीलिए उदारवाद सर्वसत्तावाद विरोधी है, यह निरंकुशतावादी विरोधी है, यह अधिनायकवाद विरोधी है, यह एकाधिकारवाद विरोधी है, यह विरोधी है, यह केन्द्रीकरण अथवा केन्द्रीकृत शासन का विरोधी है, यह मतान्धतावाद या कट्टरतावाद विरोधी है। सुकरात, मिल्टन, वाल्टेयर, जेफरसन, रूसो, झूम, माण्टेस्वयू एडम स्मिथ, टी.एच.ग्रीन, एच.जे. लास्की, बार्कर तथा अनेक छह' ने इसी आधार पर उदारवाद का समर्थन किया है।

(6) **विविधता पर बल-** उदारवाद एकरूपता या अनुरूपता में विश्वास नहीं करता। यह विविधता, अनेकता और बहुलता में विश्वास करता है। यह भिन्न-भिन्न विचारों की ऐसी

व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसका उद्देश्य या बहुलवादी समाज की स्थापना करना है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक सम्भव मात्रा में आत्म निर्णय सिद्धान्त का समर्थन करता है।

(7) **राज्य साधन और व्यक्ति साध्य-** उदारवाद, आदर्शवाद की भांति, राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन नहीं मानता। इसके विपरीत वह व्यक्ति साध्य और राज्य या समाज को साधन मानता है। उदारवादियों का मानना है कि "आयें (सामाजिक और राजनीतिक) व्यक्ति के लिए हैं, व्यक्ति संस्थाओं के लिए 'सस्थाओं का मूल्य नैतिक इच्छा और विवेक की शक्तियों को वास्तविकता करने में है।" इसका कहना है कि वास्तविक विकास व्यक्ति का विकास है, यह व्यक्ति का नैतिक, यांत्रिक बौद्धिक और भौतिक विकास है। टी.एच. ग्रीन का स्पष्ट मत है कि राज्य नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सकता परन्तु वह उसके मार्ग को प्रशस्त कर सकता है। राज्य अच्छे जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं के में बाधा प्रस्तुत कर उसके मार्ग को प्रशस्त कर सकता है और उसे इस प्रशस्त चाहिए। ग्रीन लिखता है कि हमें व्यक्तियों को वैसा ही देखना चाहिए जैसा हम पाते हैं और यदि हम उन्हें अज्ञानता, नशाखोरी, दरिद्रता की बाधाओं के कारण देखते हैं तो राज्य को अज्ञानता, नशाखोरी और दरिद्रता को दूर करने के लिए हस्तक्षेप करना चाहिए।

(8) **समाज और राज्य कृत्रिम संगठन-** उदारवादी समाज और राज्य को प्राकृतिक नहीं वरन् कृत्रिम मानते हैं और उनका विचार है कि इसका निर्माण व्यक्ति के द्वारा अपनी कुछ विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ही किया गया है। व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है, समाज और राज्य का संगठन उनके द्वारा अपनी निश्चित योजना के अनुसार किया गया है और इस नाते व्यक्तियों को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे समाज और राज्य के संगठन में अपनी आवश्यकतानुसार संशोधन-परिवर्तन का कार्य कर सकें। इस प्रकार उदारवादी न तो राज्य की प्राकृतिकता में विश्वास करते हैं और न ही व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय पर सावयव सिद्धान्त को ही मान्यता देते हैं।

(9) **धर्म निरपेक्ष अवधारणा का समर्थक-** उदारवाद मान्यता एवं धार्मिक कट्टरता का विरोधी है। वह धार्मिक सहिष्णुता का समर्थ है। मध्य युग में उदारवाद का उदय धार्मिक कट्टरता के विरोध में हुआ था। जॉन लॉक धार्मिक सहिष्णुता और धर्म निरपेक्ष विचारों का प्रमुख समर्थक है। लॉक ने अपनी रचना ' 'सहिष्णुता पर पत्र' में लिखा है कि " धर्म व्यक्ति की निजी वस्तु है, वह हृदय की अनुभूति व व्यक्तिगत नैतिकता है। राज्य को धर्म में तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक धर्म सामाजिक उत्पात या अव्यवस्था पैदा नहीं करता..... राज्य को धर्म के सम्बन्ध में निष्पक्षता की नीति अपनानी चाहिए। "राज्य का कोई अपना धर्म नहीं होना चाहिए। संक्षेप में, उदारवाद के धर्म सम्बन्धी विचार धर्म निरपेक्षतावादियों से मिलते जुलते हैं। इसकी अपील मानवतावादी हैं।

(10) **कानून के शासन में विश्वास-** उदारवाद, असीमित, अमर्यादित, अनियन्त्रित अथवा स्वेच्छाचारी शासन में विश्वास नहीं करता। यह सीमित, मर्यादित और उत्तरदायी शासन में विश्वास करता है। यह आदेशात्मक शासन के स्थान पर वैधानिक या विधि (कानून) सम्मत शासन का समर्थन करता है। यह शासन शक्तियों या सत्ता पर प्रतिबन्धों की एक सुनिश्चित एवं प्रभावकारी व्यवस्था की मांग करता है। यह न केवल शक्तियों के विकेन्द्रीकरण और शक्ति पृथक्करण की मांग करता है बल्कि अवरोध और सन्तुलन की मांग भी करता है। कार्ल जे. फ्रेड्रिक का कहना है कि "शक्ति विभाजन सभ्य शासन का आधार है और यही संविधानवाद है। 'उदारवाद के इन्हीं विचारों ने जहाँ फ्रांसीसी एवं अमरीकी क्रान्तियों को जन्म दिया वहाँ इसने राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रों के मुक्ति आन्दोलनों को भी जन्म दिया है। संक्षेप में, एक उदारवादी संवैधानिक शासन के अधीन जीवन व्यतीत करना सर्वदा हितकर समझता है।

(11) **संवैधानिक या शान्तिमय साधनों में विश्वास-** उदारवाद और मार्क्सवाद में एक प्रमुख अन्तर यह है कि जहां मार्क्सवाद परिवर्तन हेतु क्रान्ति (हिंसा) का सहारा लेता है वहां उदारवाद परिवर्तन हेतु संविधानवादी या शान्तिमय साधनों (कानून) का सहारा लेता है। यह परिवर्तन हेतु 'गोली' का नहीं "मतपत्र" का सहारा लेता है। यह क्रमिक या शनैः-शनैः परिवर्तन लाना चाहता है। कार्ल पीपर ने क्रमिक परिवर्तन हेतु जिस अवध धारणा का विकास किया है उसे सामाजिक निर्माण अथवा खण्डशः निर्माण (social engineering or piecemeal engineering) की संज्ञा दी गई है।

(12) **राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का समर्थन-** यूरोप में राष्ट्रवाद की स्थापना एवं उत्थान में उदारवादियों का विशेष योगदान रहा है। उन्होंने इस विचार को प्रतिपादित किया है कि विदेशी शासन की दासता के विरूद्ध संघर्ष करना प्रत्येक राष्ट्र की जनता का नैतिक एवं राजनीतिक अधिकार है। ब्रिटिश दासता के विरूद्ध अमरीकी जनता के राष्ट्रीय संघर्ष का वही के उदारवादियों ने पूर्ण समर्थन किया था। इसी प्रकार यूरोप के विभिन्न देशों के उदारवादियों ने नेपोलियन की विस्तारवादी नीति का विरोध इसी आधार पर किया था कि यह नीति उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का अन्त करने वाली थी। उदारवादी विचारधारा ने यूरोप में विभिन्न देशों की जनता के लिए 'राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त' को स्वीकारा है और इसी आधार पर प्रथम विश्व-युद्ध के बाद यूरोप में सात नये राष्ट्रों की स्थापना की गयी। यह उल्लेखनीय है कि एशिया व अफ्रीका में चले राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में पश्चिमी चिन्तन का पर्याप्त प्रभाव रहा है। इस दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक छ उदाहरण है।

यद्यपि उदारवाद व राष्ट्रवाद व घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। उदारवाद ने राष्ट्रवाद को जनता की एक आकांक्षा के रूप में ही स्वीकारा है, किसी फासीवादी की महत्वाकांक्षा के रूप में नहीं। सरल शब्दों में उदारवाद राष्ट्रवाद के केवल उस में समर्थन करता है जिसे हम उदार राष्ट्रवाद कहते हैं। यह सभी प्रकार के उग्र राष्ट्रवाद का विरोधी है।

(13) विश्व बन्धुत्व एवं विश्व शान्ति का समर्थक- उदारवाद उन सभी विचारधाराओं का (जैसा कि हीगल की उग्र आदर्शवादी, मुसोलिनी की फासीवादी और हिटलर की नाजीवादी विचारधाराओं का) विरोधी है जो युद्ध को प्रोत्साहन देती हैं तथा उसे राष्ट्रीय एवं मानवीय श्रेष्ठता का प्रतीक मानती हैं। उदारवाद युद्ध को, टी. एच. ग्रीन ने कहा है, अपूर्ण राज्य का चिन्ह" और "बुराई" मानता है। उदारवाद मार्कर्नवाद-साम्यवाद जैसी विचारधारा का भी विरोधी है जो एक वर्गीय विचारधारा क्रान्ति (हिंसक) के साधनों में विश्वास करती है। उदारवाद राज्य की कल्पना लेविआथन के रूप में नहीं करता जो अकेला रहता है बल्कि वह एक ऐसे राज्य की कल्पना करता है जिसका अस्तित्व दूसरे राज्यों के आइरत्तत्व पर निर्भर करता। ऐसा अस्तित्व विश्व शान्ति, विश्व नैतिक चेतना, सामान्य हित, विश्व बन्धुत्व के में ही सम्भव है। इसीलिए उदारवाद विश्व बन्धुत्व की भावना -का विस्तार है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति विश्वास को बढ़ावा चाहता है।

बोध प्रश्न-2

प्रश्न1. उदारवाद के दो मूल सिद्धान्त बताओ?

उत्तर: .....

14.5 उदारवाद की धारायें अथवा प्रकार

उदारवाद की प्रमुख धारायें (प्रकारों) तीन हैं- परम्परागत, आधुनिक और सम-सामायिक। इन्हें क्रमश: नकारात्मक अथवा क्लासिकी और सकारात्मक उदार भी कहा जाता है। परम्परागत या नकारात्मक उदारवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अधिक -ज़ोर देता है और राज्य को आवश्यक बुराई मानता है जबकि आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद - की सकारात्मक स्वतन्त्रता पर बल देते हुए भी लोक-कल्याण पर अधिक जोर देता है।

14.5.1 परम्परागत या नकारात्मक उदारवाद- यह व्यक्तिवाद पर आधारित उदारवाद है। यह 17वीं एवं 18वीं शताब्दियों की देन है। इसके प्रमुख समर्थक है एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और माल्थस। जे. एरा. मिल की प्रारम्भिक रचनायें और लेख भी या नकारात्मक उदारवाद का समर्थन करते हैं। इसके अन्य समर्थक हैं हर्बर्ट स्पेन्सर, लूथर, मिल्टन, जॉन लॉक, स्पिनोजा, माण्टेस्क्यू वाल्तेयर, फ्रीमेन, विलोबी, पेन आदि।

परम्परागत या नकारात्मक उदारवाद व्यक्ति को महत्व देता है समाज अथवा उसके किसी खण्ड (अंश) को नहीं। इसका आरम्भ और अन्य व्यक्ति से होता है। इसका मापदण्ड या कसौटी व्यक्ति है, समाज नहीं। इसके लिए व्यक्ति हर चीज का आधार है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकार उसके दर्शन के आधार हैं। जहाँ बेन्थम और डेविड झूम ने उपयोगिता सुख-दुःख" और अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को महत्व दिया वहाँ फ्रांसीसी फिजियोक्रेट्स और ब्रिटेन में एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और माल्थस ने लेसेफेयर

(Laissez faire) के सिद्धान्त का समर्थन कर आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप (दखलंदाजी) का विरोध किया। इस तरह परम्परागत या नकारात्मक उदारवाद के दार्शनिक आधार है लेसेफेयर अर्थात् व्यक्ति की असीम स्वतन्त्रता, मुक्त व्यापार और स्वतन्त्र प्रतियोगिता और पुलिस राज्य अर्थात् राज्य एक आवश्यक बुराई है और उसका मुख्य कार्य रक्षा करना और मर्यादित करना है न कि पोषण करना और समुन्नत करना।

परम्परागत या नकारात्मक उदारवाद लेसिसफेयर (अहस्तक्षेप) की नीति में विश्वास करता है। इसकी धारणा है कि व्यक्ति को अकेला छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह अपने हितों का सर्वोत्तम संरक्षक है। व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और राज्य को उसके कार्यो में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। फ्रीमेन का कहना है कि "शासन का सर्वोत्तम रूप शासन का अभाव है। किसी रूप में शासन का अस्तित्व मानव की अपूर्णता का सूचक है।

परम्परागत या नकारात्मक उदारवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है। यह राज्य को आवश्यक इसलिए मानता है कि व्यक्ति अपूर्ण है, उसमें अपराध की भावना है, उसमें अतिक्रमण की प्रवृत्ति है, वह अहंकारी, लोभी, लालची और स्वर्थी है। अत: व्यक्ति की समाज विरोधी प्रवृत्तियों एवं गतिविधियों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य की आवश्यकता है। विलोबी का कहना है कि "मानव स्वभाव की दुर्बलताओं के लिए राज्य सत्ता की आवश्यकता है।" स्पेन्सर का कहना है कि राज्य की सत्ता इसलिए आवश्यक है कि समाज में अपराध की भावना विद्यमान है।

परम्परागत, नकारात्मक या क्लासिकी (classical) उदारवाद की मान्यताओं को जे. एच हैलोवेल ने अपनी रचना ' 'आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की मुख्य धारायें' में निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया है-

(i) मानव व्यक्तित्व का असीम (पूर्ण या निरपेक्ष) मूल्य और सभी व्यक्तियों की अध्यात्मिक समानता।

(ii) व्यक्ति की इच्छा की स्वायत्तता।

(iii) व्यक्ति की विवेकशीलता और अच्छाई में विश्वास।

(iv) जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति जैसे कुछ अदेय (अहरणीय) अधिकारों का अस्तित्व (बने रहना)

(v) व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों के एकमात्र परिरक्षण (preserving) और संरक्षण)protecting) हेतु पारस्परिक सहमति द्वारा राज्य की रचना (इसका अर्थ है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है और इसका एकमात्र उद्देश्य व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना

(vi) राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध का आधार समझौता (संविदा) है। जब कभी राज्य समझौते की शर्तो की उल्लंघना करता है तो व्यक्तियों को विद्रोह करने और नई सरकार की स्थापना करने का न केवल अधिकार है बल्कि यह उनका उत्तरदायित्व भी है।

(vii) सामाजिक नियन्त्रण के यन्त्र के रूप में कानून (Law) आदेश)Command) से श्रेष्ठ है।

(viii) सरकार के कार्य सीमित और नकारात्मक हैं और वहीं सरकार सर्वोत्तम है जो कम से कम शासन करती है। दूसरे शब्दों में, यह सीमित शासन में 'श्वास करता है और राज्य को आवश्यक बुराई मानता है।

(ix) जीवन के सभी क्षेत्रों में जैसा कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, धार्मिक आदि में व्यक्ति स्वतन्त्र है और उसे स्वतन्त्र होना चाहिए।

(x) विवेक पर आधारित परम सत्य का अस्तित्व जिसे व्यक्ति अपने चिन्तन और आत्मा द्वारा प्राप्त कर सकता है और जो व्यवस्था और अराजकता के बीच व्यक्ति द्वारा चयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

परम्परागत (नकारात्मक (उदारवाद विशेषताऐ हैं-

नकारात्मक उदारवाद की निम्नलिखित विशेषताऐ हैं-

(1) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)- नागरिक स्वतन्त्रता शासकीय स्वेच्छाचारिता का विरोध करती है और इसका कथन है कि व्यक्तियों पर व्यक्तियों को नहीं, वरन् कानूनों को प्रभुत्व प्राप्त होना चाहिए। मध्ययुग की सामन्ती व्यवस्था में सामन्त वर्ग के वर्गीय विशेषाधिकारों का बोलबाला था। व्यक्तियों को अपने जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा प्राप्त नहीं थी, सामन्त वर्ग के द्वारा व्यक्तियों को मनमाने तरीके से सताया जाता था। नागरिक स्वतन्त्रता के अनुसार व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार होना चाहिए।

(2) वित्तीय स्वतन्त्रता (Financial Liberty)- मध्य युग के निरंकुश शासकों द्वारा अनेक बार जनता पर मनमाने कर आरोपित किये जाते थे, परिणामस्वरूप नागरिक चेतना के उदय के साथ ही इस बात पर बल दिया गया कि नागरिकों पर। प्रतिनिधियों की इच्छा के बिना कोई कर नहीं लगाये जाएँ। उदारवादी सम्पत्ति व्यक्तियों का एक पवित्र अधिकार मानते थे, इसीलिए उनके द्वारा यह कहा गया है नागरिकों पर कर लगाने का अधिकार जनप्रतिनिधियों के बहुमत को ही होना चाहिए। इसका तात्पर्य था कि उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। 18वीं सदी के अन्त में स्वतन्त्रता संग्राम इसी प्रश्न को लेकर प्रारम्भ हुआ था और -उसका प्रसिद्ध नारा था प्रतिनिधित्व के कर नहीं (No Taxation, without Represntation)।

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता- उदारवादियों के द्वारा सदैव ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक बल दिया गया है। उनके द्वारा शासकीय और धार्मिक ' का विरोध करते हुए इस बात का प्रतिपादन किया गया कि व्यक्ति को अपने लोगो के सभी क्षेत्रों के अन्तर्गत स्वयं अपने सम्बन्ध में निर्णय करने का पूर्ण अधिकार j होना चाहिए। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्तर्गत विचार ओर भाषण की, रहन-सहन की स्वतन्त्रता, धार्मिक विश्वास और आराधना की स्वतन्त्रता, आदि ' रूप से महत्वपूर्ण है।

(4) **पारिवारिक स्वतन्त्रता (Domestic Liberty)-** इसका अर्थ है कि सभी व्यक्तियों को अपने परिवार के गठन एवं पारिवारिक जीवन बिताने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। इसके साथ ही स्त्रियों को विवाह तथा सम्पत्ति के क्षेत्र में पुरूषों के समान ही अधिकार प्राप्त होने चाहिये। बच्चों को भी, विशेष परिस्थितियों को अन्तर्गत माता-पिता के दुर्व्यवहार के विरूद्ध सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिये. साथ ही माता-पिता को उनके शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास के लिये निश्चित रूप से उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिये।

(5) **आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)-** परम्परागत उदारवाद के सन्दर्भ में आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि व्यक्तियों के आर्थिक जीवन और उनके द्वारा संचालित उद्योग तथा व्यापार के राज्य के द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा 'अहस्तक्षेप की नीति' (Policy of Laissez faire) अपनायी जानी चाहिए। राज्य द्वारा व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्रों में 'मुक्ता प्रतियोगिता' के विचार को अपना लिया जाना चाहिए। वस्तुओं के मूल्य और उनके उत्पादन की ' मात्रा स्वयं निर्धारित करने के स्थान पर, मांग और पूर्ति के नियम के द्वारा निर्धारित होने के लिए छोड दी जानी चाहिए। व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में 'संविदा की स्वतन्त्रता' प्राप्त होनी चाहिए और उन्हें अपनी आर्थिक उन्नति के लिए संघ और समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए।

(6) **जातीय एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (Recial and National Liberty)-** उदारवादी विचारक राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक थे तथा भौगोलिक एवं प्रशासकीय दोनों क्षेत्रों में स्वशासन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वे जातीय समानता का भी समर्थन करते थे, किन्तु यह जातीय तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थन यूरोपीय राष्ट्रों तथा गोरी जातियों तक ही सीमित रहा है।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रता (Internatonal Liberty)-** उदारवाद एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के विरूद्ध बल प्रयोग का विरोधी रहा है तथा शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के आधार पर आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में राज्यों के द्वारा परस्पर अधिकाधिक समीप आने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

(8) **राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty)-** हाबहाउस के अनुसार, उदारवाद की यह सबसे बडी विशेषता है और सर्वोच्च देन थी। राज्य के कार्यो में सक्रिय रूप से भाग लेने का नाम ही राजनीतिक स्वतन्त्रता है और इसके अन्तर्गत ये चार चीजें सम्मिलित हैं नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार और राजनीतिक मामलों में समुचित जानकारी प्राप्त करने तथा उन पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का अधिकार। इस प्रकार उदारवाद की राजनीतिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की पर्यायवाची है।

बोध प्रश्न-3

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

प्रश्न1. परम्परागत (नकारात्मक) उदारवाद में राज्य की भूमिका स्पष्ट करो?
उत्तर: .....

14.5.2 आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद- आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद को अन्य अनेक नामों से भी जाना जाता है। इसे सुधारवादी उदारवाद, संशोधनवादी उदारवाद, लोकतान्त्रिक उदारवाद समाजवादी उदारवाद, लोक-कल्याणकारी उदारवाद आदि भी कहा जाता है।

आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद लोकतन्त्र एवं समाजवाद बैसाखियों के सहारे चलने वाला दर्शन है। यह 1 9वीं व 20वी शताब्दी की देन है। इसके मुख्य समर्थक है टी. एच. ग्रीन और एच. जे. लास्की और जे. एस. मिल. की बाद वाली रचनाओं में भी सकारात्मक उदारवाद का समर्थन मिलता है। इसके अन्य समर्थक हैं एम. अर्नोल्ड, - टी. हाबहाउस डी. जी. रिचे, जे. ए. हाबसन, जे. एम. कीन्स आदि। जे. चेम्बरलेन और रूज़वेल्ट जैसे राजनीतिज्ञों ने भी समाज सुधारों और लोक कल्याणकारी कार्यो के रूप में इसका समर्थन किया है।

सकारात्मक उदारवाद के विकास के कारण- उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी में नकारात्मक उदारवाद को जिन चुनौतियों का सामना करना पडा उनका समाधान निकालने व अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उसने अपने सिद्धान्तों या विचारों में जो सुधार व संशोधन किए उन्होंने ही आधुनिक या सकारात्मक उदारवाद को उत्पन्न किया है। ये चुनौतिया' (तत्व या कारण) मुख्यत: निम्न रही हैं-

(1) **आर्थिक असमानता एवं उसके दुष्परिणाम-** 17वीं व 18 वीं शताब्दी के नकारात्मक उदारवाद ने जिस पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया था उसके 19वीं शताब्दी में दुष्परिणाम सामने आने लगे थे। इनसे भयंकर आर्थिक संकटों और मन्दियों को जन्म दिया था। दूसरे, इसने श्रमिकों के एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया था जो न केवल निर्धन और संपतिहीन था बल्कि जो अपनी असहाय स्थिति को सुधारने में अक्षम था। वह पूंजीपतियों के शोषण व अत्याचार का शिकार था। इन दोनों तत्वों ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की माँग को बढ़ावा दिया।

(2) **राज्य के हस्तक्षेप की मांग-** श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए उन्होंने राज्य की शक्ति में वृद्धि और आर्थिक क्षेत्र में उसके हस्तक्षेप की मांग कई। इनके तथा अन्य लेखकों के विचारों ने समय पाकर लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को बढ़ावा दिया।

(3) **श्रमिक संगठन एवं उनके द्वारा प्रस्तुत मांगें-** औद्योगीकरण ने श्रमिकों के संगठनों को जन्म दे दिया था। इन श्रमिक संगठनों ने जहाँ श्रमिकों की सुधारने पर जोर दिया वहाँ उन्होंने कार्यो की सुविधायें बढ़ाने, कार्य के घण्टे करने, उन्हें अच्छे वेतन देने आदि की मांगें भी प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। श्रमिक संगठनों ने श्रमिकों में जिस एकता का संचार किया था उसने पूंजीवादी व्यवस्था के गम्भीर चुनौती प्रस्तुत कर दी थी। इसका समाधान करने के लिए पूंजीवाद को समझौते करने पड़े और आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार करना। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की स्वीकृति भी पूंजीपतियों को अपने लिए लाभकारी नजर आयी क्योंकि राज्य को लोककल्याणकारी

जामा (आवरण) पहना कर वर्ग-संघर्ष और श्रमिक संगठनों को नियन्त्रित, कमजोर या सीमित कर सकते थे।

(4) **लोकतंत्रवादी अवधारणा का विस्तार-** 19वीं शताब्दी (1832 के प्रथम सुधार अधिनियम से शुरू होकर) और 20 वीं शताब्दी के बीच (1928 के पांचवे सुधार अधिनियम के पारित होने से) वयस्क मताधिकार का विकास से पूर्णत: फलित हो गया था। इसने समानता (व्यक्ति-व्यक्ति में समानता) के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था और एक व्यक्ति एक मत के सिद्धान्त की स्थापना कर दी गयी थी। इससे राज्य कार्यो में लोगों की साझेदारी का विकास हो गया था जिसने अपनी बारी में संगठित व सुदृढ़ राजनीतिक दलों के निर्माण को बढ़ावा दिया। राजनीतिक दलों ने राज्य को लोककल्याणकारी नीतियों को अपनाने, व्यक्ति के विकास में आने वाली बाधाओं को दूर करने, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सस्कधी सेवाओं का विस्तार करने, रोजगार सुनिश्चित करने व आर्थिक विषमताओं को दूर करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसने राज्य के स्वरूप को ही बदल दिया; राज्य एक पुलिस राज्य के स्थान पर एक लोककल्याणकारी समाजसेवी राज्य बन गया।

(5) **मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद-** मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद, उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त, " अपहरणकर्त्ताओ के अपहरण "की उसकी पुकारों, संगठित क्रान्ति के लिए "विश्व के मजदूरों एक हो जाओ" की उसकी ललकारों ने जहां श्रमिकों और उनके संगठनों में आश्चर्यजनक एकता और संगठन की 'भावनायें फूंक दीं वहां इन्होंने साम्यवादी आन्दोलन में जान पैदा कर दी। साम्यवादी क्रान्ति का भय सर्वत्र विद्यमान हो गया। दूसरी ओर, मार्का की मानवतावादी अपीलों और उसकी लोककल्याणकारी नीतियों व सामाजिक सुरक्षा की परियोजनाओं में एक अद्भुत आकर्षण था। वर्ष 1917 की रूसी क्रान्ति ने रही-सही कसर पूरी कर दी। संक्षेप में साम्यवाद और उसकी समाजोपयोगी नीतियों ने नकारात्मक उदारवाद के समक्ष गम्भीर चुनौतियाँ प्रस्तुत कर दी।

सकारात्मक उदारवाद के लक्षण (विशेषताये-(सकारात्मक उदारवाद के मुख्य लक्षणों को निम्न बिन्दुओं द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है -

(i) यह व्यक्ति और उसकी स्वतन्त्रता में विश्वास करता है परन्तु इसके लिए स्वतन्त्रता लेसेफेयर नहीं सकारात्मक है। इसके लिए, जैसाकि टी. एच. ग्रीन ने कहा है, " स्वतन्त्रता केवल उन कार्यो को करने या उपभोग करने की स्वतन्त्रता है जो करने योग्य या उपयोग करने योग्य हैं और इनका उपयोग हम दूसरों के साथ मिलकर कर सकते हैं।"

(ii) यह कानून को स्वतन्त्रता का भक्षक नहीं मानता बल्कि उसका रक्षक मानता है। कानून और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विपरीत या विरोधी नहीं बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। लास्की का कहना है कि " ऐतिहासिक अनुभव ने हमारे लिए ऐसे नियम बना दिये हैं जो समुचित जीवन की सुविधा देते हैं। उनकी पालना करने के लिए विवश करना,

व्यक्ति को परतन्त्र करना नहीं। जब कभी सामान्य हित में आचार-विचार के ऐसे भागों को प्रतिबन्धित करना आवश्यक हो जाए तो उनका स्वच्छन्द कार्य क्षेत्र से हटाया जाना, स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं समझा जाना चाहिए।"

(iii) यह अधिकारों को प्राकृतिक नहीं मानता। इसके लिए अधिकार सामाजिक हैं और व्यक्ति समाज का सदस्य होने से ही उन्हें समाज से प्राप्त करता है और समाज के अन्य सदस्यों से मिल कर उनका उपयोग करता है। राज्य, कानूनों के माध्यम से व्यक्ति के अधिकारों को प्रदान कर उसकी स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करता है। ऐसा करते हुए राज्य अधिकारों या स्वतन्त्रताओं को मर्यादित, नियमित या नियन्त्रित कर सकता है।

(iv) यह राज्य को एक आवश्यक बुराई नहीं मानता बल्कि उसे एक नैतिक, लोककल्याणकारी, समाजसेवी संस्था मानता है।

(v) यह राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन नहीं मानता अर्थात् राज्य स्वयं में साध्य नहीं बल्कि -व्यक्ति के कल्याण के लिए साधन मात्र है। राज्य के विकास और कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करता है। टी. एच. ग्रीन का कहना है कि राज्य व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता यद्यपि वह नैतिकता के विकास मार्ग अवश्य प्रशस्त कर सकता है अर्थात् राज्य अच्छे जीवन की बाधाओं में बाधा कर नैतिकता के विकास में सहायक हो सकता है।

(vi) यह २चतन्त्रता और समानता में अर्थात् उदारवाद और लोकतन्त्र में कोई विरोध नहीं समझता। इसका कहना है कि लोकतन्त्र उदारवाद का पर्याय फिर भी वह उसका पूरक है। उदाहरणत: 'समानता', 'जन शक्ति' और 'जन सहमति' की अवधारणाओं को उदारवाद ने लोकतन्त्र से ही प्राप्त किया है और आज ये सभी उदारवाद की अभिन्न अंग बन गई हैं। संविधानवाद, विधि का शासन, एवं उत्तरदायी शासन की अवधारणाओं को भी उदारवाद ने लोकतन्त्र से ग्रहण है।

(vii) यह स्वतन्त्रता (उदारवाद) और समाजवाद में कोई विरोध नहीं बल्कि उन्हें एक दूसरे का पूरक मानता है। इसने समता (समानता), धर्मनिरपेक्षता लोककल्याणकारी (समाजसेवी) राज्य की अवधारणाओं को समाजवाद से किया है। इसने संवैधानिक (क्रमिक) परिवर्तन की अवधारणा को भी समाजवाद से किया है।

(viii) यह राज्य को एक समन्वयकारी (मेल-मिलाप पैदा करने वाली) संस्था समझता है। इसकी धारणा है कि राज्य समाज में विद्यमान भिन्न-भिन्न समूहों समुदायों, वर्गो एवं हितों में समन्वय पैदा कर संघर्ष को नियन्त्रित, मन्द या समाप्त।

(ix) यह व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित अर्थात् व्यक्तिगत इच्छा सामान्य इच्छा (सामूहिक में) में सामन्जस्य पैदा करता है।

(x) यह मानव विवेक (बुद्धि) पर अटूट विश्वास करता है और उसे ही प्रथमिकता देता है। यह भावना, विश्वास, परम्परा या रूढि में विश्वास नहीं करता। उन्हीं ऐतिहासिक

परम्पराओं, सामाजिक संस्थाओं, धार्मिक अनुष्ठानों एवं रूढ़ियों को करता है जो मानव विवेक पर खरी उतरती है।

(xi) यह मुक्त अर्थव्यवस्था, मुक्त व्यापार और स्वतन्त्र प्रतियोगिता के ?? पर नियोजित अर्थव्यवस्था, मिश्रित अर्थव्यवस्था, नियन्त्रित अर्थव्यवस्था और " प्रतियोगिता, विशेषकर बाजार की अर्थव्यवस्था में विश्वास करता है।

बोध प्रश्न-4

प्रश्न1. सकारात्मक उदारवाद में व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध कैसे हैं स्पष्ट करें।

उत्तर: .....

14.5.3 सम-सामयिक उदारवाद

यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक उदारवाद की स्पष्ट शुरूआत. एच. ग्रीन से स्वीकारी जाती है, जिसने राज्य का प्रमुख कार्य सद्जीवन एवं स्वतन्त्रता मार्ग में मौजूद बाहरी बाधाओं को हटाना बताया है। इस दृष्टि से उसने अशिक्षा, निर्धनता,, अस्वच्छता आदि की समाप्ति को राज्य के कार्यो में शामिल किया। उससे पूर्व बैंन्थम ने राज्य के कार्यो में सामाजिक सुधारों को स्थान दिया था तथा जे.एस. मिल ने अपने ग्रन्थ पॉलिटिकल इकनॉमी (Political Economy) में यह मत व्यक्त किया था कि राज्य को सम्पत्ति के अधिकार को नियन्त्रित करना चाहिए तथा मजदूरों की दुर्दशा में सुधार के प्रयत्न करने चाहिए।

यद्यपि आधुनिक उदारवाद की स्थापना एक प्रत्यक्ष श्रेय मुख्यत: टी. एच. ग्रीन को जाता है, किन्तु इसके विकास में हॉबहाउस, लास्की, हाब्सन् रिची, कीन्स, मैकाइवर, आइजिया बर्लिन, सीबी मैकफर्सन आदि ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आधुनिक उदारवाद का विकास बहुलवाद, लोक कल्याणकारी राज्य की धारणा तथा लोकतान्त्रिक समाजवाद के रूप में हुआ है।

वर्तमान शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक उदारवाद का विकास समसामयिक उदारवाद के रूप में हुआ है, जिसने आधुनिक सन्दर्भ में उदारवादी 'मानव-मूल्यों' के महत्व को प्रकट किया है। यह व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसकी स्वतन्त्रता के अलावा विभिन्न सामाजिक संगठनों को भी राज्य के दबाव एवं बाध्यकारी शक्ति से यथासम्भव मुक्ता रखने का समर्थक है। यह स्वतन्त्रता, अधिकार, न्याय, लोकतन्त्र आदि को ऐसे मूल्यात्मक साधन मानता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक है और राज्य को ऐसा साधन मानता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ प्रदान कराता है। समसामयिक उदारवाद की दो धाराऐं रही हैं। पहली स्वेच्छावादी की धारा जिसमें कार्ल पापर बर्लिन, हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन माने जाते हैं और दूसरी समतावाद की धारा जिसमें सीबी मैकरुर्सन और जॉन रोल्स की माने जाते है। स्वेच्छातन्त्रवाद ऐसे व्यक्तियों के लिए उन्नति के अवसरों पर बल देता है जो स्वंय समर्थ और साधन सम्पन्न हो। दूसरी ओर समतावाद ऐसे व्यक्ति के विकास का लक्ष्य सामने रखता है जो विवश और साधनहीन है।

स्वेच्छातन्त्रवाद व्यक्ति की पूर्ण स्वायत्तता या पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास करता है यह उन सब संस्थाओं से व्यक्ति की मुक्ति (Liberation) की इच्छा रखता है जो इसकी विश्व दृष्टि को सीमित करती है। राजनीतिक संस्थाओं के अलावा धर्म, परिवार और रीति रिवाजों में ऐसे तत्वों को भी समाप्त कर देना चाहता है जो व्यक्ति को किसी सांचे में ढालने की कोशिश करता है। दार्शनिक स्तर पर यह मानव जीवन के नियतिवादी दृष्टिकोण (deterministic Outlook) का खण्डन करता है यह मानना है कि मानव को अपनी नियति का निर्माता या भाग्य निर्माता माना है। राजनीतिक क्षेत्र में स्वेच्छातन्त्रवाद यह माँग करता है कि मनुष्य को अपनी उन्नति और समृद्धि का पूर्ण अवसर देने के लिए उसकी आर्थिक गतिविधियों को सब तरह के प्रतिबन्धों से मुक्त रखना चाहिए।

स्वेच्छातन्त्रवाद में एफ.ए. हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन और राबर्ट नोजिक का विशेष योगदान रहा है।

हेयक के अनुसार राज्य का उपयुक्त कार्य प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा देना है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता का सर्वोत्तम प्रयोग करके समाज को उसका लाभ पहुँचा सके। न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

मिल्टन फ्रीडमैन के अनुसार राजनीतिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए आर्थिक प्रबन्ध इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे शक्ति के जमाव (Concentration) या फैलाव (Dispersion) को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकतम विस्तार के लिए फ्रीडमैन यह माँग करता है कि सरकार को केवल वही मामले अपने हाथ में लेने चाहिए, जिन्हें बाजार व्यवस्था या तो बिल्कुल नहीं संभाल सकती या जिन्हें संभालने से इतना ज्यादा खर्च आता है कि उनके लिए राजनीतिक व्यवस्था का उपयोग ही अधिक उपयुक्त है। सरकार का काम बाजार व्यवस्था को सहारा देना है और उसके बचे काम पूरे है, उस पर नियन्त्रण रखना नहीं है।

नोजिक ने लाक के राज्य सिद्धान्त को नए सन्दर्भ में दोहराया है। नोजिक के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति (Individual) है। इसलिए पुलिस राज्य का समर्थन किया है। नोजिक ने व्यक्ति को साध्य मानते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्र गतिविधियों में राज्य के हरत्तक्षेप को अनुचित ठहराया है। राज्य की शक्ति को केवल वहीं तक विधि सम्मत ठहरा सकते हैं जहाँ तक वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा में सहायक हो, इससे अधिक नहीं। नोजिक के अनुसार कराधान (Taxation) को भी वहीं तक उचित ठहरा सकते हैं जहाँ तक वह न्यूनतम राज्य का खर्च उठाने के लिए जरूरी हो। इससे अधिक पुनवितरण कराधान (Redistribution Taxation) एक रह' की बेगार (Force labour) है। नोजिक ने कल्याणकर्ता राज्य का विरोध किया है। नोजिक) जान लॉक की तरह 'बुर्जुवा मानवं को मूल वार्ताकार के रूप में प्रस्तुत किया है।

समसामायिक उदारवाद की समतावादी विचारधारा के अन्तर्गत स्वतन्त्रता और समानता में सामंजस्य बनाने का प्रयास किया जाता है। समतावादी विचारकों के अनुसार स्वेच्छावाद समाज के केवल शक्तिशाली, प्रतिभाशाली और साधन व्यक्तियों की उन्नति से ही सरोकार रखता है। समतावाद के अनुसार एक ऐसी व्यवस्था चाहिए जिसके समर्थ और सम्पन्न व्यक्तियों

के साथ-साथ निर्धन, निर्बल और वंचित व्यक्तियों ,पर भी अपने व्यक्तित्व के विकास का पर्याप्त अवसर और सुविधा प्राप्त हो सके। समतावाद समाज सब सदस्यों को एक ही श्रृंखला की कड़ियाँ मानता है जिसमें मजबूत कड़ियाँ कमजोर डेयों की स्थिति से अप्रभावित नहीं रह सकती। वास्तव में किसी श्रृंखला की सबसे कमजोर डी ही उसकी दृढ़ता का आधार है। जॉन राल्स के अनुसार प्रक्रियात्मक न्याय के माध्यम। सामाजिक न्याय के लक्ष्य की पूर्ति का प्रयास किया है। सामाजिक न्याय का लक्ष्य प्राप्ति करने के लिए न्याय की प्रक्रिया को सुदृढ़ करना आवश्यक हो और न्याय की प्रक्रिया निर्धारित करते समय सामाजिक न्याय के लाभ को ध्यान में रखना जरूरी है।

बोध प्रश्न- 5

प्रश्न1. समसामयिक उदारवाद के प्रमुख विचारक कौन-कौन हैं?

उतर: ... ...

14.6 प्रमुख विचारक

14.6.1 परम्परागत उदारवादी जॉन स्टुअर्ट मिल

यद्यपि बेंन्थम और जेम्स मिल की विचारधारा द्वारा उदारवादी दर्शन को सहायता प्राप्त हुई है, परन्तु उदारवादी दर्शन की पूर्ण अभिव्यक्ति सर्वप्रथम जॉन स्टुअर्ट मिल की विचारधारा में ही मिलती है। मिल ने उन सिद्धान्तों को लागू करने के लिये सतत् रत किया जो उसने बेन्थम और जेमा मिल से ग्रहण किये। इस सम्बन्ध में उसने अनुभव एवं परिस्थितियों से पाठ ग्रहण करते हुए नागरिक अधिकारों को और अधिक व्यापक बनाने पर क दिया और इस बात का प्रतिपादन किया कि स्त्रियों को भी नागरिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये।

मिल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विचार स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए और उसे इस बात का भरोसा होना चाहिए कि उसकी इस स्वतन्त्रता में राज्य या व्यक्ति के पडोसियों द्वारा कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा। विचार स्वतन्त्रता का उस समय तक कोई उपयोग नहीं हो सकता जब तक कि इन्हें व्यक्त करने और इनके प्रसार हेतु संगठन स्थापित करने का व्यक्तियों को अधिकार प्राप्त न हो। अत: राज्य के द्वारा व्यक्तियों को ये सभी स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए और यदि कभी बहुसंख्यक वर्ग अपनी शक्ति के बल पर अल्पसंख्यक वर्ग की इन स्वतन्त्रता पर आघात करना चाहे, तो राज्य के द्वारा बहुसंख्यक वर्ग के हस्तक्षेप से अल्पसंख्यक वर्ग की इन रचतन्त्रताओं की रक्षा की जानी चाहिए। मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने के साधन के रूप में ही उसके द्वारा 'प्रतिनिध्यात्मक शासन' का प्रतिपादन किया गया था! उसका दृढ़ विश्वास था कि राजनीति सामान्य हित का विषय है और इसलिए राज्य की नीति पर सामान्य नागरिक समुदाय का नियन्त्रण होना चाहिए।

मिल के द्वारा अपनी विचारधारा का प्रारम्भ एक परम्परागत उदारवादी के रूप में किया गया, लेकिन शीघ्र ही उसके द्वारा यह अनुभव किया गया कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा तभी सम्भव है जबकि जनसाधारण के लिए उचित प्रकार की सामाजिक स्थितियां विद्यमान हों। अब उसने इस विचार को अपनाया कि पूंजीवाद में व्याप्त भीषण निर्धनता और बेकारी पूंजीवादी

व्यवस्था के ही दुष्परिणाम हैं। उसने इस बात पर बल दिया कि राज्य के द्वारा उचित वेतन, सभी के लिए शिक्षा की व्यवस्था और समानता की स्थापना के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए। समाज की उत्पादन क्षमता और मानवीय साधनों का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए और इस सम्बन्ध में उसके द्वारा राष्ट्रीय समाजवादी अर्थव्यवस्था का भी विरोध नहीं किया गया।

14.6.2 उदारवाद की आत्मा: जॉन लॉक

सत्रहवीं सदी के समझौतावादी विचारक जॉन लॉक की विचारधारा में पुरातन उदारवाद एवं नवीन उदारवाद के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उदारवाद के समर्थकों में वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। लॉक को 'उदारवाद की आत्मा कहा जा सकता है, क्योंकि उसने अपने दर्शन में स्वतन्त्रता को शासन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में स्थान प्रदान किया है और इस बात, पर बल दिया कि शासकीय शक्ति की मर्यादाएँ निर्धारित की जानी चाहिये ताकि इस शक्ति का प्रयोग मानवीय स्वतन्त्रता के विरूद्ध न किया जा सके। उसके द्वारा सामाजिक समझौता सिद्धान्त की सम्पूर्ण व्यूह-रचना मानवीय स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखकर ही की गयी है। लॉक एक प्रमुख उदारवादी है, कि लॉक के दर्शन में व्यक्ति, उसके महत्व और हित-चिन्तन को ही सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रो. वाहन का कथन है कि लॉक की प्रणाली में प्रत्येक चीन्ह का आधार व्यक्ति है, प्रत्येक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की प्रभुता को सुरक्षित रखना है।

राजनीतिक उदारवाद को उसकी एक बहुत बड़ी देन धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धान्त है। उसका विचार है कि व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। व्यक्ति का छूट होनी चाहिए कि वह किसी धर्म या सम्प्रदाय का सदस्य रहे या ना रहे। वस्तुत: लॉक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति इतना अधिक जागरूक है कि उसके द्वारा व्यक्तियों को कुशासन के विरूद्ध विद्रोह का स्पष्ट अधिकार प्रदान किया गया है। मानवीय स्वतन्त्रता के इस रक्षक को 'उदारवाद की आत्मा' का नाम ठीक ही दिया गया है।

14.6.3 टी. एच. ग्रीन

ग्रीन एक उदार आदर्शवादी दार्शनिक है। इस पर भी उसके राजनीतिक दर्शन में व्यक्तिवादी और आदर्शवादी विचारों का मिश्रण है। मैक्सी ने कहा है कि ग्रीन ने "राज्य का दैवीकरण किये बिना उसे आदर्श बताया कि उसका निरपेक्ष अधिकारों के साथ समीकरण कर दिया।" दूसरे शब्दों में, ग्रीन ने हीगल जैसे आदर्शवादियों की भांति न तो राज्य का दैवीकरण कर व्यक्ति का बलिदान किया और न ही बेन्थम जैसे उपयोगिताओं और जे एस मिल जैसे व्यक्तिवादियों की भांति व्यक्ति के अधिकारों को निरपेक्ष बनाया। ग्रीन प्रारम्भिक व्यक्तिवादियों (उपयोगितावादियों) के सहज आशावाद और उसके बाद कुटिल से बहुत दूर था। ग्रीन के दर्शन में व्यक्ति, बेन्थमवाद की भांति, न तो सुख-दुःख का समूह है और न ही पृथक व्यक्तियों का संग्रह मात्र। ग्रीक दार्शनिकों की भांति ग्रीन की धारणा कि व्यक्ति स्वभाव से एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है और राज्य का अस्तित्व इसलिए विद्यमान है कि वह अच्छे जीवन के मार्ग को प्रशस्त कर सकता है। दूसरे शब्दों में राज्य व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता

यद्यपि वह नैतिकता के विकास हेतु मार्ग आवश्यक प्रश्स्त कर सकता है अर्थात् राज्य अच्छे जीवन की बाधाओं में बाधा उपस्थित कर नैतिकता के विकास में सहायक हो सकता है।

ग्रीन के लिए स्वतन्त्रता व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है अर्थात कार्यो को करने की स्वतन्त्रता तब तक है जब तक वे सामाजिक भलाई में योगदान करते हुए और व्यक्ति स्वतन्त्रता का उपभोग अकेले में नहीं दूसरों के साथ मिल कर करता है। ग्रीन का कहना है कि " स्वतन्त्रता केवल उन कार्यो को करने या उपभोग करने की स्वतन्त्र है जो करने योग्य या उपभोग करने योग्य है और इनका उपभोग हम दूसरों के साथ मिल कर करते हैं।" दूसरी ओर, ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य के अनुचित हस्तक्षेप से भी बचाता है और कहता है कि " राज्य के कार्यो का उद्देश्य केवल सामान्य भलाई में योगदान करना है।" अर्थात् राज्य के कार्यो का औचित्य सामान्य कल्याण की भावना है। इस तरह ग्रीन राज्य के कार्यो की समीक्षा कर दी। जहाँ आदर्शवादियों ने राज्य को दैवी, स्वयं साध्य का स्पष्ट बनाया वहाँ- ग्रीन ने राज्य का न तो दैवी माना, न साध्य और न स्पष्ट। राज्य सं साध्य नहीं बल्कि व्यक्ति के नैतिक विकास और कल्याण का साधन है। ग्रीन का यह मानना है कि सस्थायें व्यक्ति के लिए हैं, व्यक्ति संस्थाओं के लिए नहीं। ग्रीन का कहना है कि " राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।"

ग्रीन ने व्यक्तिवाद और आदर्शवाद को सुधारते हुए तथा उन्हें पूरा करते हुए व्यक्ति को साधारण बुद्धि की एक ऐसी कसौटी प्रदान कर दी है जिसके द्वारा राज्य के कार्यो की वास्तविकता की जांच कर सकता है। वेपर ने कहा कि, ग्रीन ने अंग्रेजों को उस मूल्य पर बेन्थम से अधिक सन्तोषजनक सिद्धान्त दिया जिसकी कीमत वे दे सकते थे, उसने उदारवाद को " हित " के स्थान पर " विश्वास" (निष्ठावान) बना दिया, व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक बना दिया और आदर्शवाद को सभ्य और सुरक्षित बना दिया।"

14.7 उदारवाद की आलोचना_

(1) **राज्य एक आवश्यक बुराई नहीं है-** प्रारम्भिक उदारवादियों ने व्यक्तिवादियों की तरह ही राज्य को एक 'आवश्यक बुराई' के रूप में स्वीकारा था और उसके अति सीमित कार्यक्षेत्र का समर्थन किया था। उनका मत था।, राज्य को केवल 'पुलिस-कार्य' (अनिवार्य कार्य) ही करने चाहिए। आलोचकों का मत है कि राज्य एक आवश्यक बुराई नहीं है, अपितु यह सार्वजनिक हित तथा कल्याण की वृद्धि की सर्वोत्तम संस्था है।

(2) **नकारात्मक स्वतन्त्रता का. सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है-** प्रारम्भिक उदारवादियों ने व्यक्तिवादियों की तरह ही यह माना था कि राज्य के कानून व्यक्ति स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और इस तरह उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। इस आधार पर पुन: तत्कालीन उदारवादियों ने राज्य के सीमित कार्य-क्षेत्र का समर्थन किया था; उन्होंने विशेषकर आर्थिक-क्षेत्र में राज्य द्वारा 'अहस्तक्षेप की नीति' के पालन पर बल दिया था। आलोचकों का मत है कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त नहीं करते हैं, अपितु उसकी स्वतन्त्रता में वृद्धि करते हैं। अत: राज्य के कार्य-क्षेत्र में वृद्धि भी की

जानी चाहिए। जब राज्य समाज के कमजोर वर्गो की सामाजिक व आर्थिक मदद के कानून बनाता है, तो वास्तव में राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बढ़ोतरी ही करता है।

(3) उदारवाद में आधारभूत अन्तर्विरोध है- उदारवाद की सम्पूर्ण विचारधारा में ऐसे अनेक सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है, जो परस्पर विरोधी दिखाई पडते हैं। उदारहण के लिए पुराने उदारवादी विचारकों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक जोर दिया था, राज्य की उत्पत्ति के संविधानवादी सिद्धांत को स्वीकारा था, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थन किया था, राज्य के सीमित कार्य-क्षेत्र को उचित माना था तथा लोकतन्त्र की राजनीतिक अवधारणा को ही स्वीकारा था। किन्तु आधुनिक उदारवादियों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समुदायों की स्वतन्त्रता के साथ जोड दिया है; उन्होंने राज्य की उत्पत्ति के संविधानवादी सिद्धान्त तथा प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त को वास्तविक तथ्य मानने की जगह उन्हें केवल प्रतीकात्मक अर्थों में स्वीकारा है और लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के रूप में राज्य के कार्य-क्षेत्र में विस्तार का समर्थन किया है। आधुनिक उदारवादी मात्र राजनीतिक लोकतन्त्र की धारणा से ही सन्तुष्ट नहीं हैं, अपितु उन्होंने इसका सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र तक विस्तार किया है।

(4) विश्व स्तर पर उदारवाद पाश्चात्य हितों का रक्षक है- सिद्धान्त के रूप में उदारवाद का सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है। इसने मानव-मूल्यों को अत्यधिक महत्व भी दिया है, किन्तु व्यवहार में उदारवाद विश्व-स्तर पर पश्चिमी लोकतान्त्रिक देशों के हितों की संरक्षक विचारधारा सिद्ध हुयी है। स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र के एक बड़े समर्थक -जॉन स्टुअर्ट मिल का विचार था कि विश्व की सभी जातियाँ (राष्ट्र) लोकतन्त्र एवं स्वशासन के योग्य नहीं हैं। एक अन्य उदारवादी मॉण्टेस्क्यू के अनुसार पूर्वी देशों में तानाशाही एक स्वाभाविक शासन है। व्यावहारिक दृष्टि से उदारवाद और साम्राज्यवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पडता है। उनके दृष्टिकोण में एक गुफा प्रकार का नसलवाद और साम्राज्यवाद में घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। उनके दृष्टिकोण में एक गुफा प्रकार का नस्लवाद भी दिखाई पड़ता है, जिसके कारण व्यवहार में उन्होंने पश्चिमी जगत की तलना में अफ्रोएशियाई जगत् को तिरस्कार -के योग्य माना है। यही कारण है कि इन उदारवादियों ने अमरीका व यूरोप महाद्वीपों (गोरी दुनिया) में जिस राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया था, उसी सिद्धान्त को दुनिया के अन्य भागों में लागू करने से निरन्तर इन्कार किया। अनेक आलोचकों का मत है कि आधुनिक उदारवाद में भी उपर्युक्त दुराग्रह एवं दुष्प्रवृत्ति मौजूद हैं। आधुनिक उदारवाद मानव-अधिकारों, खुली समाज-व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ- व्यवस्था, प्रदूषण रहित विश्व, मूल्य आधारित विकास आदि की धारणाओं पर अत्यधिक बल दे रहा है, जो प्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त मानवतावादी विचार दिखाई पड़ते हैं। किन्तु व्यवहार में ये विचार तृतीय विश्व के देशों की आर्थिक विकास की दर पर वजन सिद्ध हो रहे हैं। वस्तुत. ये उदारवादी विचार, तुलनात्मक दृष्टि से, पश्चिमी उदारवादी देशों के हितों की रक्षा में ही अधिक सहायक सिद्ध हो रहे हैं।

(5) राज्य कृत्रिम संस्था नहीं है- उदारवादी राज्य को एक कृत्रिम संस्था और समझौते का परिणाम मानते हैं, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं ३। राज्य न तो किसी समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है और न ही यह कोई व्यावसायिक ढंग की साझेदारी है, जिसे इच्छानुसार भंग किया जा सकता है। तथ्य यह है कि राज्य उच्चतम मानवीय गुणों के विकास और महानतम आदर्शों की प्राप्ति में क्रियाशील एवं शाश्वत संस्था है। आदर्शवादी और फासीवादी विचारक भी उदारवाद की आलोचना रु हुए कहते हैं कि उदारवाद में व्यक्ति को जिस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्रता देने की इच्छा कही गयी है, वह तो मानवीय जीवन को एक। प्रकार की पूर्ण अराजकता में परिणित कर देगी। समस्त समाज के विकास और सामूहिक जीवन की पूर्णता के लिए व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को सीमित करना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

14.8 उदारवाद का मूल्यांकन

उदारवाद समर्थकों और आलोचकों दोनों की आलोचनाओं का पात्र रहा है। इसके समर्थक जहां इसकी विवादास्पद व्याख्याओं की आलोचना करते हैं इसके आलोचक वहाँ इसकी मूल अवधारणाओं की आलोचना करते हैं तथा उन्हें चुनौती देते हैं।

उदारवाद की जिन लेखकों या दार्शनिकों ने इसकी आलोचनायें हैं उन्होंने ही इसे सुधारकर अर्थात् इसकी मूल अवधारणाओं में परिवर्तन कर इसे आधुनिक समयानुकूल बनाया है। उदाहरणत: लास्की जैसे उदारवादी लेखकों ने उदारवाद के जहाँ आ (पूंजीवादी) मूल्यों की आलोचना की है वहां उसने इसके स्वतन्त्रता और सहिष्णुता सम्बन्धी मूल्यों की प्रशंसा की है। ठाकुरदास का कहना है कि "लास्की इंगलिश उदारवादी परम्परा का सबसे उग्र आलोचक और सबसे निपुण समर्थक है।" लास्की के चिन्तन की विशेषता है कि उसने एक लेसिसफेयर (अहस्तक्षेपी) राज्य की बात करने के स्थान पर एक राज्य की बात की है। उसने हीगल तथा अन्य समष्टिवादियो की भांति सर्वसत्तावादी राज्य जिक्र बिना राज्य को समाज सेवायें (शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा आदि) प्रदान करने व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए कहा है।

उदारवाद किसी न किसी रूप में पिछली चार शताब्दियों में के रूप में विद्यमान रहा है जबकि अन्य विचारधारायें समय के साथ समाप्त हो गयी है। मार्क्सवादी (साम्यवादी) विचारधारा को 199० में, पूर्व सोवियत संघ के विघटन के साथ, स्थायी झटके लग चुके हैं। चीन जैसे देशों में भले ही साम्यवाद राजनीतिक क्षेत्र में हो, आर्थिक क्षेत्र में उसने बाजार की अर्थव्यवस्था को अपना लिया है। उदारवाद आज भी स्वेच्छातंत्रवाद और समतावाद के रूप में विद्यमान है यद्यपि यह लोकतन्त्र और समाजवाद की बैसाखियों के सहारे जीवित है।

14.9 उदारीकरण वैश्वीकरण

वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ऐसी स्थिति है, एक ऐसी बहुआयामी विचारधारा है जिसमें सम्पूर्ण विश्व सिमट रहा है, दूरियाँ सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से कम हो रही हैं राष्ट्रों की सीमाऐं महत्वहीन हो रही हैं। इसमें परम्परागत राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अभिकर्ताओं

(Traditional National and International actors) की जगह नये अभिकर्ता, नये नियम, नये यंत्र, नया बाजार (New actors, new toos, new rules and markets) विश्व की राजनीति एवं अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रहे हैं। वैश्वीकरण के विविध आयाम हैं।

उदारीकरण और वैश्वीकरण के सैद्धान्तिक आधार : उदारीकरण और वैश्वीकरण के निम्नलिखित सैद्धान्तिक आधार हैं

1. **सामाजिक, राजनीतिक. आर्थिक एवं सांस्कृतिक अन्तःसम्बन्ध एवं अन्तःनिर्भरता :-** वैश्वीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसमें व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अन्त: सम्बन्ध एवं अन्त: निर्भरता पायी जाती है। इसे खण्ड-खण्ड करके नहीं देखा जा सकता है। यह मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली विचारधारा है।
2. **समाज के सभी वर्गो के लिए सम्पन्नता :-** उदारीकरण और वैश्वीकरण नव-उपनिवेशवाद एवं नव-बाजारीकरण की नीति है। समाज के सभी वर्गो को अपना कौशल और अपना श्रम को बेचने की अपार सम्भावनाऐं हैं, पूरे विश्व के द्वार खुले हुए हैं। इसलिए उदारीकरण एवं वैश्वीकरण समाज के सभी वर्गो की सम्पन्नता की विचारधारा है।
3. **3 विश्व नगर की अवधारणा :-** उदारीकरण और वैश्वीकरण के युग में सूचना प्रौद्योगिकी एवं तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व सिमट रहा है और विश्व की समस्त सीमाऐं महत्वहीन हो गयी हैं। इसलिए एक विश्व नगर की अवधारणा साकार हो रही है।
4. **परम्परागत सीमाओं का टूटना :-** वैश्वीकरण के युग में ग्लोबल विलेज की अवधारणा उभरकर सामने आ रही है क्योंकि सभी राष्ट्रों की राष्ट्रवादी सीमाएं महत्वहीन हो रही हैं। अब सभी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौमवाद के सदस्य बन रहे है।
5. **बाजारमूलक अर्थव्यवस्था :-** उदारीकरण और वैश्वीकरण के दौरान सभी राष्ट्र नयी बाजारमूलक अर्थव्यवस्था अपना रहे हैं। समाज में एक उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हो रहा है। उदारीकरण और वैश्वीकरण की अवधारणा पूंजीवादी व्यवस्था के पूरक मानी जा सकती है।
6. **वैश्वीकरण अनिवार्य और अपरिवर्तनशील नीतियां :-** समय का घटनाचक्र हमेशा ही चलता रहा है। वैश्वीकरण समय के अनुसार एक ऐसी स्थिति है जो अपनी अच्छी-बुरी विशेषताओं के साथ निरन्तर आगे की ओर बढ रहा है। इस प्रक्रिया के रूकने व वापस पूर्व की स्थिति में पहुंचने की कोई सम्भावना नजर नहीं आ रही है।
7. **वैश्वीकरण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है :-** उदारीकरण एवं वैश्वीकरण सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करने वाली स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से किसी भी राष्ट्र को अलग नहीं किया जा सकता और न ही कोई राष्ट्र प्रभावित हुये बिना रह सकता।
8. **लोकतन्त्र के विस्तार की अवधारणा :-** उदारीकरण और वैश्वीकरण लोकतन्त्र के विस्तार की अवधारणा है। पश्चिमी पूंजीवादी लोकतंत्र का उदारीकरण और वैश्वीकरण के माध्यम से लोक सरकार के रूप में उदय (Fnal form of human Government) हो रहा है।

सिद्धान्त: यह माना जाता है विश्व के सभी राष्ट्रों को अपना राजनैतिक एवं आर्थिक विकास करने के लिए समानता और स्वतंत्रता का अधिकार है। इस तरह लोकतंत्र का विस्तार हो रहा है।

9. विचारधारा विहीन विश्व :- 60-70 के दशक में सम्पूर्ण विश्व दो विचारधाराओं - पूंजीवादी और साम्यवादी विचारधारा में बंटा हुआ था परन्तु 90 के दशक के अन्तिम चरणों में उदारीकरण और वैश्वीकरण की विचारधारा का विकास हुआ, अन्य सभी विचारधाराऐ विलुप्त सी हो गयी। विचारधारा विहीन विश्व का उदय हुआ।

उदारीकरण निजीकरण और वैश्वीकरण तीनों अवधारणाए दूसरे के पूरक हैं। उदारीकरण और वैश्वीकरण बहु-आयामी अवधारणाएं हैं। यही हम राजनीतिक और आर्थिक आयाम की चर्चा करेंगे।

राजनीतिक आयाम-

आज सम्पूर्ण विश्व में वैश्वीकरण, उदारीकरण बाजार अर्थ व्यवस्था एवं आर्थिक सुधारों के नाम पर एक नई पूंजीवादी साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी विश्व-व्यवस्था का अभियान चल रहा है। ऐंथनी गिड्डेन्स ने वैश्वीकरण को परिभाषित करते हुए कहा है कि " आज सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक संबंध ऐसे हैं जो राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर देशों के बीच की दशाओं और भाग्य को निर्धारित करते हैं" इस प्रकार दुनिया की इस बढ़ती हुई आत्मनिर्भरता को ही वैश्वीकरण कहा जा सकता है। इस व्यवस्था के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इसमें संसार के सभी छोटे बड़े देशों को उन्नति के समान अवसर प्राप्ति होंगे तथा सभी देश अपने-अपने छोटे एवं संकीर्ण स्वार्थो से ऊपर उठकर 'सर्वजन सुखाय' की मंगल कामना से प्रेरित होकर कार्य करेंगे। लेकिन वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। अमेरिका तथा पश्चिमी देश वैश्वीकरण के नाम पर पूरे विश्व को अपने साम्राज्यवादी शिकंजे में कसकर पाश्चात्य सभ्यता का वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं।

इस प्रकार वैश्वीकरण के इस दौर में अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों ने भौतिक समृद्धता के उच्चतम शिखर की प्राप्ति कर ली है, एवं दुनिया के तमाम को अपने नियंत्रण में रखने की कोशिश की है। इन सबके बावजूद, आज पूरे में अनिश्चितता का दौर चल रहा है, चाहे वह पश्चिमी समाज हो या पुराना समाजवादी समाज अथवा दुनिया के देश हो, किसी को यह पता नहीं है कि यह समाज किस ओर जा रहा है। समाज में आंतरिक शोषण, अस्थिरता एवं असंतोष बढ रहा है। एक तरह का नैतिक अनुभव किया जा रहा है। पर्यावरण के प्रदूषण ने मानव जाति के अस्तित्व पर खतरा कर दिया है। इन सभी घटनाओं के मूल में यदि जाने की कोशिश करें तो स्पष्ट होता है कि आज विकास के नाम पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार अति औद्योगीकरण एवं अति उपभोक्तावाद का प्रसार एवं नैतिक मूल्यों का उत्तरोत्तर विघटन आदि कारण उत्तरदायी।

उदारीकरण एक पूंजीवादी अवधारणा है जिसमें व्यक्ति अपनी इच्छा। के अनुसार उद्योग धन्धे करने के लिए स्वतंत्र है। राज्य व्यक्ति के आर्थिक जीवन में कम से कम हस्तक्षेप करेगा या राज्य व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार व्यवसाय करने के लिए पर

नीतियाँ अपनाएं जिससे व्यक्ति अपना विकास कर सके। पूंजीवादी व्यवस्था अपनी विशेषतओं को लिए हुए है इनकी विशेषताओं में समाज में दो वर्ग- पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग उभर कर सामने आते हैं। इन वर्गो में शोषण और संघर्ष स्वाभाविक घटना है। पूंजीवादी व्यवस्था आर्थिक असमानता और शोषणवादी व्यवस्था को जन्म देती है। भारत में उदारीकरण की परिणामस्वरूप भारत सरकार ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए भारतीय बाजार को रु दिया है। MNC's, TNCs, WTO इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की शर्तो को मानना, है जिसके परिणामस्वरूप राज्य की स्वतंत्रता एवं सम्प्रभूता सीमित हो रही है।

वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने राष्ट्रीय और प्रादेशिक सीमाओं को अप्रासंगिक बना दिया है। सूचना एवं तकनीक के व्यापक प्रवाह ने सभी राष्ट्रीय नियंत्रणों को निरर्थक करदिया है। इससे राष्ट्रीय नियंत्रणों को निरर्थक बना दिया है। इससे राष्ट्रीय सरकारों की अपने समाजों और अर्थव्यवस्थाओं को नियंत्रित करने की शक्ति का भी ह्यास हुआ है फलस्वरूप राष्ट्र राज्य की अवधारणा को नुकसान और उनकी सम्प्रभुता की धारणा के समक्ष चुनौतियां उत्पन्न हुई है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया का राष्ट्र राज्य की अवधारणा पर क्या प्रभाव पड़ रहा है इसका अध्ययन करने वाले अध्येयताओं को मेनफ्रेड बी स्टेगर चार वर्गो में वर्गीकृत करते हैं। विचारकों का प्रथम वर्ग राष्ट्र राज्य और उसके प्रादेशिक विभाजनों को वैश्वीकरण के युग में पूरी तरह अप्रसांगिक मानता है। द्वितीय वर्ग राज्य की केन्द्रीय अवधारणा को स्वीकार करते हुए राष्ट्र राज्य को और उसके प्रादेशिक विभाजन को अभी भी प्रासंगिक मानता हैं। तृतीय वर्ग एकल वैश्विक बाजार की स्थापना के अंतिम लक्ष्य के प्रति या तो बहुत अधिक उत्साहित हैं या बहुत अधिक निरूत्साहित है। चतुर्थ मत वैश्वीकरण की प्रक्रिया की एक आर्दशी या मूल्यपूर्ण दिशा की ओर अग्रसर मानता है। यह आर्दशी या मूल्यपूर्ण लक्ष्य वैश्विश्क सरकार की स्थापना की है।

राष्ट्र राज्य के भविष्य से जुड़े इन चारों मतों की अपनी कमियां हैं। राष्ट्र राज्य के समर्थक मानते हैं कि जिन शक्तियों ने विश्व में स्वतंत्र राष्ट्र राज्यों का निर्माण किया है वे प्राकृतिक व अप्रतिरोधनीय है कोई अन्य सामाजिक समूह एक अर्थपूर्ण राजनीतिक समुदाय का गठन नहीं कर सकता हैं। यही कारण है कि राष्ट्र राज्य को एकमात्र व अन्तिम राजनीतिक इकाई माना जाता है।

वैश्वीकरण के युग में एक राष्ट्र राज्य अपना अस्तित्व तभी बचा सकते हैं जब वह अपने तंत्र का पुर्नगठन करे और उसे अधिक मानवीय और लोकतांत्रिक बनाए। साथ ही अपनी प्रत्युत्तर और वितरण क्षमता को बढ़ाए। मानवीय समस्याओं को समक्ष रूप से सुलझाने तथा सामाजिक परिवर्तन में केन्द्रिय अभिकरण की भूमिका निभाएं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से हाशिये में पडे हुए व्यक्तियों, समूहों को ज्यादा सक्षम बनायें ताकि वह बदली हुई परिस्थितियों का मुकाबला सक्षम रूप से कर सकें।

आर्थिक आयाम-

आर्थिक आधारों पर दुनिया को एक गांव बनाकर खुले, अहस्तक्षेपवादी विश्व के यथार्थ का प्रतीक है वैश्वीकरण। वैश्वीकरण की प्रक्रिया नवीन नहीं है, यह हड़प्पा, मैसापोटामिया मिस्त्र की सभ्यताओं के काल से आज तक चली आ रही है, अन्तर है इसके स्वरूप में। आज का वैश्वीकरण सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक गतिविधियों को भी आर्थिक लाभ के कारण न

केवल प्रभावित कर रहा है अपितु एक स्तर पर नियंत्रित भी कर रहा है। खुला बाजार, बड़ा लाभ, पिछड़े हुए देशों को नवीन रूपों में अपने हितों के लिए उपयोग करना आज के वैश्वीकरण की कुछ विशेषताएं हैं।

भारत में 1991 में आर्थिक उदारीकरण और भूमण्डलीकरण को व्यापक रूप से स्वीकार किया गया और W.T.O. की सदस्यता ग्रहण कर व्यापक उदारीकरण की दिशा में कदम बढाया। यह फैसला कई मायनों में असाधारण है। इसके दूरगामी परिणाम सामने आये है। उदारीकरण के भारतीय अर्थव्यवस्था पर सकारात्मक व नकारात्मक परिणाम सामने आये हैं। उदारीकरण के फलस्वरूप भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश में वृद्धि हुई है, सूचना प्रौद्योगिकी विश्व-स्तरीय हुई हैं, आर्थिक विकास दर में वृद्धि हुई है और विदेशी व्यापार बढा है। दूसरी तरफ उदारीकरण की प्रक्रिया को प्रारम्भ करने के 15 वर्षो के उपरान्त भी देश की अधिकांश मेहनतकश जनता के लिये तो तंगहाली, दरिद्रता और बेरोजगारी ही मुख्य समस्या है।

उदारीकरण के लिए नई आर्थिक नीति अपनाई - नई आर्थिक नीति के प्रमुख चार अवयव है- यथा वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण एच बाजारीकरण। ये चारों अवयव एक दूसरे के प्रतियोगी नहीं बल्कि पूरक हैं। इनमें पारस्परिक निर्भरता है। वैश्वीकरण का आशय पूरे विश्व को एक सत्ता के रूप में मानने में है, विश्वीकरण के अंतर्गत सभी बाधाओं को हटा दिया जाता है और बाजार शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका अदा करती है। वैश्वीकरण के अंतर्गत आयात निर्यात व अन्य नीतियों के द्वारा विदेशी पूँजी को आमंत्रित करने के लिए भारत ने अनुकूल वातावरण तैयार किया है। भारतीय अर्थव्यवस्था में लागू किये गये उदारीकरण के अंतर्गत निजी क्षेत्र के विनियमन एवं नियंत्रण का खुला रूप प्रदान किया गया तथा संरक्षणवादी प्रत्यक्ष नियंत्रण हटा लिये जाने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था भूमंडलीकरण के दौर में प्रवेश कर गई। नई आर्थिक नीति में जहाँ अनेक आर्थिक सुधारों की श्रृंखला आरंभ की गई, वहीं एक नियंत्रण एवं प्रतिबान्धो की परम्परागत व्यवस्था को तोड़कर अथवा में निजी क्षेत्र के विरत्तारण की प्रवृत्ति को नई दिशा प्रदान की गई। प्रत्यक्ष विदेशी आकषित करने के प्रयास किये गये। घरेलू उद्योगों की गुणवत्ता में सुधार करके विश्व प्रतियोगिता के लिये घरेलू बाजार खोल दिये गये। यह एक निर्विवाद सत्य है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के इस उदारीकरण ने देश को नया आर्थिक जीवन प्रदान किया है। देश में व्याप्त रूग्णता, भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता, द्विअंकीय मुद्रास्फीति जैसी विभिन्न समस्याओं हल प्रस्तुत करके उदारीकरण की नीति ने अर्थव्यवस्था को स्वावलम्बी एवं विदेशी प्रतिस्पर्द्धा योग्य बनाया है।

नई आर्थिक नीति में आरम्भ किया गया उदारीकरण का दौर गहन अर्थव्यवस्था का पोषण कर रहा है। जबकि देश में बढती जनसंख्या एवं गरीबी के में आवश्यकता यह है कि पूँजी निवेश से अतिरिक्त रोजगार अवसरों का सृजन हो सके। गरीबी रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या कम हो सके और उपभोक्ता कल्याण सूचक औद्योगीकरण का विस्तार हो सके। लेकिन भविष्य में इन नई नीतियों के साथ इन समस्याओं का कोई समाधान होता दिखाई नहीं पडता और अर्थव्यवस्था में आपकी असमानताओं की वृद्धि की आशंका अधिक बलवती -ई दिखाई पड़ती है।

उदारीकरण के सुधारों के चलते बैंकिंग क्षेत्र. में खुली प्रतियोगिता विवेकशीलता एवं पर्यवेक्षी अनुशासन का उचित वातावरण बनाने के प्रयास किए गए हैं साथ ही व्यापरिक बैंकों को सामाजिक एवं आर्थिक दायित्वों की पूर्ति का सर्वमान्य हथियार बनाकर गुणवत्ता की कसौटी पर कार्य करने के लिए अनुशासित किया गया है। आशा की जाती है उदारीकरण के दौर में अपनाए गए बैंकिंग सुधार बैंकों के लिए लाभदायकता, उत्तरदायित्व, दक्षता एवं स्वायत्तता का वातावरण तैयार करने में सफल होंगे।

आज भारतीय बाजार विदेशी सस्ते सामानों से भर रहा है। लुभावने तथा स्त्रियों के चित्र विज्ञापनो के माध्यम से आम आदमी को अपने ओर आकर्षित कर रहे हैं। दूसरी ओर दिनों दिन भारतीय बैंक ने की ब्याज दर सरकारी तंत्र के द्वारा कम कर व्यक्ति की उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि कर रही है। घर, दुकान एवं होटलों का रूप धारण कर रहे भौतिकवादी प्रवृत्ति घरेलू पूँजी निर्माण की दर लगभग शून्य होती जा रही है जिसके दूरगामी परिणाम घातक सिद्ध हो सकते हैं।

विश्वव्यापीकरण के दौर में भारतीय उद्योग विशेषकर लघु उद्योग क्षेत्र एक संकटकालीन दौर से गुजर रहा है। क्योंकि भारतीय उद्योग बढ़ती हुई बहुराष्ट्रीय कंपनियों की प्रतिस्पर्द्धा में न तो तकनीकी रूप से सक्षम है और न ही इस क्षेत्र की उत्पादन क्षमता एवं गुणवत्ता बहुराष्ट्रीय कंपनियों के समान है। भविष्य में लघु क्षेत्र उद्योग इस अन्तर्राष्ट्रीय खुली प्रतिस्पर्द्धा में बिना किसी संरक्षण के जीवित रह पायेंगे। यह सोच पाना भी कठिन है।

नये आर्थिक सुधार एवं उदारीकरण का दौर आंतरिक स्तर पर आय ही असमानताओं में वृद्धि करने के लिए उत्तरदायी रहा है। गरीबों के कल्याण के लिए आरम्भ की गई सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत बेची जाने वाली अति आवश्यक वस्तुएँ जैसे गेहूं चावल आदि की कीमतों में वृद्धि की गई है। कुकिंग गैस, पेट्रोल, डीजल के मूल्य वृद्धि से औसत उपभोक्ता का वास्तविक आम स्तर क्रमश: घटा है। जबकि सीमा शुल्कों की कमी तथा उद्योगों में घटते प्रतिबन्धात्मक उपायों से धनवानों की आय अर्जन की संभावनाओं का विस्तार हुआ है। निःसंदेह अर्थव्यवस्था गरीब अमीर की बढ़ती गहराई वाली द्वैत अर्थव्यवस्था (Dual Economy) बनकर रह जाएगी।

भारत में उदारीकरण और भू-मण्डलीकरण का सर्वाधिक कुप्रभाव कृषि एवं किसानों पर पड रहा है। आज भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था और किसान एक अभूतपूर्व सकट के दौर से गुजर रहे हैं। विदेशों से आयोजित सस्ते कृषि उत्पादों की बढती मात्रा को देखकर लगता है कि यह संकट भविष्य में ओर विकराल होता जाएगा। जिस प्रकार आज चीन द्वारा निर्मित सस्ते इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों से भारतीय बाजार भरे पड़े हैं जिसके कारण लियो जैसी बडी भारतीय कंपनी तक बंद हो गई। इसी तरह विदेशी सस्ते खाद्य तेलों एवं खाद्यान्नों के आयात से भारतीय तिलहन कृषि एवं अनेक तेल मिलें भी दम तोड रहीं हैं और किसान तबाह हो रहे हैं।

भारत को अपने इतिहास से यह सीखना चाहिए कि किस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय आजादी को छीना था, कहीं बाजार संबर्द्धन नीति के अंतर्गत विश्व संगठन का बहाना बनाकर ये अमरीकी सहित पाश्चात्य देश भारत को गुलामी में न ढकेल दें। अत: बहुत सोच समझकर बाजार में किस वस्तु को आने की अनुमति दी जाए, किरन नहीं। इस पर विचार

विमर्श करना होगा। ऐसे उत्पादकों को ही बाजार संवर्द्धन के अंतर्गत लिया जाए जो उत्पाद हमारे देश में नहीं हैं ताकि भारतीय निवेशकों को हानि न हो और बाजार मूल्य संतुलन बना रहे।

14.10 सारांश

उदारवाद एक ऐसी विश्वव्यापी विचारधारा है जिसमें व्यक्ति को सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण माना जाता है, व्यक्ति के विवेक को सभी वस्तुओं, सभी कानूनों का मापदण्ड माना जाता है। राज्य का उदय व्यक्ति के लिए हुआ है। उदारवाद का उदय यूरोप में औद्योगिक क्रांति, नव जागरण, निरंकुश शासन के विरूद्ध प्रतिक्रिया के कारण हुआ है। आरम्भ में उदारवाद का उदय एक नकारात्मक प्रवृत्ति के रूप में हुआ। जिसमें राज्य ने अहस्तक्षेपवादी नीति अपनायी परिणामस्वरूप समाज में दो वर्ग बन गये- पूंजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग। जिनमें शोषण और संघर्ष स्वाभाविक घटना रही। तदत्तर सकारात्मक उदारवाद का विकास हुआ जिसमें राज्य समाज के हित में व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप करेगा, जिसमें राज्य की भूमिका लोककल्याणकारी राज्य की भूमिका रही। 1970 के बाद सम-सामयिक उदारवाद का विकास हुआ। उदारवाद के विचारकों में विशेष रूप से बेन्थम, मिल, जॉन, लॉक और टी.एच. ग्रीन, लास्की, रॉल्स का नाम लिया जा सकता है। उदारवाद अपनी सुधारवादी प्रवृति के परिणामस्वरूप संशोधन एवं सुधार होता हुआ वर्तमान स्थिति में पहुँचा है।

उदारीकरण और वैश्वीकरण जैसी विश्वव्यापी अवधारणा से भारत भी प्रभावित है। यह एक बहुआयामी अवधारणा है। यह अवधारणा भारत की राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था एवं आर्थिक व्यवस्था इत्यादि सभी व्यवस्थाओं को प्रभावित कर रही है। उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप राज्य की सीमाएं अर्थहीन हो रही हैं, राज्य की सम्प्रभुता सीमित हो रही हैं। आर्थिक दृष्टि से उदारीकरण एवं वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप भारत ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिऐ अपने भारतीय बाजार खोल दिये हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आ रही हैं। इनका भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था पर सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव दिखायी दे रहे हैं।

14.11 अभ्यास कार्य

1. उदारवाद से आप क्या समझते हो? उदारवाद के उदय के कारणों की विवेचना कीजिए?
2. उदारवाद की विशेषताओं का वर्णन करते हुए आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. नकारात्मक उदारवाद से आप समझते हैं ? नकारात्मक उदारवाद के प्रमुख विचारकों का वर्णन कीजिए।
4. सकारात्मक उदारवाद के उदय के लिए कौन से कारक उदारवादी हैं? सकारात्मक उदारवाद में राज्य की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. उदारीकरण और वैश्वीकरण से आप क्या समझते हो? भारतीय राज्य व्यवस्था व अर्थ व्यवस्था पर इसके प्रभावों की विवेचना कीजिए।

14.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हाबहाऊस – लिबरलिज्म विलियम एण्ड संस, लंदन, 1927

2. वी.आर मेहता – फाउण्डेशन ऑफ पोलिटिकल, एन.सी.ई. आर.टी नई दिल्ली, 1989
3. लारकी, हैराल्ड – द राइज ऑफ यूरोपियन लिबरलिज्म अनविन बुक्स, लंदन, 1936
4. वॉटर्स एम. – ग्लोबलाईजेशन, रॉउटलेट, लंदन, 1936
5. पाटिल, वीडी. – पॉलिटिक्स ऑफ ग्लोबलाइजेशन, ऑथर्स प्रेस, दिल्ली, 2002 तथा गोपाल, डी.

इकाई-15

मार्क्सवाद

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 कार्ल मार्क्स. जीवन परिचय एवं रचनाएं

15.3 मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त

15.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त

15.3.2 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

15.3.3 वर्ग संघर्ष

15.3.4 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

15.3.5 क्रान्ति का सिद्धान्त

15.3.6 राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा

15.4 मार्क्सवाद की आलोचना

15.5 मार्क्सवाद का योगदान

15.6 सारांश

15.7 अभ्यास प्रश्न

15.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे -

- कार्ल मार्क्स का जीवन एवं कृतित्व;
- मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्तों का विवरण व विश्लेषण; तथा
- मार्क्सवाद के गुण एवं दोष।

15.1 प्रस्तावना

'मार्क्सवाद' राजनीतिक विचारधारा का ऐसा सिद्धान्त है जो इसके मुख्य प्रवर्तक कार्ल मार्क्स (1818-1883) के नाम से जुड़ा है, परन्तु मार्क्स के सहायेगी फ्रेडरिक एंजिल्स तथा अन्य अनेक विचारकों ने भी इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कार्ल मार्क्स जिसके विचारों को मार्क्सवाद, मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, आधुनिक युग का ऐसा दार्शनिक था जिसने तार्किक रूप से समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादन के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की है।

यद्यपि कार्ल मार्क्स के पूर्व भी अनेक समाजवादी विचारकों ने अपने विचार रखे जैसे इंग्लैण्ड के विचारक रॉबर्ट ओवन, चार्ल्स हॉल, रिकार्डो, विलियम गॉडविन और फ्रांस के विचारक सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर लुई ब्लान्क्र, बैवुफ आदि शामिल थे। किन्तु इन विचारकों का दृष्टिकोण नैतिक एवं मानवतावादी था। इन विचारकों ने पूंजीवादी व्यवस्था में मौजूद विषमताओं को इंगित किया किन्तु पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर नयी समाजवादी व्यवस्था के लिए कोई राजनीतिक या क्रान्तिकारी तरीके नहीं बताये। इनके विचारों में वैज्ञानिकता का अभाव - के कारण इन्हे स्वप्नलोकीय समाजवादी (Utopian Socialist) कहा जाता है।

मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्तों एवं मार्क्सवाद के विश्लेषण से पूर्व. मार्क्स के जीवन परिचय एवं रचनाओं की जानकारी आवश्यक है।

15.2 कार्ल मार्क्स : जीवन परिचय एवं रचनाएं

कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 को जर्मनी के राइलैण्ड प्रदेश के ट्रीव्ज नामक स्थान पर हुआ था। उन्होंने जर्मनी के बीन और बर्लिन के विश्वविद्यालयों से शिक्षा प्राप्त की। 1841 में दर्शनशास्त्र में शोध कार्य पूर्ण किया। इसी दौरान समाजवाद, अर्थशास्त्र, इतिहास और राजनीतिशास्त्र का गहन अध्ययन किया।

प्रारम्भ में अध्यापक बनने में इच्छुक मार्क्स ने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। 1844 में फ्रांस प्रवास के दौरान उनकी मित्रता इंग्लैण्ड में व्यापार करने वाले फ्रेडरिक ऐंजिल्स से हुयी। दोनों की वैचारिक साम्यता के कारण दोनों की कर्मभूमि अब इंग्लैण्ड हो गयी। समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादन में एंजिल्स ने वैचारिक रूप से मार्क्स की सहायता की। कार्लमार्क्स एवं एंजिल्स ने 'साम्यवादी घोषणा पत्र" की रचना की जो साम्यवादियों का धर्मग्रंथ कहा जाता है।

मार्क्स ने साम्यवादी विचारधारा के प्रतिपादन के साथ साथ श्रमिक वर्ग को भी संगठित किया। मार्क्स ने ' Workers Education Union ' की स्थापना की। उन्होंने लंदन में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक वर्ग समुदाय (International Workingmen's Association)' का गठन या जो विश्व में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय' के नाम से विख्यात है। 14 मार्च 1883 को उनका देहान्त हुआ

कार्ल मार्क्स महानतम लेखक एवं विचारक थे। उन्होंने 'राइन समाचार पत्र' सहित विविध समाचार पत्रों में लेख लिखे। मार्क्स की निम्नलिखित रचनाएं महत्वपूर्ण हैं :

1. द पॉवर्टी ऑफ फिलासफी
2. द इकॉनामिक एण्ड फिलासाफिकल मैम्यूइस्कप्टस (1844)
3. द कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो
4. क्लास स्ट्रगल इन फ्रान्स (1848)
5. द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकानॉमी (1859)।
6. वैन्यू प्राइज एण्ड प्रोफिट (1865)
7. दास कैपीटल वॉल्यूम I,II एवं III

8. द गोथा प्रोग्राम (1875)

मार्क्स ने एंजेल्स के साथ मिलकर दी होली फैमिली, 'जर्मन आइडियालोजी' तथा कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो की रचना की। ग्रन्थ एंजेल्स की एक उल्लेखनीय कृति है - दी ओरिजिन ऑफ फैमिली प्राईवेट प्रॉपर्टी एण्ड स्टेट।

15.3 मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त

मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों को वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का नाम। दिया है इसके प्रधान सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. इतिहास की आर्थिक व्याख्या
3. वर्ग संघर्ष 4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
4. क्रान्ति का सिद्धान्त
5. राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा

15.3.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मार्क्स के विचारों का मूल आधार है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को साम्यवादियों के लिए एक ऐसे दिशा निर्देश यन्त्र के रूप में माना गया जिसका प्रयोग कर साम्यवादी अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के संचालन की दिशा निर्धारित करते हैं भौतिकवादी के सिद्धान्त के प्रतिपादन में मार्क्स ने का विचार हीगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से ग्रहण किया और भौतिकवाद का दृष्टिकोण फायरबाख से लिया है।

द्वन्द्ववाद भौतिकवाद में दो शब्द हैं इनमें प्रथम शब्द 'द्वन्द्वात्मक' इस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द 'भौतिकवाद' सृष्टि के मूल तत्व को सूचित करता है।

यद्यपि मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का सिद्धान्त हीगल से ग्रहण किया परन्तु हीगल के द्वन्द्वात्मक को मार्का ने उल्टा कर दिया है। मार्क्स ने कहा है कि "मैने हीगल के दर्शन को सिर (मस्तिष्क या आत्मा) के बल पर खडा पाया मैंने उसे पैरों के बल (भौतिकता के आधार पर) खडा कर दिया। हीगल यह मानकर चलता, है कि समाज की प्रगति प्रत्यक्ष न होकर एक टेढे मेढे तरीके से हुई है जिसके तीन अंग हैं - वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti thesis) और संवाद (Syhthesis)। समाज को गतिमय एवं परिवर्तनशील बताते हुए हीगल स्पष्ट करता है कि पुरानी वस्तु समय पाकर नष्ट हो जाती है और उसकी जगह नई वस्तु आ जाती है। विश्व में प्रत्येक वस्तु की प्रतिवादी अवश्य होती है। पहले 'वाद' (Thesis) होता है फिर उसका 'प्रतिवाद' (Anti thesis) इन दोनों के संघर्ष से एक तीसरी वस्तु निकलती है वह संवाद (Syhthesis) है। 'वाद', 'प्रतिवाद' और 'संवाद' का यह त्रिकोण अनन्त' रूप से चलता रहता है। इस प्रकार विकास-विरोधी बातों में संघर्ष का परिणाम है। हीगल इस सिद्धान्त के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि दैनिक जीवन में आत्मा ही सत्य है और विचार ही विश्व के विकास की प्रक्रिया को संचालित करते हैं।

मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद में आत्मवाद के स्थान पर भौतिकवाद को प्रमुख स्थान दिया है। मार्क्स के अनुसार पदार्थ अथवा भौतिक तत्व ही अन्तिम वास्तविकता है और वही विकास की प्रक्रिया को संचालित करते हैं।

द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को मार्क्स एवं उसके अनुयायियों ने गेहूँ के पौधे के उदाहरण से स्पष्ट किया है। गेहूं का दाना वाद है। भूमि में बोने के बाद इसके विरुद्ध भूमि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित होता है और पौधा बनता है। यह पौधा विकास की दूसरी कड़ी अर्थात् प्रतिवाद है। तीसरी कड़ी पौधे में बाल का आना इसके पकने पर गेहूं के दाने का बनना तथा पौधे का सूखकर नष्ट होना है। यह तीसरी स्थिति सम्पादक है। मार्क्स के अनुसार प्रत्येक युग में दो या दो से अधिक आर्थिक शक्तियों का विरोध रहा है और इसी विरोध के कारण विकास होता रहा है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का उदाहरण सामन्तवाद पूंजीवाद एवं साम्यवाद की त्रिपुटी से देते हुए मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि सामन्तवाद अपने अन्तर्विरोधों के कारण मिट गया और पूंजीवाद जो उसकी अग्रिम स्थिति है ने उसका प्रतिवाद किया। किन्तु पूंजीवाद में भी यह है कि उससे समाज मालिक व मजदूरों दो वर्गो में बंट जाता है। अत: इसके प्रतिवाद तथा समाज के विकास की वह अवस्था आती है जिसे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र की अवस्था जाता है। इन दोनों अवस्थाओं के 'संवाद' स्वरूप वह अवस्था आती है, जिसे साम्यवादी ०आ कहते हैं जिसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति के स्थान पर वस्तुओं पर सार्वजनिक स्वामित्व होगा। ड प्रकार मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को सामान्य अर्थ है कि सृष्टि भौतिक है और "वाद" तथा संवाद की द्वन्द्वादी प्रणाली से अपना विकास करती है। मानव समाज के इतिहास का विकास भी इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी प्रक्रिया से हुआ है।

मार्क्स के द्वन्हात्मक भौतिकवाद की विशेषताएं अग्रांकित हैं

- प्रकृति की सम्पूर्णता में विश्वास - द्वन्हवाद की प्रक्रिया के अनुसार विश्व एक भौतिक जगत है। प्रकृति के विविध पदार्थो में अन्तर्निभरता एवं एकता पाई जाती है। सृष्टि की इस अन्योआश्रितता (Interdependency) को समझने के लिए आवश्यक है कि वस्तुओं के आपसी संबंधों को समझें।
- सृष्टि की गतिशीलता एवं परिवर्तन - सृष्टि का मूल पदार्थ गतिशील है। मार्क्स के अनुसार यह मूल तत्व चेतन तत्व नहीं वरन् जड तत्व है। यह निरन्तर गतिशील है और उसमें मात्रात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन पाये जाते हैं। गुणात्मक परिवर्तन क्रांतिकारी पद्धति से होता है।
- द्वन्द्ववाद द्वारा परिवर्तन की व्याख्या - द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया को भौतिकवादी के संदर्भ में विवेचित करते हुए मार्क्स ने स्पष्ट किया है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में अन्तर्विरोध है। पदार्थ की मूल भौतिक अवस्था वाद प्रतिवाद में निरन्तर संघर्ष से -इसी प्रकार विकास होता है। वस्तु में मात्रात्मक परिवर्तन एवं एक सीमा के बाद गुणात्मक परिवर्तन होता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरंतर गतिमान रहती है। इस प्रकार मार्क्स ने द्वन्द्वत्मक भौतिकवाद को मानव इतिहास को अटल एवं अपरिवर्तनीय नियम कहा है।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचना की जाती है :

(i) एकांगी एवं अस्पष्ट मार्क्स भौतिक तत्वों को अत्याधिक महत्व देता है किन्तु आत्म तत्वों को स्वीकार नहीं करता। मार्क्स न तो भौतिकवाद की स्पष्ट -अब- कर पाया है न ही पदार्थो की गति की प्रक्रिया विवेचना कर पाया है। वेपर के अनुसार " द्वन्द्ववाद की धारणा अत्यन्त गढ़ एवं अस्पष्ट है।

(ii) विरोध एवं संघर्ष अत्यधिक बल द्वन्द्ववाद भौतिकवाद का सिद्धान्त सामाजिक जीवन में वर्ग संघर्ष पर अत्यधिक बल देता है और सहयोग एवं सहिष्णुता के तत्वों की उपेक्षा करता है।

(iii) मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति काल्पनिक एवं अमान्य मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति मनोवैज्ञानिक दृष्टि मान्य नहीं है। मार्क्स का यह सिद्धान्त जड़ जगत से संबंधित एक भौतिकवादी सिद्धान्त है जिससे मानव के सामाजिक जीवन पर लागू नहीं किया जा सकता है।

उक्त आलोचनाओं के बावजूद मार्क्स के द्वन्द्ववात्मक भौतिकवाद का अग्रांकित महत्व है:-

(i) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर ही मार्क्स पूंजीवाद के स्थान पर साम्यवाद की स्थापना की तार्किक औचित्यता सिद्ध करता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कारण ही मार्क्स के समाजवाद को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है।

(ii) इस सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स सृष्टि के परिवर्तन के यर्थाथवादी आधारों की खोज करता है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मानव इतिहास का अटल तथा अपरिवर्तनीय नियम (Inexorable law of human history) कहा है।

बोध प्रश्न-1

नोट : नीचे दी गई खाली जगह में उत्तर लिखें।

1. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कोई दो विशेषताएं बताइये।

उत्तर: .....

.....

15.3.2 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

मार्का के अनुसार सभी परिवर्तन भौतिक या आर्थिक कारणों से होता है। जीवन के लिए आवश्यक पदार्थो के उत्पादन की दृष्टि से समाज की रचना होती है। आर्थिक परिस्थितियां ही मनुष्य के आचार-विचार, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप निश्चित करती हैं। मार्क्स के शब्दों में, " मनुष्यों की चेतना उनकी सत्ता को निश्चित नहीं करती है, अपितु इसके विपरीत उसकी सामाजिक स्थिति उनकी चेतना को निर्धारित करती है।"

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण, जिसके अनुसार इतिहास में आकस्मिकता, संयोगों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं में कोई स्थान नहीं है बल्कि इतिहास को एक

तार्किक और क्रमबद्ध विकास का परिणाम माना जाता है। सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन जीवन की भौतिक अवस्थाओं के कारण अर्थात् उत्पादन और वितरण के साधनों के परिवर्तन के फलस्वरूप होते हैं। सत्य तथा न्याय के अमूर्त विचारों या ईश्वर की इच्छा के कारण नहीं। राजनीतिक संस्थाएं सामाजिक संगठन आदि समाज की प्रचलित उत्पादन और वितरण प्रणाली पर निर्भर करती है।

मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की मूल मान्यताएं अग्रांकित हैं -

- इतिहास का अध्ययन मानव समाज के विकास के नियम जानने के लिए किया जाता है। सामाजिक जीवन के परिवर्तन संयोगवश नहीं वरन् भौतिक परिस्थितियों के अनुसार होते हैं। किसी समाज के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्व अर्थात् वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण की प्रणाली की भूमिका सबरने प्रमुख होती है।
- उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन से उस समाज के संगठन में भी परिवर्तन होता है। मार्क्स के अनुसार " पवन चक्की आपको सामंती अवस्था का समाज देती है और भाप से चलने वाली चक्की औद्योगिक पूंजीवादी समाज देती है।"
- समाज की कोई भी अवस्था स्थायी अथवा शाश्वत नहीं होती क्योंकि उत्पादन के उपादानों के अनुसार समाज के संगठन में परिवर्तन होता रहता है। मार्क्स ने अपने काल तक की चार प्रकार की सामाजिक अवस्थाएं - आदिम साम्यवादी अवस्था दास अवस्था, सामंतवादी अवस्था तथा पूंजीवादी अवस्था बताई है। भविष्य के लिए दो अन्य अवस्थाओं समाजवादी अवस्था तथा साम्यवादी अवस्था को मार्क्स स्वीकार करता है। इस प्रकार इतिहास की भौतिकवादी अवस्था के अन्तर्गत मार्क्स छः अवस्थाओं अथवा युगों का उल्लेख करता है।
- मार्क्स के अनुसार हर युग में समाज दो वर्गो में विभक्त रहता है। दास अवस्था में समाज स्वामी एवं दास वर्ग, सामंत एवं किसान वर्ग में तथा पूंजीवादी अवर में समाज पूंजीपति एवं मजदूरी वर्ग में संगठित होता है। इन वर्गो में अन्तर्विरोध से 'छत उत्पन्न होता है। यह वर्ग संघर्ष सामाजिक विकास की कुंजी है। दास युग से सर्वहारा अधिनायकवाद तक के वर्ग संघर्ष ने सामाजिक व्यवस्थाओं को परिवर्तित करने का कार्य किया है लेकिन मार्क्स ने भविष्यवाणी की है कि साम्यवादी युग की अवस्था से वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी और वर्ग संघर्ष' की प्रक्रिया समाप्त हो जायेगी।

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अन्तर्गत मानव समाज की निम्नलिखित छः अवस्थाओं का उल्लेख किया है :-

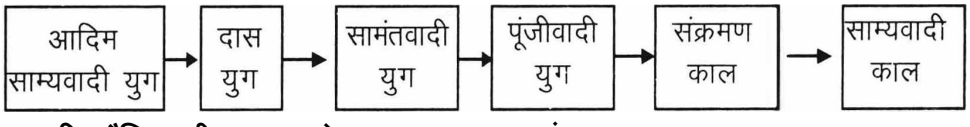

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के तहत छः अवस्थाएं

आदिम साम्यवादी युग में उत्पादन के साधनों पर सबका सामूहिक एवं समान अधिकार था। इस युग में उत्पादन का साधन शिकार या आखेट था।

दास युग में उत्पादन का साधन शिकार न होकर कृषि था। कृषि के लिए कुछ लोग भूस्वामी बन गए तथा खेतों में काम करने के लिए कुछ लोगों को अपने अधीन कर दिया। कृषि के लिए कुछ लोग भूस्वामी बन गए तथा खेतों में काम करने के लिए कुछ लोगों को अधीन कर लिया। इस युग में समाज दो वर्गो में बंट जाता है। समाजवादी युग में भी उत्पादन का आधार भूमि ही है। इस युग में राजा तथा अनेक जमींदार सभी प्रकार के आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार छ थे। दूसरी ओर खेतों में काम करने के लिए गरीब किसान होते थे। जिन्हें उनके परिश्रम के. थोडी जमीन या अनाज मिलता था। इस प्रकार इस युग में भी समाज में शोषक एवं शोषित वर्ग विद्यमान थे। पूंजीवादी युग में उत्पादन के प्रमुख आधार कारखाने हैं। कारखानों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है तथा मुनाफा कमाने के लिए वे मजदूरों का शोषण करते हैं। मार्क्स के अनुसार, शोषण पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था भी शीघ्र समाप्त होगी और अन्त में साम्यवादी युग। समाजवादी युग में मार्क्स ने पूंजीवाद का विश्लेषण कर भविष्य के दो युगों समाजवादी युग एवं साम्यवादी युग की घोषणा की है। समाजवादी युग में मार्क्स की मान्यता है कि राज्य शक्ति पर श्रमिक वर्ग अधिकार कर लेगा तथा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की स्थापना होगी। साम्यवाद के आगमन से पूर्व यह एक संक्रमणकालीन अवस्था है जिसमें उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर निजी स्वामित्व की समाप्ति होगी तथा आर्थिक संसाधनों पर समाज का नियंत्रण होगा। प्रत्येक को अपनी " योग्यतानुसार कार्य और कार्यानुसार वेतन का सिद्धान्त" लागू होगा। राज्य की शक्तियां धीरे-धीरे क्षीण होगी। साम्यवादी युग समाजवादी युग की निर्णायक परिणित है इस अवस्था में ७ एक श्रमिक वर्ग ही रह जायेगा। वर्गो की समाप्ति राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी। अत: साम्यवादी युग राज्यविहीन एवं वर्ग विहीन (Stateless and Classless Society) होगी। यह न्यायपूर्ण समाज होगा जिसमें " प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और अपनी अवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा।"

मार्क्स के इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की निम्नलिखित आलोचना की जाती है :-

(i) ऐतिहासिक नियतिवाद का सिद्धान्त :- सम्पूर्ण मानवीय इतिहास का छ: युगों में विभक्त कर मानव और उसके विकास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर नियति मान लेना अतार्किक है। सम्पूर्ण इतिहास का पूर्ण एवं सूक्ष्म निर्धारण संभव नहीं है। कार्ल फेडरल के अनुसार 'इतिहास एक शाश्वत गति से बहने वाली धारा है जिसके प्रारम्भ एवं अंत को कोई नहीं जानता है।

(ii) केवल आर्थिक आधार पर ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या असंभव :- मार्क्स ने ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या एवं सामाजिक विकास में मानवीय चेतना की कुमइक्पृ एवं संयोग के तत्वों की पूर्ण उपेक्षा की है। आर्थिक ढांचे का निर्माण मानवीय चेतना द्वारा ही किया जाता है तथा इतिहास के गंभीर परिवर्तनों के पीछे संयोग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(iii) वैचारिक अंतर्विरोध :- एक ओर मार्क्स सृष्टि को निरन्तर गतिशील मानता है तथा समाज की किसी भी अवस्था को स्थाई नहीं मानता दूसरी ओर इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में साम्यवादी युग को अन्तिम युग मानता है। पूर्व सोवियत संघ

एवं पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के अवसान के बाद मार्क्स की भविष्यवाणी गलत सिद्ध हो चुकी है।

उक्त आलोचनाओं के बावजूद इतिहास के भौतिकवादी सिद्धान्त के संबंध में मार्क्स का महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उसने सर्वप्रथम इतिहास के क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक अध्ययन प्रारंभ किया था।

बोध प्रश्न-2

1. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के दौरान मार्क्स ने मानव समाज की कौन सी छः अवस्थाएं बताई।

उत्तर: …….

…….

…….

…….

…….

…….

15.3.3 वर्ग संघर्ष विद्वान्त

मार्क्स के दर्शन में वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का अत्यधिक महत्व है। मार्क्स ने कहा है कि "अब तक जितने भी समाज हुए हैं, इन सबका इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास रहा है। स्वामी और गुलाम, उच्च कुल और निम्नकुल, जमींदार और किसान श्रेणपति और दस्तकार अर्थात् शोषण करने वाले और शोषित सदैव एक दूसरे के विरोधी रहे हैं। वे सभी प्रत्यक्ष रूप से कभी लुक छिपकर निरन्तर युद्ध करते रहे है। यह एक ऐसा संघर्ष है जो कि प्रत्येक बार या तो समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण में समाप्त हुआ है या फिर युद्ध में लगे हुए दोनों वर्गो के सर्वनाश में"

इस प्रकार मार्क्स का कहना है कि मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही वर्ग चले आ रहे हैं इनमें से एक वर्ग उत्पादन के साधनों का स्वामी रहा है, दूसरा वर्ग उन असंख्य श्रमजीवियों का रहा है जो अपने श्रम से मूल्य का उत्पादन करते हैं। इन दोनों वर्गो के हित सदैव एक दूसरे के विरोधी रहे हैं इसलिए ऊनमें वर्ग-संघर्ष होता रहा है।

वर्ग संघर्ष की अपनी उपर्युक्त धारणा के आधार पर कार्ल मार्क्स पूंजीवाद के अन्त को आवश्यक मानता है। यद्यपि पूंजीवाद का विनाश स्वतः ही अवश्यभावी है। फिर भी उसके शीघ्र विनाश के लिए मार्क्स ने श्रमिकों को क्रान्ति के लिए ललकारा है।

मार्क्स के वर्ग संघर्ष संबंधी सिद्धांत की निम्नलिखित आलोचना की जाती है :-

(i) संघर्ष पर अत्यधिक बल सहयोग की उपेक्षा :- मार्क्स का सिद्धान्त वर्ग संघर्ष पर अत्यधिक बल देता है। वस्तुतः ये इतिहास का एक पक्षीय अध्ययन है। इतिहास के क्रमिक विकास में संघर्ष की तुलना में सहयोग एवं सामंजस्य की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है।

(ii) वर्ग संबंधी दोषपूर्ण मान्यता :- समाज के विशाल मध्यमवर्ग, गैर आर्थिक वर्ग जैसे धर्म, भाषा, संस्कृति पर बने हुए वर्गो की उपेक्षा कर मार्क्स समाज में केवल दो आर्थिक वर्गो की धारणा को स्वीकार करता है। एक ही वर्ग में मौजूद अन्तःसंघर्ष की प्रवत्ति की भी मार्क्स ने उपेक्षा की है। मार्क्स का वर्ग संघर्ष सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के सिद्धांत का ही उपसिद्धान्त है। वर्ग संघर्ष सिद्धान्त आर्थिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति हैं।

वर्ग संघर्ष सिद्धान्त में अनेक कमियों के बावजूद पूंजीवाद के वर्ग चारित्र को उजाकर कर पूंजीपतियों को श्रमिकों के कल्याण के लिए प्रेरित किया गया है।

15.3.4 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'दास कैपीटल' में अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त में मार्क्स यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था श्रमिकों के शोषण पर आधारित है।

मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त रिकार्डो (Recardo) से लिया गया है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो ने यह कहा था कि किसी भी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उस श्रम के आधार पर होता है जो उसके उत्पादन के लिए किया जाता है। कार्ल मार्क्स ने रिकार्डो के विचारों का समर्थन करते हुए उसमें यह और जोड़ दिया किया प्रत्येक श्रमिक अतिरिक्त मूल्य' का निर्माण करता है।

मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए प्रत्येक वस्तु के दो तरह के मूल्य बताता है।

- उपयोगिता या उपभोग मूल्य (न्म टंसनम)
- विनिमय मूल्य (म्गबींदहम टंसनम)

मार्क्स ने उपयोगिता मूल्य एवं विनिमय मूल्य में अन्तर किया है। उपयोगिता मूल्य का अर्थ है :- जो "वस्तुए मनुष्य की इच्छा पूरी करती है, वे उनके लिए उपयोगी है : वे मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान हैं। मूल्य का दूसरा आधार विनिमय मूल्य है। विनियम मूल्य इस बात में है कि उस वस्तु के बदले क्या प्राप्त होता है। मार्क्स यह प्रतिपादित करता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनकी उपयोगिता अर्थात् उपयोग मूल्य पर निर्भर नहीं करता बल्कि उसके उत्पादन पर लगाए गए श्रम की मात्रा पर निर्भर करता है।

मार्क्स के अनुसार "प्रत्येक वस्तु का वास्तविक मूल्य वह श्रम है जो उसे मानव उपयोगी बनाने के लिए उस पर व्यय किया जाता है, क्योंकि वही उसमें 'विनिमय मूल्य' पैदा करता है।" पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूर अपनी श्रमशक्ति (Labour Power) बेचता है तथा मजदूरी प्राप्त करता है। हर मजदूर अपनी मजदूरी से ज्यादा काम करता है तथा अधिक मूल्य पैदा करता है। मार्क्स ने हर वस्तु का विनिमय मूल्य उस पर लगे मानव श्रम के बराबर होता है। पूंजीपति 'लाभ' वस्तु को बेचकर नहीं बल्कि उत्पादन में मजदूर को उसके काम के अनुपात में कम मजदूरी देकर अर्जित करता है। हर मजदूर को मजदूरी कम मिलती है तथा काम ज्यादा करना पडता है ?' हर मजदूर अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है। अतिरिक्त मूल्य मजदूर द्वारा

प्राप्त मजदूरी तथा मजदूर द्वारा किए गए मूल्य का अन्तर है। मार्क्स के अनुसार अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अन्तर है जिसे एक श्रमिक पैदा करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है (Surplus Value is the difference between the value of the wages a laborer produces and which he actually receives)

जैसे - एक मजदूर को यदि दिन भर आठ घण्टे काम करना हो तथा प्रतिदिन दो रुपया दिया जाता है। वह मजदूर यदि दो रुपये का उत्पादन चार घण्टे में ही कर दे और दिन भर चार रुपये का उत्पादन करे तो अधिशेष दो रुपया मिल मालिक की जेब में रमाते हैं। मार्क्स के अनुसार यह श्रम की चोरी है। यह अतिरिक्त मूल्य मजदूर से प्राप्त होना चाहिए। मार्क्स के अनुसार साम्यवादी समाज की स्थापना से पूर्व समाजवादी समाज की स्थापना होगी। इस अवस्था में राज्य रहेगा। इस अवस्था में वितरण का न्याय इस सिद्धान्त पर आधारित होगा 'प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार कार्य लेना, प्रत्येक को उनके कार्यनुसार पारिश्रमिक देना।

जब राज्य लुप्त हो जायेगा और साम्यवादी समाज की स्थापना होगी तो वितरण का आधार होगा 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा।'

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएं की जाती है :-

(i) भ्रामक सैद्धान्तिक आधारों पर आधारित :- मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत पूर्णत: भ्रामक एवं अवैज्ञानिक है। किसी वस्तु में विनियम मूल्य केवल श्रमिक के श्रम द्वारा उत्पन्न मानना गलत है। वस्तु के विनियम मूल्य में पूंजी, प्रबंध, भूमिका एवं अन्य तत्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

(ii) मानसिक श्रम की उपेक्षा :- मार्क्स ने किसी वस्तु के निर्धारण में केवल शारीरिक श्रम का ही उल्लेख किया है जबकि वस्तु के मूल्य के निर्धारण में केवल शारीरिक श्रम ही नहीं वरन् मानसिक श्रम अर्थात् योजना, तकनीकी ज्ञान, बिक्री की रणनीति आदि की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

(iii) प्रचारात्मक सिद्धान्त :- मार्क्स ने इस सिद्धान्त के द्वारा यह प्रचारित करने का प्रयास किया है कि पूंजीवाद श्रमिकों के क्रूर शोषण पर खड़ी अन्यायपूर्ण अवस्था है। अत: श्रमिक वर्ग को वर्ग संघर्ष एवं क्रान्ति करनी चाहिए।

मैक्स बीयर के अनुसार मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त का राजनीतिक एवं सामाजिक नारेबाजी की दृष्टि से महत्व है।

उक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त अतार्किक है तथा पूंजीवाद के विरुद्ध प्रचार के लिए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था।

बोध प्रश्न-3

1. अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए मार्क्स ने प्रत्येक वस्तु से सम्बन्धित कौन से दो मूल्यों का उल्लेख किया है? बताइये

उत्तर: ……..

……..

15.3.5 क्रान्ति का सिद्धान्त

मार्क्स क्रान्ति की अनिवार्यता में विश्वास करता है। शान्तिपूर्ण तथा वैध तरीकों से साम्यवादी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।' साम्यवादी घोषणा पत्र में मार्क्स और एंजिल्स ने लिखा है कि " साम्यवादियों को अपने विचारों और उद्देश्यों को छिपाने से घृणा है और वे खुले तौर पर घोषणा करते हैं कि उनके लक्ष्य की प्राप्ति वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का बलपूर्वक उन्मूलन करके ही की जा सकती है। यदि शासक वर्ग साम्यवादी क्रान्ति से कांपता है तो उसे कमाने दो। श्रमिकों के पास अपनी बेडियों के अलावा खाने के अलावा और कुछ नहीं है। दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ।"

मार्क्स की यह मान्यता है कि पूंजीवाद स्वयं अपने विनाश के बीज बो रहा है, किन्तु इस कार्य को शीघ्र करने के लिए मजदूरों को संगठित होकर क्रान्ति कर देनी चाहिए। मार्क्स की मान्यता है कि पूंजीपतियों के संगठित विरोध का सामना श्रमजीवी संगठित होकर:. क्रांति के माध्यम से ही कर सकते हैं। शासक वर्ग बिना संघर्ष सत्ता को नहीं छोड़ेगा। श्रमजीवियों के लिए सत्ता पाने का एकमात्र उपाय सशस्त्र क्रान्ति का अवलंबन है।

मार्क्स के अनुसार वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज ही मार्क्स का अन्तिम लक्ष्य है।

मार्क्स का क्रान्ति का सिद्धान्त हिंसा पर आधारित है। अत: इसकी आलोचना की जाती है।

15.3.6 राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा

मार्क्स की राज्य और शासन सम्बन्धी धारणा प्राचीन एवं परम्परागत विचारकों से भिन्न है। राज्य की उत्पति के संबंध में मार्क्स ने अपने पूर्ववर्ती विचारको प्लेटो एवं अरस्तू की तरह यह नहीं माना है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। मार्क्स राज्य कि उत्पति का कारण वर्ग विभेद को मानता है। वर्ग विभेद पर आधारित होने के कारण ही मार्क्स राज्य को अनावश्यक एवं अस्थायी मानता है। राज्य के उदेश्य के संबंध मे मार्क्स कि मान्यता है कि राज्य शासक वर्ग के हितो को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गो के शोसण का साधन या उपकरण मात्र है। राज्य पूंजीपतियों का संगठन है जिसका उदेश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है। मार्क्स के मतानुसार राजनीतिक शक्ति का तात्पर्य उस वर्ग कि संगठित शक्ति से है जिसका उपयोग वह दूसरे पर दबाव बनाने के लिए करता है। राज्य श्रमिकों के शोषण के लिए पूंजीपतियों के हाथ मे एक हथियार है। मार्क्स ने राज्य को 'पूंजीपति वर्ग की कार्यकारणी समिति' कहा है। मार्क्स का मत है कि पूंजीपतियों को कुचल देने के बाद राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। वर्गभेद समाप्त हो जाने के बाद प्रशासन की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी तथा राजयविहीन वर्गविहीन समाज (Stateless-Classless Society) की स्थापना होगी।

मार्क्स की राज्य संबंधी अवधारणा की निम्नलिखित आलोचना की जाती है :-

(i) मार्क्स द्वारा राज्य की उत्पत्ति को वर्ग संघर्ष का परिणाम मानना तथा राज्य को शोषक वर्ग के हाथों शोषित वर्ग के उत्पन्न, दमन तथा शोषण की क्षमता मानना अनुचित है। राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी मान्यता मान्य है तथा राज्य को समाज के सामान्य कल्याण की संस्था माना जाता है।

(ii) राज्य विहीन समाज की स्थापना असंभव है।

15.4 मार्क्सवाद की आलोचना

मार्क्सवाद के विविध सिद्धान्तों की अनेक विद्वानों ने निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की है -

(i) मार्क्स आवश्यकता से अधिक भौतिकवादी है। उन्होंने केवल भौतिक तत्वों पर बल देकर अपने सिद्धान्त को एकांगी बना दिया है।

(ii) मार्क्स की अधिकांश भविष्यवाणियां गलत साबित लुई हैं। मार्क्स की भविष्यवाणियां पूंजीवाद की समाप्ति होगी एवं संगठित श्रमिक वर्ग का उदय होगा और मजदूरों की स्थितियां सुधरेगी गलत साबित हुयी है।

(iii) राज्य का अन्त कर राज्यविहीन समाज की स्थापना सम्बन्धी मार्क्स की परिकल्पना भी महज कल्पना साबित हुयी है।

(iv) मार्क्स द्वारा हिंसा एवं क्रान्ति द्वारा समाज में परिवर्तन लाने की धारणा भी कोरी काल्पनिक धारणा है। मार्क्सवाद का हिंसात्मक रास्ता अराजकता की ओर ले जाता है।

(v) मार्क्स द्वारा राज्य को एक वर्गीय संगठन मानना अनुचित है। राज्य केवल पूंजीपति के हाथों श्रमिकों के शोषण का अभिकरण मात्र नहीं है। राज्य अनेक लोकहितकारी कार्यो का सम्पादन करने वाला उपादान भी है।

(vi) राज्य के विलीनीकरण की धारणा केवल काल्पनिक है। पूर्व सोवियत संघ एवं चीन में श्रमिकों के अधिनायकतन्त्र के बाद राज्य के विलीनीकरण के स्थान पर श्रमिकों का अधिनायकतन्त्र व्यक्तिगत अधिनायकतन्त्र में परिवर्तित हो गया और सर्वाधिकारिवादी राज्य की स्थापना हुई।

(vii) मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में मार्क्स ने चेतन द्वारा जड़ पदार्थो के संचालन की प्रक्रिया को इंगित किया है। मार्क्स का यह विचार तर्कसंगत नहीं है कि सृष्टि में सम्पूर्ण विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है। मार्क्स ने आत्म तत्व की उपेक्षा की है।

(viii) मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त केवल शारीरिक श्रम को ही श्रम मानता है मानसिक श्रम की उपेक्षा करता है। मार्क्स के इस सिद्धान्त में पूंजी, तकनीकी ज्ञान एवं अन्य तत्वों की उपेक्षा करने के कारण इसे विरोधाभासी माना गया है।

इसके साथ ही आलोचक मार्क्सवाद द्वारा धर्म को अफीम मानने, मार्क्सवाद के वितरण के सिद्धान्त को अत्यव्यवहारिक मानने एवं मौलिकता के अभाव के कारण उसे गलत माना है।

15.5 मार्क्सवाद का योगदान

यद्यपि कार्ल मार्क्स के विचारों की आलोचना की गयी है। फिर भी सम्पूर्ण विश्व पर जितना प्रभाव मार्क्स के विचारों का पड़ा है उतना किसी अन्य विचारक का नहीं पड़ा है। चिपमैन ग्रे "अनेक कमियों के होते हुए भी यह बात सत्य है कि मार्क्स 19वी शताब्दी का अधिकतम प्रभावशाली व्यक्ति है।" मार्क्सवाद की महत्वपूर्ण देन को अग्रांकित बिन्दुओं में समेकित किया जा सकता है:-

(i) कार्ल मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का प्रवर्तक माना जाता है। मार्क्स ने अपने विचारकों से भिन्न वैज्ञानिक रूप से समाजवाद के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है। पूर्ववर्ती विचारकों के नैतिकतावादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के स्थान पर मार्क्स ने आधारों पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। मैक्सी के शब्दों में समाजवाद को रूप देना मार्क्स के माने हुए सिद्धान्तों में से था। उसने साम्यवाद को केवल वैज्ञानिक आधार ही प्रदान नहीं किया वरन् विशाल शक्त भी दी। लुईस वाशरमैन के अनुसार मार्क्स ने को एक षड्यंत्र के रूप में पाया और उसे एक आंदोलन के रूप में छोड़ा। उसने को एक दर्शन और एक दिशा दी।

(ii) मार्क्स ने पूंजीवाद की कमियों को उजागर किया। मार्क्सवाद के प्रभाव कारण ही अनेक देशों में श्रमिकों के हितों के लिए कानून पारित हुए निश्चय ही विश्व के श्रमिक वर्ग के मनोबल को उन्नत करने में सहायक रहा है।

(iii) मार्क्स के चिन्तन एवं मार्क्सवाद के सिद्धान्तों ने अपने पश्चात्वर्ती को अत्यधिक प्रभावित किया। उसकी चिन्तन के नवीन दृष्टिकोण से सामाजिक संगठन एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को नवीन आधार मिले। एक ओर पूंजीवाद के प्रतिकार में 1917 में रूस की समाजवादी क्रान्ति हुई एवं दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी के अनेक देशों ने समाजवादी राज्य व्यवस्था की स्थापना की। कार्ल पापर के अनुसार 'कथनी के स्थान पर करनी पर बल देने वाली विचारधारा होने के कारण मार्क्सवाद निश्चय ही हमारे समय की सबसे अधिक महत्वपूर्ण सुधारवादी विचारधारा है।'।

सारत: 90 के दशक के प्रारंभ में पूर्व सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोप में व्यवस्था के अवसान के बाद मार्क्सवाद को अप्रासंगिक कहा गया। लेकिन इन देशों में व्यवस्था की असफलता के बावजूद यह सत्य है कि आज भी दुनिया के विकासशील एवं देशों में जब तक आर्थिक विषमता एवं वर्ग शोषण की समस्याएं मौजूद रहेंगी तब तक की उपयोगिता और उसका औचित्य बना रहेगा।

बोध प्रश्न-4

1. मार्क्सवाद की कोई दो आलोचनाओं का उल्लेख कीजिये।

उत्तर: .....

.....

15.6 सारांश

'मार्क्सवाद' राजनीतिक विचारधारा का ऐसा सिद्धान्त है जो इसके मुख्य प्रवतर्क कार्ल मार्क्स (1818-1883) के नाम से जुड़ा है, परन्तु मार्क्स के सहयोगी फ्रेडरिक एंजिल्स तथा अन्य अनेक विचारकों ने भी इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। कार्ल मार्क्स जिसके विचारों को मार्क्सवाद, मार्क्सवादी समाजवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है, आधुनिक युग का ऐसा दार्शनिक था जिसने तार्किक रूप से समाजवादी विचारधारा के प्रतिपादन के सार्थ-

साथ सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के वैज्ञानिक नियमों की खोज भी की है।

कार्ल मार्क्स जिसका जन्म 5 मई, 1818 को जर्मनी के राइनलैण्ड के ट्रीब्ज नामक स्थान पर हुआ था ने एक महान लेखन एवं विचारक के रूप में अनेक महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की है। अपने मित्र एंजिल्स के साथ उन्होंने दी कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो लिखा। मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्या, वर्ग संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, क्रान्ति का सिद्धान्त, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा हैं। यद्यपि मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की भौतिकवाद पर अत्याधिक बल देने, भविष्यवाणी की असफलता एवं अन्य आधारों पर आलोचना की जाती है तथापि मार्क्सवाद की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। मार्क्सवाद को माकर्न द्वारा समाजवाद का वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध प्रतिपादन तथा पश्चात्वर्ती समाज एवं राज व्यवस्थाओं पर निर्णायक प्रभाव के कारण महत्वपूर्ण माना जाता है।

15.7 अभ्यास प्रश्न

1. मार्क्सवाद के मुख्य सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए?
2. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. मार्क्सवाद की कमियों एवं योगदान की चर्चा कीजिए।

15.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कोलकोवस्की, एल. – मेन करेन्टरन ऑफ माक्सिज्म, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, ऑकनफोर्ड, 1978
2. मेक्लेलेन डी. – मार्क्सिज्म आफ्टर मार्क्स, मैक्मिलन, लंदन, 1976
3. एण्डरसन, पी. – कन्सिडरेशन ऑन वेस्टर्न मार्क्सिज्म, न्यू लेफ्ट, लंदन 1976
4. लिब्थिएम, जी. – मार्क्सिज्यू, राउटलेज, लंदन, 1961

इकाई-16

लोकतांत्रिक समाजवाद

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 लोकतांत्रिक समाजवाद: अर्थ एवं परिभाषा

16.3 लोकतांत्रिक समाजवाद के स्रोत

16.4 लोकतांत्रिक समाजवाद के तत्व

16.5 लोकतांत्रिक समाजवाद की प्रमुख विशेषताएं

16.6 लोकतांत्रिक समाजवाद का मूल्यांकन

16.6.1 लोकतांत्रिक समाजवाद के गुण

16.6.2 लोकतांत्रिक समाजवाद के अवगुण

16.7 सारांश

16.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे:

- लोकुतात्रिक समाजवाद की अवधारणा;
- लोकतांत्रिक समाजवाद के नियामक सिद्धान्त एवं लक्षण; तथा
- लोकतांत्रिक समाजवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन एवं उसकी उपयोगिता।

16.1 प्रस्तावना

उदारवादी लोकतंत्र की आधारशिला पर औद्योगिक क्रांति के प्रसार स्वरूप विश्व में पूंजीवाद तथा पूंजीवाद की पराकाष्ठा, साम्राज्यवाद का उदय एवं प्रसार हुआ। प्रत्येक क्रिया की परिणति समान शक्ति की प्रतिक्रिया में होती है। अतएव विश्वव्यापी पूंजीवाद के समाजवाद का उदय हुआ। रूस की बोल्शेविक क्रांति से समाजवाद को राष्ट्रीय संस्थागत मिला। दूसरे विश्वयुद्ध के उपरान्त पूंजीवाद व समाजवाद को व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय आधार मिला। शीतयुद्ध के विश्वव्यापी वाद-विवाद ने विकल्पत: लोकतांत्रिक समाजवाद का संवाद प्रस्तुत "। लोकतांत्रिक समाजवाद आर्थिक-सामाजिक प्रक्रियाओं को जन-सहभागिता के बल पर राष्ट्रीय विकास की एवं वैकल्पिक विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करने की संकल्पना प्रस्तुत करता है। इस इकाई में इसी व्यापक परिदृश्य का संधान किया जायेगा।

16.2 लोकतांत्रिक समाजवाद अर्थ एवं परिभाषा

लोकतांत्रिक समाजवाद एक ऐसी विचारधारा है जो औद्यौगिक उत्पादन के क्षेत्र में निजी पूंजी के स्थान पर सामूहिक पूंजी की व्यवस्था की समर्थक है, इसलिए इसे समष्टिवाद (समूहवाद) कहा जाता है। यह विचारधारा राज्य की सहायता से समाजवाद की स्थापना चाहती है, अत: इसे राज्य समाजवाद कहा गया है। यह समाजवाद की स्थापना के लिये क्रांति एवं ध्वंस के साधनों में विश्वास न करके मौजूदा पूंजीवादी समाज के क्रमिक विकास एवं सुधार के द्वारा समाजवाद की स्थापना की समर्थक है, इसलिये इसे विकासवादी समाजवाद या सुधारवादी समाजवाद भी कहा जाता है।

लोकतांत्रिक समाजवाद का उद्देश्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जिसके ठान्तर्गत व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व प्रदान किया जाये। आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद, सामन्तवाद जैसी शोषण की व्यवस्थाओं का अन्त करते हुये आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी प्रतियोगिता की भावना का अन्त किया जाये तथा उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त करके उनका समाजीकरण किया जाये।

परिभाषा की -दृष्टि से लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा का प्रमुख लक्षण लोकतंत्र एवं समाजवाद का संयोग है। यह विकासवादी पद्धति के माध्यम से राजनीतिक लोकतंत्र के माध्यम से समाजवादी अवधारणा को लागू करना चाहती है।

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार " लोकतांत्रिक समाजवाद वह नीति अथवा सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतांत्रिक सत्ता द्वारा वर्तमान काल की तुलना में सम्पत्ति का अधिक अच्छा वितरण एवं उत्पादन करना है।

पंडित जवाहरलाल नेहरु के अनुसार- " राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का विकेन्द्रीकरण तथा जन सहमति के तरीकों से न कि बल द्वारा स्थापित की जाने वाली न्यायपूर्ण व्यवस्था ही लोकतांत्रिक समाजवाद है।"

राम मनोहर लोहिया के अनुसार- " लोकतांत्रिक समाजवाद ने साम्यवाद के आर्थिक लक्ष्य तथा पूंजीवाद के सामान्य लक्ष्यों को अपनाया है। इस प्रकार लोकतांत्रिक समाजवाद का लक्ष्य दोनों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना है।

संक्षेप में लोकतांत्रिक समाजवाद का अर्थ है: लोकतांत्रिक मार्ग को अपनाकर आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की स्थापना करना।

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा के प्रमुख समर्थक इंग्लैण्ड में राबर्ट ओविन, सिडनी, वेट्रिस बेव एच० जी० वेलन, आर० एच० टॉनी, रेम्बे मैक्डोनाल्ड, क्लेमेन्ट आर० एटली, हैराल्ड जे० लास्की। जर्मनी में रॉडवर्टस, फर्डीनार्ड लैक्ले, एडवर्ड वर्नाटाइन। संयुक्त राज्य अमेरिका में नॉर्मन थॉमस तथा भारत में आचार्य नरेन्द्र देव, डा० राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण एवं जवाहरलाल नेहरु प्रमुख हैं।

बोध प्रश्न- 1

1. लोकतांत्रिक समाजवाद से आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर: …   …

16.3 लोकतांत्रिक समाजवाद के स्रोत

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा का उदय 20 वीं शताब्दी में हुआ। इस विचारधारा के विकास में उन प्रमुख कारकों का योगदान रहा है, जिन्होंने समाजवाद एवं फेवियनवाद को विकसित किया। मार्क्सवाद की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ संशोधनवाद लोकतंत्रवादियों तथा उदारवादियों के एक वर्ग का उदय हुआ जिसने आगे चलकर लोकतांत्रिक समाजवाद या राज्य समाजवाद को जन्म दिया। लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा के छः प्रमुख स्रोत हैं, उनकी विवेचना निम्न प्रकार है -

(i) कार्ल मार्क्स का दर्शन

कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित कार्य प्रणाली एवम साधनों पर सभी समाजवादी विचारक समान रूप से विश्वास नहीं करते हैं और यही कारण है कि उसके दर्शन में समय-समय पर संशोधन होते ही रहे हैं, लेकिन इसके बावजूद भी मार्क्सवादी चिन्तन सभी समाजवादी विचारधाराओं का प्रेरणा स्रोत रहा है। मार्क्स के बाद लेनिन, स्टालिन तथा अन्य विद्वानों ने मार्क्सवाद में कुछ संशोधन करके ही साम्यवाद को विकसित करने का प्रयास किया। वर्नस्टीन द्वारा मार्क्सवाद में किये गये कुछ संशोधनों के परिणामस्वरूप विकासवादी समष्टिवाद को विकसित के लिये पर्याप्त वैचारिक पृष्ठभूमि मिली। मार्क्सवाद के मूल समाजवादी विचारों का प्रभाव समाजवादी विचारधारा में स्पष्ट दिखायी देता है।

(ii) फेवियनवादी विचारधारा का साहित्य

इंग्लैण्ड में 1884 में फेवियनवादी विचारधारा के समर्थकों ने अपने एक समुदाय का निर्माण करके बड़ी मात्रा में समाजवादी साहित्य का सृजन किया, जिसका उद्देश्य जन सामान्य को समाजवादी चिन्तन का ज्ञान प्रदान करना था। इस समुदाय द्वारा" विचारों का प्रचार भी बडी मात्रा में किया गया। इसके प्रमुख समर्थकों में जार्ज बर्नाड शॉ, एच जी. बेल्स ग्राहम वालास सिडनी देव एवं लास्की जैसे विचारक थे। यह सभी विचारक कार्लमार्क्स के वर्गसंघर्ष, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही एवम् क्रान्ति जैसे सिद्वान्तों से सहमत नहीं थे। लेकिन साथ साथ ये सभी विद्वान पूंजीवाद की समाप्ति गया सम्पत्ति के भौतिक साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध भी कर रहे थे।

फेवियनवादी साहित्य का मुख्य प्रभाव यह हुआ कि इंग्लैण्ड में मजदूर दल के रूप में समाजवादी दल का किकास हुआ, जिसका उद्देश्य राज्य की सत्ता को प्राप्त करके लोकतांत्रिक वैधानिक तरीकों से सुधार लाकर राज्य के माध्यम से व्यवस्था की स्थापना करना था। आगे चलकर यही विचारधारा लोकतांत्रिक समाजवादी के रूप में विकसित हुयी।

(iii) व्यक्तिवाद के विरुद्व प्रतिक्रिया

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा को प्रभावित करने वाला एक अन्य स्रोत 19 वीं शताब्दी का व्यक्तिवाद था। व्यक्तिवादी विचारधारा ने औद्यौगिक क्रांति के, आर्थिक क्षेत्र में (लेसेज फेयर) 'व्यक्ति को अकेला छोड दो' की नीति का विचार करके समाज में आर्थिक असमानता को जन्म दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक क्षेत्र में प्रतिबन्ध न के कारण धनी निर्धनों का शोषण करने लगे। ऐसी स्थिति में श्रमिकों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी तथा उनके पास अपना श्रम बेचने के अलावा कोई दूसरा उपाय नहीं रहा। जिसका यह निकला कि धनी लोग अधिक धनवान तथा निर्धन और अधिक निर्धन होते गये।

सम्पूर्ण समाज का विभाजन दो वर्गो में हो गया - पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग। ऐसी स्थिति में समाजवादी विचारकों ने इस दयनीय अवस्था का उत्तरदायित्व चिन्तन पर रखा तथा उसकी प्रतिक्रिया के रूप में एक सशक्त समाजवादी चिन्तन अस्तित्व में आया तथा 20वीं शताब्दी तक आते आते यह विचार काफी बलशाली हो गया कि आर्थिक साधनों के उत्पादन एवम् वितरण को किसी सार्वजनिक संस्था के हाथों में सौंपा जाना चाहिये।

इससे स्पष्ट है लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा के विकास में विभिन्न स्रोतों का योगदान रहा है।

16.4 लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रमुख तत्व

यदि व्युत्पति की दृष्टि से देखा जाये तो लोकतांत्रिक समाजवाद एक आर्थिक अवधारणा है लेकिन सिद्वान्त रूप में लोकतांत्रिक समाजवाद से अभिप्राय उस विचारधारा से है जो आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों ही मान्यताओं पर आधारित हो। इस विचारधारा का अर्थ भी बदलता रहा है। तथा इसकी व्याख्या एक राष्ट्र में किसी एक रूप में तो दूसरे राष्ट्र में दूसरे रूप में रही है। लेकिन इसके कुछ मूलभूत तत्व ऐसे हैं जो अधिकांश समय एक जैसे रहे हैं। जिनकी विवेचना निम्न बिन्दुओं में की जा रही है:-

(i) लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली में पूर्ण आस्था रखती है। इसमें स्वतंत्र प्रेस, स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव, स्वतंत्र भाषण, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता, कानून की प्रक्रिया एवं व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित रहते हैं। यह ऐसे शासन को स्वीकार नहीं करती जो कि हिंसा एवम् रक्तपात पर आधारित हो।

(ii) यह विचारधारा राज्य को जन सामान्य के कल्याण को प्राप्त कराने का महत्त्वपूर्ण साधन मानती है।

(iii) यह विचारधारा साम्यवाद से सर्वथा भिन्न राज्य को संक्रान्ति काल में एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार नहीं करती।

(iv) यह विचारधारा यह मानती है कि राज्य के दमनकारी यंत्र की आवश्यकता वर्गविहीन समाज में भी रहेगी।

(v) यह विचारधारा वर्गसंघर्ष की अवधारणा को स्वीकार तो करती है परन्तु साम्यवादियों की तरह उस पर अधिक बल नहीं देती।

(vi) कार्लमार्क्स एवं माओ की तरह लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा का कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं है।

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा के ये तत्व ऐसे रहे हैं जिन्हें सभी देशों और सभी कालों में समान रूप स्वीकारा गया है।

16.5 लोकतांत्रिक समाजवाद के मूल सिद्धान्त एवं विशेषताऐ

इंग्लैण्ड, अमेरिका एवं भारत के समाजवादी विचारकों द्वारा अपनी विचारधारा का प्रतिपादन जिस रुप में किया गया है, उसके आधार पर लोकतांत्रिक समाजवाद के जो प्रमुख सिद्धान्त एवं विशेषताऐं स्पष्ट की जा सकती हैं:-उनकी विवेचना निम्न प्रकार है:-

(i) समाज की सावयव प्रकृति में विश्वास

लोकतांत्रिक समाजवाद मूल रुप से व्यक्तिवाद का विरोधी है क्योंकि जहाँ एक ओर व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यक्ति स्वयं में पूर्ण इकाई है तथा समाज व्यक्तियों का समूह मात्र होता है वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक समाजवाद इस बात का विरोध करते हुये यह मानता है कि समाज अपनी प्रकृति से सावयवी (आंगिक) संस्था है। जिसका अभिप्राय यह है कि समाज एक शरीर है और व्यक्ति उसके अंग है।

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक समाज को एक शरीर तथा व्यक्ति छ उसका अंग बताकर इस बात पर बल देते हैं कि जिस प्रकार शरीर और उसके अंग एक दूसरे ०? आश्रित होते हैं, उसी तरह समाज व व्यक्ति भी एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। इसके अलावा ०' यह भी मान्यता है कि जिस प्रकार शरीर का क्रमिक विकास होता है उसी प्रकार समाज ' अवस्था में भी क्रमिक विकास एवं परिवर्तन होना चाहिए। जिसका अभिप्राय यह है कि सामाजिक भू में परिवर्तन के लिये क्रांति करना उचित नहीं माना जा सकता।

(ii) पूंजीवाद एवम् साम्यवाद का विरोधी

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों फंस का समान रुप से विरोध करती है। इस विचारधारा के अनुसार पूंजीवाद असमानता सामान्य जनता के शोषण पर आधारित है, इसलिये ऐसी व्यवस्था कभी भी सम्पूर्ण जनता के शोषण में नहीं हो सकती। इसके साथ ही साम्यवाद से भी उसका विरोध उतना ही आधारभूत है जितना कि पूंजीवाद से।

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा साम्यवाद का विरोध इसलिये करती है कि साम्यवाद धर्म और नैतिकता के विरोध पर टिका हुआ है, वर्ग संघर्ष एवं हिंसक क्रांति की धारणा में विश्वास करता है तथा इसके अन्तर्गत अधिनायकवाद (सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद) को अपनाया गया है। लोकतांत्रिक समाजवाद के अनुसार ये ऐसे विचार है जो कभी भी मानव जाति के हित में नहीं हो सकते इसलिये वह साम्यवाद को अपना प्रथम शत्रु मानते हुये उसकी निन्दा करता है लोकतांत्रिक समाजवाद पूंजीवाद और साम्यवाद इन दोनों का विरोध करते हुये आर्थिक और सामाजिक जीवन के क्षेत्र में एक नया मार्ग खोलने का कार्य करता है।

(iii) राज्य की अच्छाई में विश्वास

लोकतांत्रिक समाजवाद राज्य को सर्वोपरि स्थान प्रदान करता है ये समाज में किसी भी प्रकार की अराजकता नहीं चाहते। चूंकि राज्य व्यवस्था के अभाव में सामाजिक जीवन असुरक्षित हो जायेगा तथा चारों ओर अराजकता का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा इसलिये लोकतांत्रिक समाजवादी साम्यवादियों की तरह राज्य को समाप्त नहीं करना चाहते ' उसके स्वरुप में

परिवर्तन करना चाहते हैं। ये राज्य का उपयोग समाजवादी व्यवस्था की स्थापना तथा पूंजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के लिये करना चाहते हैं।

वास्तव में लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्तिवाद के इस विचार से असहमति रखता है कि "राज्य एक आवश्यक बुराई है।" यह राज्य की सर्वाधिक अच्छाई में विश्वास करते हैं। जहां एक ओर यह राज्य के कार्य क्षेत्र को विस्तृत करना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर इस बात की भी चिन्ता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को किसी प्रकार का आघात न पहुंचे। लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक सभी प्रकार के सुधार राज्य के माध्यम से ही करना चाहते हैं।

(iv) व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन

लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्ति के लिये राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही तरह की स्वतंत्रताओं का समर्थन करता है। इनकी मान्यता है कि राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना द्वारा जहां एक ओर व्यक्ति को राजनीतिक अधिकार एवं स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है तथा व्यक्ति की अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर इसे आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान की जा सकती है वहीं दूसरी ओर निर्धन वर्ग को रोजगार के अवसर देकर विभिन्न उद्योगों में न्यूनतम वेतन निर्धारित करके, वस्तुओं के मूल्यों पर नियंत्रण स्थापित करके, आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके उत्पादन एवं वितरण की प्रणाली का नियंत्रण करके तथा निर्धन वर्ग के लिये सस्ती आवासीय योजनाओं इत्यादि के माध्यम से व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता की रक्षा का प्रयास करते हैं।

(v) समानता पर आधारित

लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्ति की सामाजिक एवं राजनीतिक समानता के साथ ही आर्थिक समानता के सिद्धान्त का समर्थन करता है। इसका उद्देश्य एक खुले समाज एवं लोकतांत्रिक शासन प्रणाली द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक समानता की स्थापना चाहते हैं तथा विभिन्न आर्थिक सुधारों के माध्यम से आर्थिक समानता पर जोर देते हैं। लोकतांत्रिक समाजवादियों का आर्थिक समानता से अभिप्राय यह है कि व्यक्तियों के मध्य गम्भीर आर्थिक असमानता नहीं होनी चाहिये।

इनका यह मानना है कि व्यक्तियों के मध्य योग्यता एवं कार्य क्षमता का अन्तर होता है, इसलिये उनकी आय में भी हमेशा अन्तर रहेगा, लेकिन यह अन्तर बहुत अधिक नहीं होना चाहिये। इसके अलावा वे इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर मिलने चाहिये। इससे स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक समाजवाद समानता पर आधारित है।

(vi) राजनीतिक एवं आर्थिक लोकतंत्र का समर्थन

जहाँ एक ओर व्यक्तिवादी विचारक राजनीतिक लोकतंत्र का समर्थन करते हैं वहीं दूसरी ओर मार्क्सवादी विचारक आर्थिक लोकतंत्र का समर्थन करते हैं। वास्तव में यह दोनों विचारधाराऐं लोकतंत्र के इन दोनों रुपों को एक दूसरे का विरोधी मानती हैं, लेकिन लोकतांत्रिक समाजवादियों की यह मान्यता है कि राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही लोकतंत्र एक दूसरे के अनुपूरक हैं तथा इन दोनों की एक साथ स्थापना की जा सकती है। वास्तव में लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक प्रचलित राजनीतिक लोकतंत्र में इस प्रकार के सुधारों पर बल देते हैं कि व्यक्ति को राजनीतिक

समानता एवं स्वतंत्रता के साथ ही पर्याप्त मात्रा में आर्थिक समानता एवं स्वतंत्रता भी प्राप्त हो जाये।

रैक्ले मैकडोनाल्ड का मानना है कि व्यक्ति विवकेशील प्राणी है इसलिये उसने राजनीतिक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार की स्वतंत्रता की आवश्यकता है तथा वह इन्हें प्राप्त कर सकता है। लेकिन यह कार्य संसदीय राजनीति के माध्यम से सम्भव है। जब किसी लोकतांत्रिक समाजवादी दल को जनता के मतदान द्वारा संसद में बहुमत प्राप्त हो जायेगा तो ऐसा दल क्रमिक आर्थिक सुधारों की नीति द्वारा राजनीतिक लोकतंत्र के साथ आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना में सफल जायेगा।

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के नाम पर राजनीतिक सत्ता के केन्द्रीयकरण की समर्थक नहीं है क्योंकि इनकी मान्यता है कि सत्ता का इस प्रकार का केन्द्रीयकरण राजनीतिक लोकतंत्र का अन्त कर सकता है।

इसलिये वे सभी स्तरों पर राजनीतिक व आर्थिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण एवं उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

(vii) विकासवादी साधनों में पूर्ण आस्था

जहाँ एक ओर मार्क्सवादी समाजवाद वर्ग संघर्ष, खूनी क्रान्ति, सर्वहारावर्ग की तानाशाही एवं एक साम्यवादी दल जैसे साधनों द्वारा ही समाजवाद की स्थापना सम्भव मानता है वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक समाजवाद का संघर्ष, क्रान्ति एवं तानाशाही के साधनों में विश्वास नहीं है, वे केवल विकासवादी साधनों में विश्वास करते हैं। इनकी मान्यता है कि समाज अपनी प्रकृति से एक सावयवी संस्था है इसलिये एक सावयवी की भांति ही समाज का भी क्रमिक एवं स्वाभाविक स्वभाव होना चाहिये।

इनके अनुसार समाज विकासशील संस्था है इसलिये अतीत से उसका सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया जा सकता इसलिये ये चाहते हैं कि वैधानिक तरीकों से पूंजीवादी! व्यवस्था में धीरे-धीरे सुधार करके समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जानी चाहिये।

चूंकि समाजवाद बहुसंख्यक नागरिकों के हित की विचारधारा है इसलिये लोकतांत्रिक संसदीय पद्धति के माध्यम से ही उसकी स्थापना की जा सकती है। समाजवादी समाजवाद की स्थापना के लिये केवल उन्हीं वैधानिक साधनों को उचित हैं जिनके पीछे जनमत की शक्ति हो। इस तरह साधनों की दृष्टि से इन्हें विकासवादी कहा जा सकता है।

(viii) सर्वाधिकारवाद का विरोध

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा सर्वाधिकारवाद का घोर विरोध है जिसका मुख्य कारण यह है कि सर्वाधिकारवाद में मानवीय व्यक्तित्व, स्वतंत्रता एवं का कोई मूल्य नहीं होता। इसलिये लोकतांत्रिक समाजवाद सर्वाधिकारवाद का विरोध करते हुये समानता एवं मानवीय मूल्यों के प्रति विश्वास प्रकट करता है। यह आर्थिक लोकतंत्र का भी प्रबल समर्थक है जिसमें बडे-बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में है तथा इनसे होने आय का वितरण सम्पूर्ण समाज में करना चाहते हैं।

इसलिये लोकतांत्रिक समाजवाद पूंजीवाद का नाश करके की स्थापना करना चाहता है इसलिये इसे राष्ट्रीयकरण का पक्षधर कहा जाता है। यही कारण कि नॉर्मन थॉमस के विचारों में "समाजवाद लोकतंत्र की ही पूर्णस्थिति है।"

(ix) वर्ग सामंजस्य में पूर्ण आस्था

यद्यपि लोकतांत्रिक समाजवादी पूंजीपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग का स्वीकार करते हैं। लेकिन दोनों के हितों के मध्य संघर्ष को शाश्वत नहीं मानते क्योंकि हिंसात्मक वातावरण उत्पन्न होता है तथा औद्यौगिक क्षेत्र में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं हो पाती। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज अभावों की स्थिति में रह जाता है। यही है कि लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग के हितों के बीच सहयोग एवं सामंजस्य आवश्यक मानते हैं क्योंकि दोनों के मध्य एकता स्थापित होने पर ही समाज एवं व्यक्ति का विकास हो सकता

(x) उत्पादन में उपयोगिता -का समर्थन

लोकतांत्रिक समाजवाद उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि को आवश्यक मानता है लेकिन इसका ध्यान लाभ पर न होकर सामाजिक उपयोगिता पर केन्द्रित है। इसका उद्देश्य जानता को अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करना तथा उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिये आर्थिक उत्पादन की योजनाओं का क्रियान्वयन करना है। इससे स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक समाजवाद का आधार उत्पादन में लाभ नहीं बल्कि समाज में उसकी उपयोगिता है। साथ ही उत्पादित सम्पत्ति और साधनों का वितरण करने वाले व्यक्तियों की योग्यता तथा उनकी कार्य क्षमता और कार्य की प्रकृति को ध्यान में रखते हुये किया जायेगा।

(xi) सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल

यह विचारधारा इस मान्यता पर आधारित है कि सत्ता का केन्द्रीयकरण न होकर उसका विकेन्द्रीकरण होना चाहिये तथा स्थानीय संस्थाओं की स्थापना द्वारा उन्हें अधिक से अधिक शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहिये। सार्वजनिक हित के लिये छोटी-छोटी इकाइयाँ स्थापित की जायें जिससे कि जनकल्याण एवं लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास हो सके।

(xii) साम्राज्यवाद विरोधी एवं विश्वशान्ति का पोषक

मार्क्सवादी समाजवाद अथवा साम्यवाद साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की चरम अवस्था मानता है तथा इसे शान्तिपूर्वक समाप्त करना चाहता है। किन्तु लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक साम्यवादियों के तर्को से सहमत नहीं हैं।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जब विश्व में साम्राज्यवाद शक्तिशाली रुप में जीवित था उस समय इंग्लैण्ड के लोकतांत्रिक समाजवादियों का यह मानना था कि साम्राज्यवाद में सुधार किया जाना आवश्यक है। वे साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले पराधीन देशों को ऑपनिवेशिक स्वराज देने के पक्ष में थे इसलिये द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उन्होंने साम्राज्य के राष्ट्रमण्डल में परिवर्तित करने की बात पर बल दिया। उनका यह मानना था कि राष्ट्रमण्डल की व्यवस्था साम्राज्य के पिछडे हुये देशों की आर्थिक स्थिति को सुधारने में सहायक होगी।

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारक आरम्भ से ही विश्व शान्ति के समर्थक रहे हैं इसीलिये उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का समर्थन करते हुये विभिन्न

व्यवस्थाओं वाले राज्यों के बीच शान्ति एवं सद्भाव पर बल दिया गया है। उनका यह मानना था कि राज्यों के मध्य संघर्ष नहीं बल्कि पारस्परिक सहयोग एवं स होना चाहिये।

(xiii) राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण पर आधारित

लोकतांत्रिक समाजवाद राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण पर अधिक बल देता है। राष्ट्रीयकरण का अभिप्राय तो उद्योगों पर सार्वजनिक स्वामित्व से है, लेकिन समाजीकरण का अभिप्राय यह है कि कोई उद्योग चाहे वह सार्वजनिक क्षेत्र में हो अथवा निजी क्षेत्र में, उन पर नियंत्रण की व्यवस्था राज्य के निर्देशानुसार होनी चाहिये तथा उनका संचालन लाभ प्राप्ति -के- उद्देश्य से न होकर सामाजिक हित की दृष्टि से होना चाहिये। इसलिये स्वामित्व भले ही किन्हीं हाथों में हो, संचालन सामाजिक हित और सामाजिक कल्याण को ध्यान में रखते हुये किया जाना चाहिये।

बोध प्रश्न 2

1. लोकतांत्रिक समाजवाद की दो विशेषतायें बताइये?

उत्तर: .....

.....

16.6 लोकतांत्रिक समाजवाद का मूल्यांकन

16.6.1 लोकतांत्रिक समाजवाद के गुण

लोकतांत्रिक समाजवाद की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, उनके आधार पर लोकतांत्रिक समाजवाद में जो गुण पाये जाते हैं, उनको विवेचना निम्न प्रकार है : -

(i) लोकतंत्र और समाजवाद का समन्वय

लोकतांत्रिक समाजवाद में समाजवाद और लोकतंत्र दोनों के तो का समुचित समन्वय पाया जाता है। यह समाजवाद के रुप में सभी के हित एवं लाभ की बात करता है। यह लोकतंत्र के मूल्यों के अनुरूप व्यक्ति के विचार, भाषण एवं संगठन की स्वतंत्रता आवश्यक मानता है। इसीलिये यह राज्य शक्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अच्छा समन्वय है।

(ii) व्यक्तिवाद के दोषों का अन्त करने वाला

व्यक्तिवादी विचारधारा में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से अनेक दोष पाये जाते हैं तथा लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा इन दोषों का विरोध करती है। क्योंकि जहां एक ओर व्यक्तिवाद व्यक्ति को स्वार्थी, समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र एवं राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है।

वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्तिवाद के दोषों का करते हुये व्यक्ति को ऐसा प्राणी मानता है जो कि स्वभाव से सामाजिक है एवं उसमें पारस्परिक की प्रवृति पायी जाती है। यह विचारधारा समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र नहीं बल्कि समाज में ऐसी आंगिक एकता मानता है जो समाज को एक व्यक्तित्व प्रदान करती है। यह राज्य को ऐसी

महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी संस्था मानता है जिसके माध्यम से सम्पूर्ण समाज का किया जा सकता है।

इस प्रकार लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्तिवाद के दोषों का अन्त एक नयी व्यवस्था प्रदान करता है, जो अधिक से अधिक जन कल्याण पर आधारित है।

(iii) समाजवाद के अन्य रुपों की तुलना में श्रेष्ठ सिद्धान्त

समाजवाद के अन्य रुपों में सामान्य रुप से धर्म और नैतिकता के को अस्वीकार करते हुये उनका विरोध किया गया है, लेकिन लोकतांत्रिक समाजवाद मानवीय को व्यवस्थित रखने में धर्म और नैतिकता के महत्व को स्वीकार करता है और यह सभी धर्मो के मानव धर्म पर आधारित है। लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा मानव चरित्र के -उत्थान में सहायता करती है।

(iv) यथार्थवादी दर्शन

चूंकि लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा यथार्थ पर आधारित है यह राष्ट्रीयकरण की कमियों से परिचित है तथा पिछले 20 वर्षो में उसने यह स्वीकार कर है कि राष्ट्रीयकरण जीवन की सभी बुराइयों का हल नहीं है। इसीलिये वर्तमान समय में लोकतांत्रिक समाजवाद के द्वारा राष्ट्रीयकरण के स्थान पर समाजीकरण को महत्व दिया जाने लगा है।

(v) संघर्ष के स्थान पर सहयोग पर बल

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा समाज का आधार एवं संघर्ष को नहीं मानता बल्कि उसका मानना है कि समाज में एक आंगिक एकता है। इसलिये व्यक्तियों के बीच हितों की एकता होती है। इसलिये व्यक्तियों के मध्य स्वाभाविक स्थिति संघर्ष प्रतियोगिता न होकर सहयोग है। इसलिये जहां एक ओर यह राष्ट्रीय स्तर पर वर्ग संघर्ष का करता है वहीं दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रों के मध्य युद्ध एवं संघर्ष के स्थान पर सहयोग, एवं सद्भाव पर बल देता है।

(vi) समाज के न्यायपूर्ण ढांचे पर आधारित

चूंकि लोकतांत्रिक समाजवाद सम्पूर्ण समाज के हित पर बल देता इसलिये यह आर्थिक दृष्टि से कमजोर तथा असुरक्षित वर्गो के कल्याण पर विशेष बल देता है। समाज के कमजोर वर्गो में शक्ति आती है, वर्ग संघर्ष की भावना खत्म होती है तथा वे हित के कार्यो में अधिक रुचि लेने लगते हैं। जिससे समाज में सहयोग एवं भाई चारे की बढती है। इस तरह लोकतांत्रिक समाजवाद सम्पूर्ण समाज के हितों की रक्षा करके समाज को आधार प्रदान करता है।

(vii) वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना

लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्ति की राजनीतिक समानता एवं स्वतंत्रता के साथ साथ आर्थिक समानता एवं स्वतंत्रता को भी महत्त्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार के लोकतंत्र में व्यक्तियों के मध्य वर्ग संघर्ष नहीं होता अपितु उनके मध्य भाई चारे की भावना होती है। जिसका कारण यह है कि लोकतांत्रिक समाजवाद में सभी को न्यायपूर्ण राजनीतिक एवं आर्थिक समानता व स्वतंत्रता प्राप्त होती है। इस तरह लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्तिवादी विचारकों की राजनीतिक लोकतंत्र की धारणा को आर्थिक आधार प्रदान करके उसे एक वास्तविक लोकतंत्र में परिवर्तित कर देता है।

(viii) आर्थिक साधनों का कुशलता के साथ प्रयोग

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिये राष्ट्रीय योजनायें बनाता है। जिससे संतुलित आर्थिक विकास होता है, विकास की गति भी ठीक रहती है तथा राष्ट्र के साधनों का कुशलता पूर्वक उपयोग होता है। उद्योगों की राष्ट्रीयकरण की नीति के कारण उद्योगों के मध्य प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग का महत्व बढ जाता है और विज्ञापनों पर अधिक धन व्यय नहीं होता, इसलिये वस्तुओं के मूल्य कम रहते हैं। इन उद्योगों के माध्यम से प्राप्त होने वाले लाभ को समाज के कल्याण के लिये व्यय किया जाता है। इस विचारधारा के अन्तर्गत श्रमिकों के हित सुरक्षित रहते हैं, इसलिये औद्यौगिक शान्ति भी बनी रहती है। अत : यह कहना उचित है कि लोकतांत्रिक समाजवाद के अन्तर्गत आर्थिक साधनों का कुशलता से प्रयोग किया जाता है।

(ix) राज्य के सन्दर्भ में सन्तुलित धारणा

साम्यवादियों, आदर्शवादियों एवं व्यक्तिवादियों की तुलना में लोकतांत्रिक समाजवादी विचारकों का राज्य के सन्दर्भ में सन्तुलित एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण हैं। राज्य को न तो एक वर्गीय संस्था मानते हैं, न उसे एक पूर्ण नैतिक संस्था और न ही उसे एक आवश्यक बुराई के रुप में मानते हैं, बल्कि वे राज्य को एक ऐसी भौतिक संस्था के रुप में स्वीकार करते हैं जिसका प्रयोग सम्पूर्ण समाज के सामान्य राजनीतिक एवं आर्थिक हितों के लिये किया जा सकता है। ये राज्य के इस प्रकार के स्वरूप को मान्यता प्रदान करते हैं जो कि संगठन की दृष्टि से लोकतांत्रिक एवं नीतियों की दृष्टि से जन कल्याण पर आधारित हो।

(x) वैधानिक एवं शान्तिपूर्ण साधनों पर बल

लोकतांत्रिक समाजवाद एक स्वस्थ समाज के निर्माण हेतु क्रान्तिकारी साधनों में विश्वास नहीं करके वैधानिक साधनों को आवश्यक मानता है। यह विचार धारा धीरे धीरे परिवर्तन में विश्वास करती है। ये रक्तपात, हिंसा का पूर्णरुपेण निषेध करके विश्व शान्ति और मानवता का दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

बोध प्रश्न-3

1. लोकतांत्रिक समाजवाद के दो प्रमुख गुण बताइये।

उत्तर: .....

.....

16.6.2 लोकतांत्रिक समाजवाद के दोष

जहाँ एक ओर लोकतांत्रिक समाजवाद को सर्वाधिक उपयोगी एवं व्यावहारिक विचारधारा माना जाता है वहीं दूसरी ओर इसके आलोचक भी कम नहीं है। साम्यवादी एवं व्यक्तिवादी दोनों ही विचारधाराओं के समर्थक विद्वानों द्वारा निम्नलिखित आधारों पर इसकी आलोचनाये की गयी है:-

(i) संकीर्ण -दृष्टिकोण

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा व्यक्ति एवं समाज की समस्या पर प्रमुख रुप से आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करता है तथा जीवन के अन्य पक्षों के प्रति उदासीन रहता है।

वास्तव में यह श्रमिक वर्ग का दर्शन है इसलिये यह स्वयं को प्रमुख रुप से श्रमिकों की समस्याओ तक सीमित रखता है।

इसी आधार पर आलोचक यह मानते हे कि आर्थिक समस्यायें जीवन एक अंग मात्र है तथा सम्पूर्ण जीवन अपने आप में बहुत विस्तृत है। सामान्य रुप से व्यक्ति रोटी कपडा और मकान की समस्या हल होने के बाद एक सुन्दर जीवन भी व्यतीत करना चाहता है, लेकिन समाजवादी दर्शन में इसकी उपेक्षा की गयी है। इस प्रकार यह एक संकीर्ण दृष्टिकोंण है।

(ii) राज्य का अत्यधिक हस्तक्षेप उचित नहीं

लोकतांत्रिक समाजवाद के आलोचक यह मानते हैं कि इसके अंतर्गत राज्य की सत्ता अत्यधिक व्यापक हो जाती है क्योंकि इसके अन्तर्गत राज्य का कार्यक्षेत्र दस विस्तृत हो जाता है। यह मानते हैं कि जब राज्य को अधिक से अधिक कार्य सौपे जायेंगे तथा और वितरण के सभी साधनों पर राज्य का कठोर नियंत्रण होगा तो मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन पर राज्य की सत्ता हावी हो जायेगी तथा व्यक्ति का जीवन राज्य के पूर्ण नियंत्रण में हो जायेगा। इसीलिए लोकतांत्रिक समाजवादो राज्य में नौकरशाही शक्तिशाली होगी जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन में भ्रष्टाचार और षड्यंत्र होने लगेंगे तथा प्रशासन तंत्र पर अत्यधिक कार्यभार होने के कारण वह स्वयं भी टूटने की स्थिति में आ जायेगा। ऐसी स्थिति निश्चित रुप से किसी भी समाज के लिये छ नहीं मानी (ना सकती।

(iii) व्यक्तिगत स्वतंत्रता की विरोधी विचारधारा

आलोचक लोकतांत्रिक समाजवाद को व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रबल मानते हैं क्योंकि यह राज्य के कठोर नियंत्रण की व्यवस्था करके व्यक्तिगत स्वतंत्रता का लगभग कर देती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति राज्य का यंत्र मात्र बनकर रह जाता है। इसी आधार पर प्रसिद्ध विचारक हिलारे-बेलॉक कहते हैं कि " व्यक्ति राज्य का दास हो जायेगा और लोकतांत्रिक समाजवाद एक गुलाम राज्य की नींव डालेगा। "

(iv) शासक दल द्वारा सत्ता का दुरुपयोग

लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था में शासक दल सामान्य रुप से जन के हितों की अधिक उपेक्षा करता है। चूंकि सत्ता में बने रहने के लिये वह एकाधिकार की का विकास करता है इसलिये जनसमर्थन प्राप्त करने के लिये वह भ्रष्ट एवं अनैतिक साधनों प्रयोग करता है, जिससे सार्वजनिक हितों के स्थान पर व्यक्तिगत हितों की ही सुरक्षा हो पाती, जो कि एक संकटपूर्ण स्थिति का परिचायक है।

(v) यह एक विरोधाभासयुक्त दर्शन है

लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा विरोधाभासी भी है। जिसे ई० एम० ने अपनी पुस्तक आइडियाज इन कनपिल्क्ट में विस्तार से उल्लेख किया है। बर्न्स का कहना है कि लोकतंत्र और समाजवाद इन दोनों में परस्पर विरोध है तथा दोनों में से एक) को ही अपनाया जा सकता है, क्योंकि लोकतंत्र जहाँ स्वतंत्रता में विश्वास करता है वहीं समाजवाद नियंत्रण की व्यवस्था में। लोकतंत्र और समाजवाद के परस्पर विरोध के कारण लोकतांत्रिक समाजवादियों की विचारधारा में विरोधाभास है।

प्रसिद्ध विचारक डार्विन का कहना है कि लोकतंत्र में विरोधियों के प्रति सहनशील होना चाहिये तथा उन्हें स्वतंत्र भाषण एवं संगठन बनाने का अधिकार होना चाहिये, लेकिन इसके साथ ही वे लोकतांत्रिक समाज में साम्यवादियों और फासीवादियों को पूरी तरह स्वतंत्रता देने में घबराते हैं। इसी आधार पर डार्विन ने लिखा है कि "लोकतंत्र में शत्रुओं को इस बात का कोई नैतिक अधिकार नहीं है कि वे अपने प्रति लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के पालन की मांग करें और एक ऐसा समय आ सकता है जबकि हमें अपनी रक्षा के लिये उनके (लोकतंत्र के शत्रुओं) राजनीतिक संगठनों का दमन करना पड़े।"

(vi) नैतिक दृष्टि से अनुचित

लोकतांत्रिक समाजवाद के आलोचकों का यह मानना है कि यह सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से अनुचित है। यह सिद्धान्त समानता की धारणा पर आधारित है लेकिन प्रकृति की दृष्टि से सभी मनुष्य एक समान नहीं होते बल्कि उनके मध्य शारीरिक शक्ति, बुद्धि एवं चरित्रबल का अन्तर पाया जाता है। ऐसी स्थिति में जिन लोगों ने अपनी योग्यता एवं परिश्रम के बल पर दूसरे व्यक्तियों से अधिक सम्पत्ति अर्जित की है, उन्हें अपनी इच्छा के अनुसार सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिये लेकिन लोकतांत्रिक समाजवाद परिश्रमी व्यक्तियों की सम्पत्ति को आलसी एवं अकर्मण्य व्यक्तियों में बांटना चाहता है जिसे नैतिकता की. दृष्टि से किसी भी रुप में उचित नहीं माना जा सकता।

(vii) इसमें शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है

लोकतांत्रिक. समाजवाद की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि इस व्यवस्था में राज्य राजनीतिक कार्यो के साथ ही साथ अनेक प्रकार के आर्थिक कार्यो को भी करता है। राज्य के कार्यो में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण सत्ता का केन्द्रीयकरण हो जाता है, जो एक प्रकार के सत्तावाद को जन्म देता है। जिससे लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था में स्वयं लोकतंत्र की स्थिति कमजोर होने लगती है इसलिये इस सिद्धान्त को उचित नहीं माना जा सकता।

(viii) नौकरशाही का बोलबाला

आलोचक यह मानते हैं कि लोकतांत्रिक समाजवाद में राज्य के कार्यो में निरन्तर वृद्धि होती है तथा राज्य इन कार्यो को करने के लिये बड़ी संख्या में कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। जैसे जैसे राज्य के कार्यो में वृद्धि होती है, वैसे वैसे ही राज कर्मचारियों की संख्या तथा शक्ति में भी वृद्धि होती है। इस तरह लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था नौकरशाही का रुप ग्रहण कर लेती है। नौकरशाह कार्यो में अनावश्यक देरी लगाते हैं, भ्रष्टाचार फैलाते हैं तथा शासन में भाई भतीजावाद का बोलबाला हो जाता है। जिससे समस्त प्रशासन लालफीताशाही के शिकंजे में आ जाता है, जो आगे चलकर जनता में असन्तोष फैलाता है।

(ix) उत्पादन में कमी तथा उद्योगों में शिथिलता

लोकतांत्रिक समाजवाद के आलोचक यह मानते हैं कि इस व्यवस्था में उत्पादन में वृद्धि के लिये स्वस्थ प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा शक्ति का अभाव रहता है। इसलिये कोई भी व्यक्ति इच्छा शक्ति और लगन से कार्य नहीं करता है। जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि उत्पादन क्षमता घट जाती है तथा अच्छे उद्योगों में शिथिलता आने लग जाती है जिसे राष्ट्रहित के अनुकूल नहीं माना जा सकता।

(x) उपभोक्ताओं के लिये कष्टपूर्ण

आलोचक यह मानते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन कार्य उपभोक्ताओं की इच्छाओं और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है, परन्तु लोकतांत्रिक समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन पर राज्य का अधिकार स्थापित हो जाने से उपभोग़ की सम्प्रभुता समाप्त हो जायेगी, जिससे उपभोक्ता को अपनी सभी आवश्यकतायें जो सामान उत्पादित हो चुका है, उसी के अनुसार पूरी करनी होगी। इसलिये उन्हें कष्टपूर्ण स्थिति का सामना करना पडेगा।

बोध प्रश्न-4

1. लोकतांत्रिक समाजवाद के दो प्रमुख दोष बताइये।

उत्तर: ……...

……...

16.7 सारांश

यद्यपि लोकतांत्रिक समाजवादी सिद्धान्त की अनेक विद्वानों द्वारा विभिन्न आधारों पर आलोचनायें की गयी हैं, लेकिन इस सिद्धान्त की अधिकांश आलोचनायें है। इन तमाम आलोचनाओं के बावजूद लोकतांत्रिक समाजवाद के समर्थन में अनेक बातें कही जा सकती हैं। वास्तव में ये सिद्धान्त संसदीय पद्धति के माध्यम से एक ऐसी व्यवस्था की करना चाहता है जो कि व्यक्तिगत लाभ, आर्थिक शोषण एवं शक्तियों के दुरुपयोग जैसी बुराइयों से मुक्त हो।

मूल रुप से लोकतांत्रिक समाजवाद व्यक्तिवाद की विरोधी। है। जहाँ एक ओर व्यक्तिवादी विचारधारा व्यक्ति को महत्व प्रदान करती है वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक समाजवाद समाज को महत्व प्रदान करता है। लोकतांत्रिक समाजवादी यह चाहते हैं कि राज्य सत्ता का उपयोग सार्वजनिक हितों की वृद्धि के लिये किया जाय इसलिये वह राज्य कार्यो में वृद्धि का समर्थन करता है। लेकिन राज्य के कार्यो के विस्तार के नाम पर वह राज्य निरंकुश नहीं बनाता क्योंकि लोकतांत्रिक समाजवाद मूलरुप से लोकतांत्रिक शासन का समर्थन करता है।

यही इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्र हुये अनेक अविकसित राज्यों ने लोकतांत्रिक समाजवाद की नीतियों एवं कार्यक्रमों को अपने योजनाबद्ध एवं सन्तुलित आर्थिक विकास के लिये अपनाया है। वस्तुत: लोकतांत्रिक समाजवाद आधुनिक युग की एक प्रभावशाली एवं सशक्त विचारधारा है। क्योंकि जहाँ एक ओर श्रम संघवाद एवं अराजकतावाद जैसी समाजवादी विचारधारायें व्यवहार में असफल रही हैं तथा अनेक देशों में साम्यवादी व्यवस्था का अन्त हो गया है वहीं दूसरी लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा का महा?च वर्तमान में भी है। लोकतांत्रिक समाजवाद पूँजीवाद तथा साम्यवाद जैसी अतिवादी एवं परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच एक ऐसा रास्ता प्रशस्त करता है जो कि इन दोनों विचारधाराओं के दोषों रो तो मुक्त हो लेकिन इन दोनों के गुणों से युका हो। यही कारण है कि समाजवाद की सभी विचारधाराओं में इसे सबसे अधिक व्यावहारिक विचारधारा माना जाता है।

यह हिंसा के स्थान पर शान्ति, संघर्ष के स्थान पर सहयोग एवं भाई चारे पर बल देती है। इसलिये इस विचारधारा का आज भी विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान बना हुआ है।

बोध प्रश्न-5

1. किस देश ने सर्वप्रथम लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा को ग्रहण किया।

उत्तर. …….

…….

16.8 अभ्यास प्रश्न

1. लोकतांत्रिक समाजवाद से आपका क्या अभिप्राय है? इसके प्रमुख सिद्वान्तों को स्पष्ट कीजिये।
2. लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रमुख सिद्वान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये।
3. लोकतांत्रिक समाजवाद के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिये।
4. "लोकतांत्रिक समाजवाद में लोकतंत्र और समाजवाद दोनों के गुणों का समावेश है" व्याख्या कीजिये।
5. लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा के विकास का वर्णन कीजिये।

16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विलियम, एवेन्सटीन – मॉर्डन पॉलिटीकल थॉट
2. डार्विन, ईवन – दि पॉलिटिक्स आफ डेमोक्रेटिक सोशियेलिज्म
3. एप्टर डेविड ए. – इंट्रोडक्शन टु पोलिटिकल एनालिसिस, प्रेन्टिस हॉल, नई दिल्ली, 1978
4. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइन्स, – फर्स्ट वोल्यूम दू थर्ड एण्ड फोर्थ, मैकमिलन, न्यूयार्क 1968

ISBN - 13/978-81-8496-088-4